

128

संगीत पं समाज 'एस्'

ऋत्यवतो शर्मा



७८०.०७

सत्य सं

पंगोत का समाजशास्त्र

पंगोत का समाजशास्त्र
के सौजन्य से

डॉ. सत्यवती शर्मा

एम.ए., पी-एच.डी.

पंचगील प्रकाशन, जयपुर

© सत्यवती शर्मा

ISBN 81-7056-111-6

प्रकाशक

पंचशील प्रकाशन

फिल्म कॉलोनी, जयपुर-302003

प्रथम संस्करण

1995

आवरण

सत्यसेवक मुकर्जी

मूल्य

दो सौ रुपये

शब्द संयोजक

श्रीजा कम्प्यूटर्स

जयपुर-302003

मुद्रक

आराधना ऑफसेट

जयपुर-302003

SANGEET KA SAMAJSHASTRA

by Dr. Satyavati Sharma

Price

Rs. 200

भूमिका

प्रत्येक ज्ञान का उदय एवं विकास प्रारम्भ में सामान्य ज्ञान के रूप में होता है लेकिन अध्ययन की गहनता एवं विभिन्न खोजों के फलस्वरूप उसकी अनेक शाखाएँ पृथक् ज्ञान के रूप में विकसित होती हैं। संगीत के क्षेत्र में भी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है तथा उनका पृथक् अध्ययन-क्षेत्र विकसित हो गया है जैसे, संगीत का मनोविज्ञान, संगीत का दर्शन, संगीत का सौन्दर्यशास्त्र आदि। अतः आधुनिक युग में संगीत का अध्ययन न केवल सांगीतिक दृष्टि से अपितु दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक व सौन्दर्यात्मक दृष्टियों से भी किया जाता है। संगीत का समाज से परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण संगीत की समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन एवं विश्लेषण की विचारधारा भी सामने आयी है, तदपि इस क्षेत्र में अभी तक उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ है। इसके दो मुख्य कारण नजर आते हैं पहला, समाजशास्त्र की दृष्टि और पद्धति से अपरिचय; दूसरा, संगीत की दुनिया से समाजशास्त्रियों की उदासीनता। इसलिए संगीत और समाजशास्त्र के बीच जीवंत सम्बन्ध के अभाव के कारण संगीत के समाजशास्त्र का विकास नहीं हो पाया है।

संगीत के व्यापक क्षेत्र को देखने पर ज्ञात होता है कि संगीत एवं समाज का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। हर काल में संगीत ने समाज को प्रभावित किया है तथा समाज से संगीत प्रभावित रहा है। काल प्रवाह में जैसे समाज-जीवन में स्थित्यंतर आये वैसे संगीत के स्वरूप में, संगीत-शिक्षा की पद्धतियों में, संगीत प्रस्तुत करने की रीतियों में कई परिवर्तन आये हैं। अतः संगीत को समझने के लिए संगीत-शास्त्र के बाहर जाना जरूरी हो गया है। इसलिए समाजशास्त्र की मदद से संगीत को समझने का प्रयत्न किया गया है।

संगीत का समाजशास्त्रीय चिन्तन आधुनिक समाज में संगीत की सत्ता और सार्थकता की पहचान के बौद्धिक प्रयत्न की देन है। संगीत का समाजशास्त्र आधुनिक समाज में संगीत की वास्तविक स्थिति और भूमिका को यथार्थवादी ढंग से समझने का प्रयत्न करेगा। आज के जमाने में संगीत की दुनिया केवल कला और सौन्दर्य की साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है। जब से संगीत की दुनिया में कलाकारों और श्रोताओं के बीच संगीत-बाजार आ गया है, तब से समाज में कला और संगीत की स्थिति बहुत बदल गई है। इस स्थिति में संगीत के समाजशास्त्र को संगीत में लाने, उसकी विभिन्न दृष्टियों और

आलोचनात्मक उपलब्धियों से संगीत-पाठकों को परिचित कराने और उस पर चर्चा करने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक लिखी गई है।

किसी भी अनुसन्धानात्मक कार्य के माध्यम से निकाले गये निष्कर्ष सर्वोपरि ही हैं, यह कहना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता। अतः प्राप्त मतों का सूक्ष्म निरीक्षण व विश्लेषण करने के उपरान्त ही कुछ तत्त्वों व विचारणीय केन्द्रों को पुस्तक में प्रकाशित किया गया है परन्तु इन्हें सर्वोच्च मान लेना उचित नहीं है। नये तथ्यों, नये विचारों, नई मान्यताओं की सम्भावना सदा जनी रहती है व बनी ही रहनी चाहिए तभी संगीत-विषय को और अधिक सुव्यवस्थित किया जा सकता है।

संगीत-जगत् में मैं अपने इस नवीन विचार को पुस्तक रूप में प्रस्तुत कर सकी, इसे माता-पिता का आशीष, गुरुजन की दीक्षा, परिवार का सहयोग और साथियों का सद्भाव मानती हूँ तथा सबके प्रति सहज भाव से कृतज्ञ हूँ।

अन्त में, मैं प्रकाशक श्री मूलचन्दजी गुप्ता की भी विशेष आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की है।

—सत्यवती शर्मा

विषय-सूची

	पृष्ठ
1. समाज की अवधारणा	1
2. समाजशास्त्र की प्रकृति एवं परिप्रेक्ष्य	13
3. संगीत का समाजशास्त्र	26
4. संगीत-समाजशास्त्र के मुख्य पक्ष	34
5. समाज और संगीत	55
6. परम्परा और संगीत	74
7. संस्था और संगीत	86
8. सामाजिक परिवर्तन और भारतीय संगीत	95
9. संगीत-शिक्षा का समाजशास्त्र	108
10. भारतीय गायन-शैलियों का समाजशास्त्र	125
11. लोक-संगीत का समाजशास्त्र	131
12. लोकप्रिय संगीत का समाजशास्त्र	146
13. मध्यकालीन भक्ति-संगीत का समाजशास्त्र	158
14. संगीत का समाजशास्त्रीय महत्त्व	170

समाज की अवधारणा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए संगीत भी मनुष्य से जुड़ा होने के कारण समाज में अपना विशेष स्थान रखता है। मनुष्य सृष्टि के अंगभूत तत्त्व के रूप में सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ। यही कारण है कि जन्म-मरण की परिधि में बँधा मनुष्य सृष्टि से ही संस्कार बटोरकर उत्पन्न हुआ। उसने आँखों से देखा, कानों से सुना तथा इन्द्रियों से अनुभव किया और उसमें संस्कार बन गये। इसी कारण मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी (Thinking animal) बना और फिर वाचक प्राणी (Talkative animal) बना और इन्हीं दो कारणों से वह सामाजिक प्राणी (Social animal) बना।

कलायें मनुष्य की जन्मजात सहचरी हैं, इसी कारण संगीत समाज सापेक्षता (Social relativity) की कला बन गया।

यह सर्वविदित है कि समाज व संगीत का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत के व्यापक क्षेत्र को देखने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक काल में संगीत ने समाज को प्रभावित किया है या समाज से संगीत प्रभावित रहा है। संगीत का अपना एक अनूठा स्वरूप है जो समाज को प्रभावित करने में सक्षम है।

अब यहाँ संगीत-विद्यार्थियों या जिज्ञासुओं के मध्य ये प्रश्न उठ सकते हैं कि समाज क्या है ? समाजशास्त्र क्या है ? तथा समाजशास्त्र के विभिन्न अवयव क्या हैं ? जो कि समाजशास्त्र विषय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक हैं।

अतः संगीत के समाजशास्त्र को समझने के लिए हमें समाजशास्त्र का अध्ययन समाजशास्त्र के विद्यार्थियों की भाँति करना नितान्त आवश्यक है। सर्वप्रथम, समाज क्या है, इस पर हम विचार करेंगे।

1. समाज क्या है ?

मानव जाति सदा से अपने को अनुपम प्राणी समझती रही है। इसका मुख्य कारण है, उसकी संस्कृति। केवल मनुष्य में ही संस्कृति पाई जाती है। संस्कृति के अभाव में मनुष्य पशु-मात्र है। अतः हम कह सकते हैं कि संस्कृति से प्रभावित सम्बन्धों की जो व्यवस्था है वही मानव समाज के निर्माण का, उसकी उत्पत्ति का कारक है; इसी समाज का अध्ययन हम समाजशास्त्र में करते हैं।

हम यह सरलता से कल्पना कर सकते हैं कि मानव जीवन आरम्भ में अत्यधिक अनियन्त्रित, असहयोगपूर्ण और कलहपूर्ण रहा होगा। इस जीवन के कष्टों को कम करने अथवा समाप्त करने के लिए लोग धीरे-धीरे एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने लगे, उन्हें पारस्परिक सम्पर्क के महत्व का ज्ञान हुआ। उनके बीच अन्तःक्रियाओं (Interactions) का प्रसार हुआ। कालान्तर में उनके बीच सामाजिक सम्बन्धों का काफी विकास हो गया, सामाजिक सम्बन्ध काफी व्यवस्थित हो चले और इसी व्यवस्था से उस मानव-समाज का प्रादुर्भाव हुआ जो समाजशास्त्र में हमारे अध्ययन की विषय-वस्तु है।

साधारण बोलचाल में 'समाज' शब्द का नित्य ही प्रयोग होता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज 'सामाजिक सम्बन्धों' का जाल या ताना-बाना है। सामाजिक सम्बन्धों की अमूर्त व्यवस्था है। यह वह व्यवस्था है कि जिसमें संगठित और विघटित सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध सम्मिलित हैं। एक व्यक्ति किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का पति तो किसी का भाई भी होता है। यदि परिवार को लें तो व्यक्तियों का परिवार से और एक परिवार का अन्य परिवारों से सामाजिक सम्बन्ध पाया जाता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अकेला मनुष्य स्वयं नहीं कर पाता, अतः दूसरों के साथ सहयोग करता है, उनके साथ मिल-जुलकर काम करता है। इससे लोगों में सामाजिक सम्बन्ध पनपते हैं। अभिप्राय यह है कि व्यक्ति तो एक होता है, पर उसके जीवन में पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक सम्बन्धों का जाल-सा बिछ जाता है। इसके फलस्वरूप विभिन्न सम्बन्धों की एक सन्तुलित व्यवस्था इस तरह स्थापित हो जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक प्राणी के रूप में अपनी-अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता है। हम विभिन्न सम्बन्धों की इस सन्तुलित व्यवस्था को ही 'समाज' की संज्ञा देते हैं। इन्हीं सम्बन्धों के फलस्वरूप व्यक्ति को समाज में विभिन्न स्थिति (Status) प्राप्त होती है और तदनुसार उसे विभिन्न भूमिकाएँ (Role) अर्थात् क्रियाएँ और व्यवहार करने पड़ते हैं। अतः जब हम समाज को सम्बन्धों का जाल कहते हैं तो इसके अन्तर्गत हम उन क्रियाओं अथवा व्यवहारों को भी सम्मिलित कर लेते हैं जो कि उन व्यक्तियों को करने पड़ते हैं जो कि उन सम्बन्धों के वाहक होते हैं।

समाज की पारिभाषिक विवेचना विभिन्न समाजशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से की है। यहाँ हम कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं को स्पष्ट करेंगे—

मैकाइवर तथा पेज (Maciver & Page) ने लिखा है कि—“समाज कार्यप्रणालियों और चलनों की अधिकार-सत्ता और पारस्परिक सहायता की, अनेक समूह व श्रेणियों की तथा मानव-व्यवहार के नियन्त्रण अथवा स्वतन्त्रताओं की एक व्यवस्था है। इस निरन्तर परिवर्तनशील और जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना है और यह सदा बदलता रहता है।”

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार समाज सामाजिक सम्बन्धों का एक जाल है। ये सामाजिक सम्बन्ध विविध प्रकार के होते हैं, जिनमें से कुछ सरल, कुछ जटिल, कुछ स्थाई तथा कुछ अस्थायी होते हैं। इनमें चाल-चलन, रीति-रिवाज, कार्यप्रणालियों, प्रभुत्व, सहयोग एवं अन्य प्रकार के सम्बन्ध आते हैं। अतः समाज को समझने के लिए इन सभी को समझना आवश्यक है।

मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार—“समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह (The collection of Individuals) है, जो कुछ सम्बन्धों अथवा व्यवहारों की विधियों द्वारा आपस में बँधे हुए हैं, जो उन व्यक्तियों से भिन्न हैं, जो इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा आपस में बँधे हुए नहीं हैं अथवा जिनके व्यवहार उनसे भिन्न हैं।”¹

स्पष्ट है कि गिन्सबर्ग ने भी समाज को एक संगठित समूह माना है और उसके सदस्यों में भी कुछ सम्बन्धों अथवा व्यवहार-विधियों की एकता स्वीकार की है। यह एकता ही किसी समाज के सदस्यों को समाज के बाहरी लोगों से पृथक् करती है, क्योंकि दूसरे लोगों के व्यवहार आदि भिन्न होने से वे उस समाज-विशेष के संगठन में नहीं आते।

टालकट पार्सन्स ने समाज की अत्यन्त वैज्ञानिक परिभाषा प्रस्तुत की है। उसने लिखा है कि —“समाज को उन भानवीय सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन (Means) और साध्य (Ends) के सम्बन्ध द्वारा क्रिया (Action) करने से उत्पन्न होते हैं, चाहे वे यथार्थ हों या प्रतीकात्मक (Intrinsic or Symbolic)।”²

स्पष्ट है कि टालकट पार्सन्स ने भी समाज के सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था को स्वीकार किया है, किन्तु उनके अनुसार सभी सम्बन्ध समाज का निर्माण नहीं करते, बल्कि ऐसे सम्बन्ध समाज का निर्माण करते हैं जो किसी क्रिया से उत्पन्न होते हैं। पार्सन्स की परिभाषा में ‘क्रिया’ (Action) शब्द का विशेष महत्त्व है। सभी व्यवहारों को ‘क्रिया’ नहीं कहा जा सकता। केवल ऐसे कार्य ही ‘क्रियाओं’ के अर्थ में आते हैं जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में किए गए हों।

निरुद्देश्य सड़क पर घूमना एक ‘क्रिया’ नहीं है। अतः ऐसे ही निरुद्देश्य घूमने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध स्थापित हों तो उनसे समाज के निर्माण में कोई सहायता नहीं मिलेगी। इसके विपरीत परिवार में प्रथाओं के अनुसार कार्य करने का एक निश्चित उद्देश्य होता है—परिवार का संगठन बनाए रखना, अतः यह एक ‘क्रिया’ है, जिससे सामाजिक सम्बन्ध की रचना होती है। पार्सन्स के अनुसार सभी क्रियायें चाहे वे प्रत्यक्ष रूप से की जाती हों या केवल प्रतीकात्मक (Symbolic), सामाजिक सम्बन्धों की रचना करती हैं और इन्हीं से उत्पन्न सम्बन्धों की व्यवस्था को समाज कहा जाता है।

गिडिंग्स (Giddings) ने लिखा है, “समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर सम्बद्ध हैं।” समाज की इस परिभाषा में समाज के संगठन पक्ष पर बल दिया गया है। यह बताया गया है कि समाज बिखरे हुए व्यक्तियों का संग्रह मात्र नहीं होता। समाज के सदस्य एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। परिवार, जाति, वर्ग, अथवा विविध संस्थाओं के आधार पर उनमें कुछ आपसी औपचारिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। **र्यूटर** ने समाज की बहुत ही सरल परिभाषा दी है, उसके अनुसार, “समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों की सम्पूर्णता का बोध कराती है।”³

1. Morris Ginsberg : Sociology. P. 59.

2. Talcott Parsons : Encyclopedia of Social Sciences, Vol. XIV, P. 231.

3. E.B. Reuter : Handbook of Sociology, P. 157.

वास्तव में, व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों और अन्तःक्रियाओं द्वारा ही सामाजिक जीवन का निर्माण सम्भव होता है। ये अन्तःक्रियायें समाज की जीवन-दाता धमनियाँ हैं। इन अन्तःक्रियाओं का जैसा स्वरूप होता है, समाज का ढाँचा भी वैसा ही बन जाता है। गिलिन के शब्दों में, “समाज तुलनात्मक रूप से सबसे बड़ा एक स्थाई समूह है। यह सामान्य हितों, सामान्य भू-भाग, सामान्य रहन-सहन और आपसी सहयोग अथवा अपनत्व की भावना से पूर्ण है और जिसके आधार पर वह स्वयं को बाहर के समूहों से पृथक् रखता है।” गिलिन की परिभाषा में जो समाज की विशेषतायें बतायी गयी हैं, वे वास्तव में समुदाय की विशेषतायें हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ भिन्नताओं के बावजूद सभी परिभाषाओं में इस बात पर सहमति है कि समाज का वास्तविक आधार सामाजिक सम्बन्ध ही है। वास्तव में यह कहना ही सर्वाधिक उपयुक्त है कि “समाज रीतियों और कार्य-प्रणालियों, प्रभुत्व और पारस्परिक सहायता, विविध समूहों और श्रेणियों, मानव-व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है।” पर यह स्मरणीय है कि सामाजिक व्यवस्था कोई स्थिर या अचल व्यवस्था नहीं है वरन् गतिशील है। अतः एक समय में भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं और भिन्न-भिन्न समयों में एक सामाजिक व्यवस्था में रीतियों, कार्य-प्रणालियों, प्रभुत्व और पारस्परिक सहायता समूहों और श्रेणियों तथा मानव-व्यवहार के नियन्त्रणों और स्वतन्त्रताओं का स्वरूप निरन्तर बदलता रहता है।

2. समाज के प्रमुख आधार

मैकाइवर एवं पेज ने अपनी परिभाषा के आधार पर समाज में जिन महत्वपूर्ण आधारों या तत्वों पर प्रकाश डाला है, वे निम्नलिखित हैं—

(1) **चलन अथवा रीतियाँ (Usages)**—ये समाज की वे स्वीकृत पद्धतियाँ हैं जिन्हें समाज द्वारा व्यवहार के क्षेत्र में उचित समझा जाता है। प्रत्येक समाज में कार्य करने के लिए अपनी कुछ पृथक् रीतियाँ होती हैं, जैसे भोजन करने की रीति, शिक्षा-प्राप्ति की रीति, संस्कारों को पूरा करने की रीति आदि। समाज के सदस्यों का दैनिक जीवन इन्हीं रीतियों अथवा चलनों से चलता है। इनके कारण प्रत्येक नई पीढ़ी को व्यवहार के निश्चित प्रतिमान मिल जाते हैं, उनको नए सिरे से प्रयोग नहीं करना पड़ता। सामाजिक जीवन में इन रीतियों का इतना महत्त्व है कि इन्हीं के द्वारा समाज के सदस्यों का खान-पान, उठना-बैठना, शादी-त्यौहार, शिक्षा-संस्कार और उनका तौर-तरीका आदि निश्चित होता है। इन्हीं के अन्तर के कारण दो भिन्न-भिन्न समाज के लोगों के जीवन में अन्तर दिखाई पड़ता है, जैसे हिन्दू समाज और मुस्लिम समाज में। रीतियाँ सामाजिक संगठन की स्थापना में अत्यधिक सहायक होती हैं और कुछ विशेष प्रकार के सम्बन्धों को जन्म देती हैं, जैसे हिन्दू समाज में वैवाहिक रीतियाँ पति-पत्नी के सम्बन्धों में इतना अधिक स्थायित्व उत्पन्न कर देती हैं जितना प्रायः अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। सम्बन्धों का रूप निश्चित करने में ये रीतियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

(2) **कार्य-प्रणालियाँ (Procedures)**—मैकाइवर ने ‘कार्य-प्रणालियों’ शब्द का प्रयोग संस्थाओं (Institutions) के लिए किया है, क्योंकि संस्थाएँ सामूहिक कार्य को करने की सर्वोच्च

प्रणालियाँ होती हैं। प्रत्येक समाज में उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ विशेष प्रणालियाँ अपनाई जाती हैं और समाज के सदस्यों से आशा की जाती है कि वे इनके द्वारा अपने कार्यों को पूरा करेंगे। ये कार्य-प्रणालियाँ बड़ी सीमा तक ऐसी होती हैं जिनसे व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता पूर्वक हो सके तथा संस्कृति के विकास को प्रोत्साहन मिल सके। समाज में विवाह, शिक्षा, धार्मिक विश्वासों आदि की कार्य-प्रणालियों या विधियों का बड़ा महत्वपूर्ण भाग है।

(3) प्रभुत्व या अधिकार-सत्ता (Authority) — प्रभुत्व अथवा अधिकार-सत्ता से एक ऐसे सम्बन्ध का बोध होता है जिसमें समाज के कुछ व्यक्तियों के सम्बन्ध अधिकार के होते हैं और कुछ व्यक्तियों के सम्बन्ध अनुसरण करने वालों या अधीनता मानने वालों के। इस कारण सम्बन्धों में एक प्रकार की व्यवस्था बनी रहती है। कोई भी व्यक्ति अनियन्त्रित रूप से सम्बन्धों की स्थापना नहीं कर पाता। अधिकार-सत्ता की धारणा प्रत्येक समूह में पाई जाती है, उदाहरणार्थ राज्य में राजा अथवा प्रभुसत्ता, परिवार में कर्ता और संस्थाओं में प्रधान, व्यक्ति अधिकार प्राप्त करके व्यवस्था बनाए रखने का प्रयास करते हैं।

(4) परस्पर सहयोग (Mutual Co-operation) — सामाजिक सम्बन्धों को स्थापित करने में यह समाज का अधिक महत्वपूर्ण तत्त्व है। पारस्परिक सहयोग के अभाव में किसी प्रकार भी समाज के संगठन की कल्पना नहीं की जा सकती। इसके बढ़ने से समाज का विकास होता है और घटने से समाज छिन्न-भिन्न होने लगता है। प्राचीन काल में और सभ्यता के मध्य-स्तर तक पारस्परिक सहयोग की भावना एक छोटे समूह तक ही सीमित थी, अतः समाज का आकार भी सीमित होता था। लेकिन ज्यों-ज्यों पारस्परिक सहयोग का क्षेत्र मापा गया त्यों-त्यों समाज का विस्तार भी होता गया और आज इसी कारण हमें समाज के विशालकाय रूप के दर्शन होते हैं।

(5) समूह और विभाग (Grouping and Divisions) — इनसे मैकाइवर का अभिप्राय उन सभी समूहों और संगठनों से है जो परस्पर सम्बद्ध रहकर समाज को व्यवस्थित बनाते हैं। समाज एक विशाल व्यवस्था है जिसके निर्माण में अनेक समूहों और सामाजिक विभागों की शक्ति निहित होती है। समान हितों अथवा समान उद्देश्यों वाले व्यक्ति मिलकर विभिन्न प्रकार के समूह बनाते हैं और पारस्परिक सहयोग से अपने उद्देश्यों को पूरा करते हैं। समाज के अन्तर्गत परिवार, पड़ोस, गाँव, नगर, प्रान्त, विविध संस्थाएँ और समितियाँ आदि सामाजिक विभाग सम्मिलित हैं जिनमें से प्रत्येक हमारे सम्बन्धों को किसी न किसी रूप में और किसी न किसी सीमा तक प्रभावित करता है। ये समूह और विभाग मानव-विकास का मूल स्रोत हैं। इनसे किया गया अनुकूलन ही व्यक्ति के समाजीकरण का आधार है।

(6) मानव व्यवहार के नियन्त्रण (Controls of Human Behaviour) — समाज में मनुष्य को अपना मनचाहा व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र नहीं छोड़ा जा सकता। व्यवस्था बनाए रखने के लिए व्यक्तियों तथा समूहों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखना नितान्त आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो मनुष्य का सामाजिक जीवन लगभग असम्भव बन जाएगा। मानव-व्यवहार पर नियन्त्रण के दो रूप हो सकते हैं—औपचारिक एवं अनौपचारिक। कानून, प्रचार, प्रशासन

(7) समाज में सहयोग और संघर्ष का अस्तित्व—सहयोग और संघर्ष सामाजिक अन्तःक्रिया की महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ हैं। सहयोग वह प्रक्रिया है जो समाज को संगठित करती है, कार्यक्रम बनाती है और व्यक्तियों को इस बात की प्रेरणा देती है कि वे परस्पर मिलकर कार्य करें। प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक जीवन सहयोग पर ही आधारित है, क्योंकि कोई भी अकेला व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं कर सकता। सहयोग की प्रक्रिया समाज में जागृति, प्रगति और प्राण-शक्ति का संचार करती है। सहयोग के समान ही संघर्ष की उपस्थिति भी समाज में होती है। सामाजिक सम्बन्ध सदैव सहयोगी ही नहीं होते, असहयोगी भी होते हैं। संघर्ष एक सार्वभौमिक सामाजिक प्रक्रिया है जो किसी न किसी रूप में और किसी न किसी मात्रा में प्रत्येक समाज में हर समय पाई जाती है। प्रत्येक सामाजिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से न्यूनाधिक रूप में संघर्ष के साथ आवश्यक रूप से जुड़ा रहता है। संघर्ष मानवीय क्रियाओं को गतिशीलता और जागरूकता प्रदान करता है। लोगों के विभिन्न व्यक्तिगत लक्ष्य होते हैं जिन्हें पाने की होड़ में संघर्ष का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। संघर्ष का स्वस्थ स्वरूप मानव-समाज को आगे ले जाता है। संघर्ष औचित्य की सीमा को लाँघ न जाए, इसके लिए आवश्यक नियन्त्रण वांछित है।

इस प्रकार हमने देखा कि समाज का अर्थ जीवन, समानता, असमानता, पारस्परिक निर्भरता, सहयोग, संघर्ष और अमूर्तता है। यद्यपि अन्य जीवनधारी भी समाज से मिलती-जुलती व्यवस्था का निर्माण करते हैं, लेकिन उनमें मानसिक जागरूकता की स्थिति मनुष्य से बहुत कम होती है, संस्कृति जैसी कोई चीज उनमें होती ही नहीं है। समाजशास्त्र में हम केवल मानव-समाज का ही अध्ययन करते हैं।

4. समाज के प्रकार

समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है और समाज का कोई भी अध्ययन तब तक अधूरा है जब तक हम समाज के प्रकारों के बारे में जानकारी प्राप्त नहीं कर लें। विभिन्न विद्वानों ने समाज का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। कुछ वर्गीकरण इस प्रकार हैं—

स्पेन्सर का वर्गीकरण¹ — स्पेन्सर ने समाजों के चार प्रकार बताए हैं—

1. सरल समाज (Simple Societies)
2. मिश्रित समाज (Compounded Societies)
3. दोहरे मिश्रित समाज (Doubly-compounded Societies)
4. तिहरे मिश्रित समाज (Triply-compounded Societies)

सरल समाज आदिम समाज है जो बहुत छोटे आकार के होते हैं और जिनमें श्रम-विभाजन नहीं के बराबर पाया जाता है। एक ही व्यक्ति विभिन्न प्रकार के कार्य करता है। सामाजिक स्तरीकरण के रूप-निर्धारण में गुणों का नहीं वरन् जन्म का विशेष महत्व होता है। सरल समाजों

¹ Herbert Spencer : "The Principles of Sociology"

में धर्म और परम्परा का विशेष प्रभाव देखने को मिलता है और राजनीतिक संगठन भी काफी सरल प्रकार का होता है।

‘मिश्रित समाज’ भी आदिम समाज का ही एक रूप है किन्तु यह सरल समाज से कुछ अधिक विकसित होता है। सरल समाज की तुलना में इसका आकार भी कुछ बड़ा होता है और श्रम-विभाजन भी कुछ अधिक पाया जाता है। सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारण में परम्पराओं तथा आर्थिक कारकों का अधिक महत्त्व होता है। राजनीतिक संगठन प्रायः वंशानुगत होता है तथा कुछ सामाजिक नियमों को ध्यान में रखा जाता है।

‘दोहरे मिश्रित समाज’ भी आदिम समाज का ही एक रूप है लेकिन ये सरल और मिश्रित समाजों की तुलना में कुछ अधिक विकसित और बड़े होते हैं। इन समाजों में श्रम-विभाजन भी उपर्युक्त दोनों प्रकार के समाजों की अपेक्षा कुछ अधिक पाया जाता है। सामाजिक स्तरीकरण मुख्यतः सामाजिक-आर्थिक आधार पर होता है और राजनीतिक संगठन कुछ जटिल होता है।

‘तिहरे मिश्रित समाज’ सभ्य समाज का एक रूप है। इन समाजों का आकार उपर्युक्त तीनों प्रकार के आदिम समाजों की तुलना में बड़ा होता है। इनमें जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में श्रम-विभाजन पाया जाता है। परम्परा और धर्म का महत्त्व तुलनात्मक रूप में कुछ कम होता है। विभिन्न आधारों पर सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण होता है। राजनीतिक संगठन भी तुलनात्मक रूप से अधिक जटिल पाया जाता है।

दुर्खीम का वर्गीकरण¹ —दुर्खीम ने समाज के चार प्रकार बतलाए हैं—

1. सरल समाज (Simple Societies)
2. सरल बहुखण्डीय समाज (Simple Poly-segmentary Societies)
3. मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Compounded Poly-segmentary Societies)
4. दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Doubly compounded Poly-segmentary Societies)

‘सरल समाज’ को दुर्खीम ने एक छोटे आकार वाला एक ऐसा अकेला समूह बताया है जिसमें कोई उच्च स्तरीय व्यवस्था नहीं पाई जाती। फिर भी समाज के सदस्य एक-दूसरे से सहयोग करते हैं। इस पारस्परिक सहयोग से सभी कार्य सम्पन्न होते हैं अथवा सामाजिक लक्ष्यों की प्राप्ति हो जाती है। झुण्ड (Horde) तथा गोत्र (Clan) इस प्रकार के सरल समाजों के उदाहरण हैं।

‘सरल बहुखण्डीय समाज’ में यद्यपि अधिकतर विशेषताएँ ‘सरल समाज’ की ही पाई जाती हैं लेकिन आन्तरिक रूप से ऐसा समाज अनेक खण्डों में विभक्त होता है। इसीलिए दुर्खीम ने इसे ‘सरल बहुखण्डीय समाज’ कहा है। दुर्खीम के अनुसार वे जनजातियाँ, जिनमें भ्रातृदल पाए जाते हैं, बहुखण्डीय समाजों का उदाहरण हैं। भ्रातृदल का अर्थ स्पष्ट करते हुए डॉ. दुबे ने

आदि औपचारिक नियन्त्रण की विधियाँ हैं जबकि धर्म, प्रथा, नैतिकता, जन-रीतियाँ आदि अनौपचारिक नियन्त्रण की विधियाँ हैं। नियन्त्रण के साधन कुछ भी हों, लेकिन समाज को व्यवस्थित रखने के लिए उनका क्रियाशील होना नितान्त आवश्यक है।

(7) स्वतन्त्रता (Liberty) — नियन्त्रणों के साथ-साथ स्वतन्त्रता भी आवश्यक है, अन्यथा समाज की उन्नति नहीं हो सकती, मनुष्य का समुचित विकास नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता का अनुभव करने पर ही व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों का विकास परिस्थितियों के अनुसार स्वयं कर सकते हैं। कोई भी व्यवस्था सदस्यों पर केवल नियन्त्रण थोप कर और स्वतन्त्रता के क्षेत्र को कम से कम करके जीवित नहीं रह सकती। मानव समाज परिवर्तनशील है, परिवर्तन में ही उसकी जीवन-शक्ति है और इस शक्ति को बनाए रखने के लिए स्वतन्त्रता का होना अनिवार्य है।

इस प्रकार मैकाइवर एवं पेज ने समाज के सात आवश्यक आधार अथवा तत्त्व बताए हैं और स्पष्ट किया है कि सभी सामाजिक सम्बन्ध परस्पर गुँथे हुए हैं। समाज अनेक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप निर्मित, सामाजिक सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था है और चूँकि सभी परिस्थितियाँ समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं, अतः समाज की प्रकृति में भी परिवर्तन होते रहना स्वाभाविक है।

3. समाज की विशेषतायें अथवा उसके मुख्य तत्त्व

(Characteristics or Essential Elements of Society)

समाज की संकल्पना (Concept) को स्पष्ट करने के लिए उन विशेषताओं का उल्लेख करना उपयोगी होगा जो समाज में सर्वव्यापी रूप से पाई जाती हैं। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) समाज अमूर्त (Abstract) है—‘सामाजिक सम्बन्धों के जाल’ का नाम ही समाज है, अतः समाज कोई प्रत्यक्ष स्थूल वस्तु नहीं है। ‘सम्बन्धों’ का हम अनुभव कर सकते हैं, उन्हें देख नहीं सकते। इस प्रकार चूँकि सम्बन्ध अमूर्त हैं, अतः समाज भी अमूर्त है। हम प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखा सकते कि समाज अमूर्त वस्तु है। जहाँ सामाजिक सम्बन्ध व्यवस्थित रूप में मौजूद हैं, वहाँ समाज की सत्ता को स्वीकार करना होगा।

(2) समाज जागरूकता (Awareness) पर आधारित है—जागरूकता की उपस्थिति समाज का आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि इसके अभाव में सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं हो सकता। जागरूकता का अर्थ है—“किसी स्थिति के प्रति मानसिक चेतना।” समाज में समानताओं, असमानताओं, सहयोग, संघर्ष आदि विभिन्न दशाओं के प्रति व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जागरूक रहते हैं। इस जागरूकता से ही सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना होती है।

(3) समाज में समानता और भिन्नता (Likeness and Differences) दोनों सन्निहित हैं—समाज में समानता और भिन्नता दोनों का अस्तित्व है। बाह्य रूप से दोनों परस्पर विरोधी लगती हैं, लेकिन आन्तरिक रूप से दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। समाज के अस्तित्व के लिए

यदि समान उद्देश्यों, समान विचारों, समान मनोवृत्तियों, समान शरीरों की आवश्यकता है तो उद्देश्य-प्राप्ति के साधनों में भिन्नता का होना भी आवश्यक है, क्योंकि इन भिन्नताओं से ही सामाजिक जीवन का विस्तार होता है। मनुष्यों के प्रमुख सामाजिक उद्देश्य (प्रजनन, शिशु रक्षा, शरीर रक्षा, भोजन संग्रह आदि) समान होते हैं, लेकिन इन उद्देश्यों की पूर्ति के साधनों या प्रविधियों में भिन्नता आवश्यक है क्योंकि तभी समाज का विकास और विस्तार होगा। समाज में एक वस्तु दूसरे को दी जाती है और एक वस्तु दूसरे से ली जाती है। यह आदान-प्रदान सामाजिक सम्बन्धों का महत्वपूर्ण आधार है और इसका अस्तित्व तभी सम्भव है जब विभिन्नताओं का अस्तित्व हो।

(4) **समाज में भिन्नता समानता के अधीन है**—यद्यपि समाज के लिए समानता और भिन्नता दोनों आवश्यक हैं, लेकिन भिन्नता समानता के अधीन है। अर्थात् समानता प्राथमिक है और भिन्नता गौण। इस स्थिति को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। समाज में जो श्रम-विभाजन पाया जाता है उसका कारण विभिन्न व्यक्तियों की योग्यताओं और सामर्थ्य में भिन्नता होना है। लेकिन श्रम-विभाजन वास्तव में लोगों के पारस्परिक सहयोग का ही परिणाम है। लोगों की आवश्यकताएँ मौलिक रूप से समान होती हैं, अतः वे असमान कार्यों के करने में परस्पर सहयोगी बनते हैं। विभिन्न व्यक्ति विभिन्न कार्य करके विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करते हैं ताकि समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न योग्यताओं और सामर्थ्य का समुचित उपयोग इसलिए हो पाता है कि उनमें सहयोग और समानता की भावनाओं की प्रधानता है। व्यापार, उद्योग आदि में मुनाफा कमाने के 'समान' लक्ष्य से लोग साझेदारी करते हैं और अपनी-अपनी योग्यतानुसार अलग-अलग कार्य संभाल लेते हैं। भिन्नता का तत्त्व उनकी साझेदारी में सहायक अवश्य होता है, लेकिन उसका स्थान गौण है क्योंकि प्रधान तत्त्व तो मुनाफा कमाने का समान उद्देश्य है। संक्षेप में, 'समान' लक्ष्य को मानकर लोग 'असमान' साधनों और कार्यों द्वारा उस लक्ष्य को पाने का प्रयत्न करते हैं।

(5) **एक से अधिक व्यक्तियों की सत्ता अनिवार्य है**—एक व्यक्ति से समाज का निर्माण नहीं हो सकता। समाज का निर्माण तभी होता है जब अनेक व्यक्ति एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

(6) **समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित है**—सामाजिक सम्बन्ध किसी न किसी रूप में एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं, अतः यह कहा जाता है कि समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित है। प्राचीन समाज में व्यक्तियों की आवश्यकताएँ न्यूनतम थीं तब भी स्त्री-पुरुष एक-दूसरे पर निर्भर थे। आधुनिक समाज सुविशाल है जिसमें आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सम्बन्धों का जटिल ताना-बाना है। आधुनिक जीवन का ऐसा कोई पहलू नहीं है जिसमें व्यक्ति पूरी तरह आत्म-निर्भर हो। उसे किसी न किसी रूप में अनिवार्यतः दूसरे लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए चलना पड़ता है। ज्यों-ज्यों समाज अधिक जटिल और विकसित होता जाएगा, लोगों की पारस्परिक निर्भरता भी बढ़ती जाएगी। पारस्परिक सम्बन्ध ही सामाजिकता का आधार हैं जिनकी अनुपस्थिति में समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

लिखा है—“संगठन की दृष्टि से कभी-कभी कई गोत्र मिलकर एक समूह बना लेते हैं। इसे ही हम भ्रातृदल कहते हैं।”¹ टोडा जनजाति ‘सरल बहुखण्डीय समाज’ का एक अच्छा उदाहरण है।

मिश्रित बहुखण्डीय समाजों के अन्तर्गत वे आदिम जनजातीय समाज आते हैं जो अनेक गोत्र-समूहों से मिलकर बनते हैं। इन गोत्र-समूहों में मिश्रित विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। ये समाज भौतिक-साधनों की समानता के आधार पर प्रायः छोटे-छोटे खण्डों में विभाजित होते हैं।

दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाजों के उदाहरण बड़े जनजातीय समाज हैं। मिश्रित बहुखण्डीय समाजों से मिलकर जो बड़े समाज बनते हैं उन्हें दुर्खीम ने ‘दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज’ कहा है।

कार्ल मार्क्स का वर्गीकरण—आर्थिक व्यवस्था को एक निर्णायक संस्था मानकर कार्ल मार्क्स ने समाजों का अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। एक स्थल पर मार्क्स ने लिखा है—“व्यापक रूप से हम एशियाई, प्राचीन, सामन्तवादी एवं आधुनिक उत्पादन के तरीकों को समाज की आर्थिक निर्माण की प्रगति में कई अवस्थाएँ मान सकते हैं।” दूसरे स्थान पर मार्क्स एवं एन्जिल्स ने आदिम साम्यवादी, प्राचीन समाज, सामन्तवादी समाज तथा पूँजीवाद को मानव इतिहास की प्रमुख अवस्थाएँ (युग) कहा है। प्रख्यात समाजशास्त्री **बॉटोमोर** का निष्कर्ष है कि यदि इन दोनों योजनाओं को मिला दिया जाए तो मार्क्स के वर्गीकरण में हमें समाजों के पाँच मुख्य प्रकार मिलते हैं—

1. आदिम समाज (Primitive Society)
2. एशियाई समाज (Asian Society)
3. प्राचीन समाज (Ancient Society)
4. सामन्तवादी समाज (Feudalist Society)
5. पूँजीवादी समाज (Capitalist Society)

आदिम समाज में उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समुदाय का समान अधिकार होता है, किसी व्यक्ति-विशेष अथवा कुछ व्यक्तियों का ही अधिकार नहीं। आदिम समाज में उत्पादन प्रणाली आदिम प्रकार की होती है। लोग तीर-कमान तथा पत्थर के औजारों की सहायता से कुछ उत्पादन तथा पशुओं के शिकार से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संयुक्त श्रम के आधार पर जो भी थोड़ा-बहुत उत्पादन होता है उसे समाज के सभी लोग आपस में बाँट लेते हैं। इस प्रकार के समाज में वर्ग-भेद और शोषण नहीं पाए जाते।

एशियाई समाज वह समाज है जिसकी कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था उत्पादन की छोटी इकाइयों पर आधारित होती है। मार्क्स ने भारत को एशियाई समाज का एक अच्छा उदाहरण बताया है।

1. श्याम चरण दुबे: “मानव और संस्कृति” पृ. 131.

प्राचीन समाजों में परम्पराओं का विशेष प्रभाव होता है। परम्पराओं द्वारा ही व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण होता है। उत्पादन-प्रणाली अधिक विकसित नहीं होती। निजी सम्पत्ति की धारणा पाई जाती है, अतः सम्पत्ति का असमान वितरण देखने को मिलता है और फलस्वरूप आर्थिक आधार पर वर्ग-भेद पाया जाता है।

सामन्तवादी समाज वे हैं जिनमें भूमि और उत्पादन के साधनों पर कुछ सामन्तों या जमींदारों का अधिकार होता है, साधारण किसानों का नहीं। सामन्त लोग किसानों का शोषण करते हैं। राजनीतिक शक्ति कुछ लोगों में केन्द्रित होती है। वर्ग-भेद तथा वर्ग-संघर्ष भी काफी मात्रा में पाए जाते हैं।

पूँजीवादी समाजों में मशीनों की सहायता से वृहद् स्तर पर उत्पादन किया जाता है। वास्तव में इस प्रकार के समाजों की स्थापना में मशीनों का आविष्कार तथा औद्योगीकरण का विशेष योग है। उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार होता है जो वेतनभोगी श्रमिकों से उत्पादन कार्य कराते हैं। अधिकाधिक लाभ कमाने के कारण पूँजीपति अधिकाधिक धनी होते जाते हैं जबकि श्रमिकों का शोषण होता है और वे अपना श्रम इतना सस्ता बेचने को विवश होते हैं कि अपनी अनिवार्यताओं की पूर्ति भी नहीं कर पाते। प्रायः औद्योगिक अशान्ति देखने को मिलती है।

कार्ल मार्क्स ने उपर्युक्त पाँच प्रकार के समाजों के अतिरिक्त समाज का एक अन्य प्रकार या रूप भी बतलाया है और वह है—समाजवादी समाज (Socialistic Society) मार्क्स की मान्यता थी कि पूँजीवादी समाजों में अमीरी-गरीबी बढ़ने के साथ-साथ तीव्र वर्ग-चेतना जागृत होगी और फलस्वरूप वर्ग-संघर्ष होगा जिसमें पूँजीपति वर्ग समाप्त हो जाएगा और एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो जायेगी। इस समाज में निजी सम्पत्ति का कोई स्थान नहीं होगा और उत्पादन के साधनों पर समूचे समाज का अधिकार होगा। सब अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करेंगे और आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करेंगे। वर्तमान समय में चीन समाजवादी समाज का उदाहरण प्रस्तुत करता है।

बॉटोमोर का वर्गीकरण—बॉटोमोर ने तीन आधारों पर समाजों को वर्गीकृत किया है—

1. संस्थाओं की पद्धति के आधार पर—इसमें आर्थिक संस्थाओं की प्रधानता देते हुए समाज के दो रूप बताए हैं—

(1) एशियायी समाज

(2) पश्चिमी समाज

2. सामाजिक समूहों की संख्या तथा उनके स्वरूप के आधार पर—इसके आधार पर दो प्रकार बताए हैं—

(1) आदिम समाज

(2) सभ्य समाज

3. सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप के आधार पर—बॉटोमोर ने इस आधार पर भी समाजों के दो वर्ग किये हैं—

(1) वैयक्तिक और प्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्धों की प्रधानता वाले समाज

(2) अवैयक्तिक और अप्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्धों की प्रधानता वाले समाज

वैयक्तिक और प्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्धों की प्रधानता वाले समाज में परिवार, पड़ोस, नातेदारी समूह, गाँव आदि की प्रधानता पाई जाती है। भारत इस प्रकार के समाज का अच्छा उदाहरण है। अवैयक्तिक और अप्रत्यक्ष सामाजिक सम्बन्धों की प्रधानता वाले समाज में विशेष हितों की पूर्ति के लिए बनाई गई समितियों की प्रधानता रहती है। पश्चिम के समाजों को ऐसे समाज का उदाहरण माना जा सकता है।

बॉटोमोर का अभिमत है कि समाज के विभिन्न प्रकारों के विशुद्ध उदाहरण मिलना अत्यधिक कठिन है। फिर भी यह वर्गीकरण और विश्लेषण वास्तव में पाये जाने वाले समाजों के अध्ययन में लाभप्रद है।

‘मानव समाज’ के इस संक्षिप्त अध्ययन के उपरान्त अग्रिम अध्याय में अब हम समाजशास्त्र के क्षेत्र, उसकी प्रकृति आदि का अध्ययन करेंगे, क्योंकि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है जिसमें सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक व्यवहारों आदि का अध्ययन किया जाता है।

समाजशास्त्र की प्रकृति एवं परिप्रेक्ष्य

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो शताब्दियों से समूहों में रहता आया है। मानव समूहों से ही समाज की रचना हुयी है। मानव समाज से ही समाजशास्त्र का इतिहास जुड़ा हुआ है। समाज में सभ्यताओं का उत्थान, पतन, समाज का संगठन एवं असंगठित रूप आदि पर जबसे विचारकों ने विचार करना प्रारम्भ किया, तभी से हम समाजशास्त्र की उत्पत्ति मान सकते हैं। समाजशास्त्र ज्ञान का ऐसा क्षेत्र है जो मनुष्य के सामाजिक जीवन का पूर्णरूप से प्रत्येक पहलू का अध्ययन करता है। शाब्दिक अर्थ में देखें तो समाजशास्त्र दो शब्दों का संयोग है 'समाज' एवं 'शास्त्र' जो कि लैटिन एवं ग्रीक भाषा के सोसिटस = समाज, तथा लोगोम = विज्ञान शब्दों से बना है।

समाजशास्त्र एक नवविज्ञान है और एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है। सामाजिक विज्ञानों में इसकी उत्पत्ति सबसे बाद में मानी जाती है। फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान आगस्त कांटे ने सर्वप्रथम 1838 में इस शब्द की रचना एवं प्रयोग किया। आधुनिक महान् मानवशास्त्रियों में से एक की टिप्पणी के अनुसार मानव समाज का विज्ञान अभी भी अत्यन्त शैशवावस्था में है।

1. समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्र की एक समुचित परिभाषा देना सहज कार्य नहीं है। विगत सवा सौ वर्षों की ऐतिहासिक यात्रा में समाजशास्त्र के स्वरूप एवं उसके क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए हैं। इस कारण विभिन्न कालों में समाजशास्त्र की परिभाषाएँ और उसके अध्ययन-क्षेत्र की परिकल्पनाएँ अलग-अलग रही हैं।

समाजशास्त्र को परिभाषित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों एवं उनके द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं को प्रस्तुत करें। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से समाजशास्त्र की परिभाषाओं को निम्नलिखित चार रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है।
2. समाजशास्त्र समूहों का अध्ययन है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है।
4. समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन है।

1. समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है—श्री एफ.एफ. गिडिंग्स, एल.एफ. वार्ड, एच. डब्ल्यू. ओडम, मोरिस जिन्सवर्ग आदि समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को समाज का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान माना है। इन्होंने समाजशास्त्र को ज्ञान की एक ऐसी शाखा के रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिसमें सम्पूर्ण समाज का एक समग्र इकाई के रूप में अध्ययन किया जा सके।

एफ.एफ. गिडिंग्स के अनुसार—“समाजशास्त्र एक प्रयास है जो यह बताता है कि विकास की प्रक्रिया में भौतिक (Physical) तथा मानसिक (Psychical) कारणों की क्रियाशीलता से किस प्रकार समाज का जन्म एवं विकास हुआ, समाज का क्या ढाँचा बना और समाज में कौनसी क्रियाएँ उत्पन्न हुई।”¹

समाज में विकास की प्रक्रिया निरन्तर पाई जाती है तथा इसमें भौतिक, आध्यात्मिक तथा मानसिक कारणों का बड़ा योगदान होता है। ये कारण एक-दूसरे के साथ मिलकर समाज के स्वरूप को परिवर्तित करते रहते हैं। उपर्युक्त कारणों के फलस्वरूप विकास की प्रक्रिया में समाज के स्वरूप में हुए परिवर्तन तथा समाज में गतिशील हुई विभिन्न क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है।

समाजशास्त्र को किसी न किसी रूप में ‘समाज के अध्ययन का विज्ञान’ के रूप में परिभाषित करने वाली निम्नलिखित परिभाषायें उल्लेखनीय हैं—

श्री एल.एफ. वार्ड के अनुसार—“समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।”²

एफ. एफ. गिडिंग्स के शब्दों में—“समाजशास्त्र सम्पूर्ण रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन व व्याख्या है।”

एच.डब्ल्यू. ओडम के अनुसार—“समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।”³

आर्थर फेयर बैंक्स का कथन है कि—“समाजशास्त्र को बहुत-सी ऐसी बिखरी हुई सामग्री की संज्ञा दी गयी है जिसमें हमारे समाज का ज्ञान निहित है।”⁴

उपर्युक्त विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषाओं के आधार पर समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है लेकिन कुछ विद्वानों द्वारा इस दृष्टिकोण की आलोचना भी की गयी है तथा समाजशास्त्र समाज का समग्र रूप में अध्ययन कर सकता है, इस सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया है।

2. समाजशास्त्र समूहों का अध्ययन है—कुछ समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की परिभाषा में ‘सामाजिक समूहों’ को महत्त्व दिया है। इस श्रेणी के समाजशास्त्रियों में हैरी एम. जॉनसन, किम्बाल यंग, नोब्स को रख सकते हैं। इस दृष्टि से समूहों के ढाँचे, इन्हें बनाने एवं

1. F.F. Giddings : Principles of Sociology, P. 8.

2. L.F. Ward : Popular Science, P. 113.

3. H.W. Odum : Understanding Society.

4. Arthur Fair Banks : Introduction to Sociology, P. 1.

परिवर्तित करने वाली प्रक्रियाओं तथा समूहों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जा सकता है। जैसा कि किम्बाल यंग ने कहा है—“समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहारों का अध्ययन है।”¹

ऑगबन और निमकॉफ के अनुसार—“समाजशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन तथा उन तत्वों का अध्ययन है जो उसकी संस्कृति, प्राकृतिक परिस्थिति, पैतृकता और समूह में सम्बन्धित होते हैं।”²

अतः समाज विभिन्न मानव समूहों से ही बनता है। अतः समूहों में मानवीय व्यवहार का अध्ययन ही समाजशास्त्र का विषय है।

3. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है—समाजशास्त्रियों का एक दूसरा वर्ग इसे सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन मानता है। समाज की इकाई के रूप में व्यक्ति का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि वह सम्बन्धों के द्वारा दूसरी इकाइयों से जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्र को ‘सामाजिक सम्बन्धों का विज्ञान’ मानने वाले समाजशास्त्रियों में मैकाइवर तथा पेज, एच.पी. फेयरचाइल्ड, जे.एफ. क्यूबर, ब्लेकमार तथा गिलिन, ए. डब्ल्यू. ग्रिन तथा आरनोल्ड रोस एवं मैक्स वेबर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने समाजशास्त्र को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है—

मैकाइवर व पेज का कथन है कि—“समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है, सम्बन्धों के इसी जाल को समाज कहते हैं।”³

एच.पी. फेयर चाइल्ड के अनुसार, “समाजशास्त्र मनुष्य और उसके एक-दूसरे के प्रांत सम्बन्धों में मानवी परिस्थिति का अध्ययन है।”⁴

मैक्स वेबर के अनुसार “समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओं की सार्थक व्याख्या करने का प्रयास करता है।”⁵

अतः एक व्यक्ति अपनी समस्त आवश्यकताओं को स्वयं पूरा नहीं कर सकता अपनी शारीरिक, आर्थिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे अन्य व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित करना होता है जिससे समूह एवं समाज बनता है, अतः समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।

4. समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन है—गिन्सबर्ग, सिमेल, आगबर्न आदि समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज का वास्तविक आधार सामाजिक सम्बन्ध नहीं बल्कि सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं। सामाजिक सम्बन्धों की संख्या इतनी ज्यादा होती है कि उनका व्यापक अध्ययन करना कठिन है। ऐसी स्थिति में यदि समाजशास्त्र को केवल सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन कहकर परिभाषित करें तो इसकी प्रकृति को सरलता से समझा जा सकता है।

1. Kimbal Young : Introductory Sociology. P. 13.
2. Ogburn and Nimkoff : A Hand--book of Sociology, P.9.
3. Maciver and Page : Society, P. 5.
4. H.P. Fairchild : General Sociology, P. 90.
5. Max Weber : “Theory of Social and Economic Organisation.” P. 80.

ग्रीगोरी तथा बिडगुड के अनुसार, “समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रिया और उसके प्रमुख परिणामों—संस्कृति और व्यक्तित्व—का अध्ययन है।”¹ इसे सामाजिक अन्तःक्रियाओं से उत्पन्न सामान्य समस्याओं का अध्ययन भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण एवं परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र को विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढँग से परिभाषित किया है। उनमें भिन्नता होते हुए भी कुछ बातें स्पष्ट होती हैं—

1. समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है।
2. समाज को समझने के लिए सामाजिक सम्बन्धों के जाल को समझना आवश्यक है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन है।
4. समाजशास्त्र सामाजिक जीवन और घटनाओं का अध्ययन है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह वह शास्त्र है जो समाज में मनुष्यों के सम्बन्धों, उनके स्वरूपों, प्रकारों, कार्यों, घटनाओं आदि का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

2. समाजशास्त्र का क्षेत्र

समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र को दो प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है—

(क) एक विचारधारा के अनुसार यह एक विशेष विज्ञान है तथा इसमें कुछ विशेष प्रकार के सम्बन्धों का ही अध्ययन किया जाना चाहिये। इस विचारधारा के समर्थकों को स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School) कहा जाता है।

(ख) दूसरी विचारधारा के अनुसार समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है तथा इसके समर्थकों को समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School) कहा जाता है।

(क) **स्वरूपात्मक सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय में सिमैल, वेबर, टॉनीज़ तथा वॉनविज़ आदि विद्वान प्रमुख हैं। इनके अनुसार समाजशास्त्र एक नया विज्ञान है। यदि इसे सम्पूर्ण समाज का एक सामान्य अध्ययन बनाने का प्रयास करेंगे तो इसका वैज्ञानिक ढँग से अध्ययन करना कठिन हो जावेगा। यदि समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान बनाना है तो इसके अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों के एक विशेष पक्ष का ही अध्ययन किया जाना चाहिये। यदि समाजशास्त्र में सभी तरह के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करेंगे तो दूसरे सामाजिक विज्ञानों, जैसे—इतिहास, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि पर निर्भर रहना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से स्पष्ट किया है।

1. **जॉर्ज सिमैल के विचार**—जर्मन समाजशास्त्री सिमैल के अनुसार समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र एवं विशेष विज्ञान के रूप में केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों की ही विवेचनाओं एवं विश्लेषण से सम्बन्धित होना चाहिये। अपने कथन को स्पष्ट करने की दृष्टि से सिमैल ने सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में अन्तर किया है। सिमैल के अनुसार सभी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं का एक स्वरूप होता है तथा एक ही अन्तर्वस्तु। उदाहरण के लिए एक कुर्सी को देखें तो उसकी लम्बाई, ऊँचाई व बनावट उसके कुर्सी के स्वरूप को बतायेंगे लेकिन

वह कुर्सी लकड़ी की बनी है या लोहे की अथवा पत्थर की, यह विशेषता उसकी अन्तर्वस्तु को बताएगी। इसी प्रकार से सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में भी अन्तर ठहराया जा सकता है। उदाहरण के रूप में सहयोग, अनुकरण, प्रभुत्व, श्रम-विभाजन, प्रतिस्पर्धा आदि सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप है जबकि धर्म, दर्शन, राजनीति एवं आर्थिक संघ आदि सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु है जिसमें उपर्युक्त स्वरूप पाया जाता है। यह समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक शास्त्रों के मध्य अन्तर को स्पष्ट करता है क्योंकि अन्य सामाजिक शास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन करते हैं जबकि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के केवल स्वरूप का ही अध्ययन करता है। सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप कुछ सम्बन्धों को एक विशेष भाग है अतः समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में ही रखना उचित होगा।

2. वीरकान्त के विचार—वीरकान्त ने भी समाजशास्त्र को एक विशेष सामाजिक विज्ञान के रूप में 'सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन' माना है। आपके अनुसार समाजशास्त्र ऐसे मानसिक सम्बन्धों का अध्ययन है जो व्यक्तियों को एक समूह में बाँधे रहते हैं, जैसे—प्रेम, घृणा, यश, सम्मान, समर्पण आदि। समाजशास्त्र किसी विशेष समाज का ऐतिहासिक अध्ययन न होकर उन सम्बन्धों का अध्ययन है जो सामाजिक व्यवस्था को स्थायी बनाये रखते हैं अथवा उस व्यवस्था में परिवर्तन करते हैं। इस दृष्टि से समाजशास्त्र को एक विशेष सीमा से बाहर जाना उचित नहीं है अतः यह एक विशेष विज्ञान है।

3. मैक्स वेबर के विचार—मैक्स वेबर के अनुसार—“समाजशास्त्र सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। अन्य शब्दों में इस शास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहारों को समझना तथा उनकी व्याख्या करना है। सामाजिक क्रियायें वे व्यवहार हैं जो अर्थपूर्ण होते हैं तथा अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों से प्रभावित होते हैं। समाजशास्त्र में केवल ऐसी ही सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।” वेबर के अनुसार सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन के द्वारा ही समाजशास्त्र के नियमों को तर्कसंगत एवं अनुभव-सिद्ध बनाया जा सकता है। सभी प्रकार के सम्बन्धों का अध्ययन करने पर इसके नियमों में तर्क एवं अनुभव का अभाव हो सकता है। इसलिए समाजशास्त्र एक विशेष सामाजिक विज्ञान ही है।

4. टॉनीज के विचार—टॉनीज (Tonnie) ने समाजशास्त्र को विशुद्ध समाजशास्त्र (Pure Sociology) की धारणा के आधार पर एक विशेष विज्ञान माना है। विशुद्ध समाजशास्त्र के रूप में इसमें अन्य सामाजिक विज्ञानों की विषय-वस्तु का मिश्रण नहीं होना चाहिये तथा इसके नियम भी अन्य विज्ञानों से पूर्णतः स्वतन्त्र होने चाहिए।

5. वॉनविज के अनुसार—वॉनविज (Vonwviese) ने सामाजिक सम्बन्धों के 650 स्वरूपों का उल्लेख करते हुए समाजशास्त्र के क्षेत्र को इन्हीं स्वरूपों के अध्ययन से सम्बन्धित मानते हुए समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान माना है। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान के रूप में माना गया है।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारकों की आलोचना भी की गई है। फिचर (Fichter) के अनुसार “इन्हें समाजशास्त्री न कहकर सामाजिक दार्शनिक कहना उचित होगा क्योंकि इन्होंने

सामाजिक जीवन की व्यावहारिक प्रकृति को समझने का प्रयत्न नहीं किया है।” स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की विचारधारा को निम्नलिखित आधारों पर दोषपूर्ण माना है—

(1) नवीन विज्ञान के रूप में देखना उचित नहीं—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को ‘नवीन’ विज्ञान मानता है जिसमें इसके अध्ययन-क्षेत्र को सीमित रखना उचित माना गया है। लेकिन यह उचित नहीं है क्योंकि भारत में तो समाजशास्त्रीय अध्ययनों का इतिहास हजारों वर्ष पुराना रहा है। अतः यह कोई नवीन विषय नहीं है।

(2) स्वतन्त्र सामाजिक विज्ञान की धारणा गलत है—इस सम्प्रदाय की यह धारणा गलत है कि सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञानों में नहीं किया जाता। सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों, जैसे—प्रभुत्व, सत्ता, शक्ति, स्वामित्व, संघर्ष आदि का अध्ययन कानून शास्त्र में बहुत ही व्यवस्थित रूप में किया जाता है। अतः इस आधार पर समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान नहीं बनाया जा सकता।

(3) स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु में भेद नहीं किया जा सकता—सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से पृथक् करना कठिन है। सारोकिन के अनुसार “यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि सामाजिक संस्था (जैसे—शिक्षा प्रणाली, विवाह पद्धति अथवा कानून) के स्वरूप में परिवर्तन हो जाने पर भी उनकी आन्तरिक विशेषतायें पूर्ववत् बनी रहें। अतः यदि ‘स्वरूप’ एवं ‘अन्तर्वस्तु’ का विभाजन ही गलत हो तो इस आधार पर समाजशास्त्र के क्षेत्र को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।”

(4) स्वतन्त्र विज्ञान की धारणा गलत है—समाजशास्त्र को अन्य विज्ञानों से पूर्णतः पृथक् एवं स्वतन्त्र विज्ञान मानना उचित नहीं है क्योंकि यह सम्भव ही नहीं। वास्तविक रूप में देखें तो सभी सामाजिक विज्ञान किसी न किसी रूप में एक-दूसरे पर निर्भर हैं। अतः इन विभिन्न आधारों पर स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारों को सही माना जा सकता है।

(ख) समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School) — समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक सारोकिन, दुर्खीम, हॉब हाउस और गिन्सबर्ग आदि हैं। इनके अनुसार “समाजशास्त्र विशेष विज्ञान नहीं है। यह एक सामान्य विज्ञान है। सामान्य विज्ञान के रूप में यह समाज की कुछ विशेष दशाओं का ही अध्ययन नहीं करता बल्कि सम्पूर्ण समाज की सभी सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करता है।” इस धारणा के पक्ष में दो तर्क दिये जाते हैं।

(1) समाज की प्रकृति जीव रचना की तरह होना—समाज की प्रकृति एक जीव रचना की तरह है। जिस प्रकार जीव रचना में सभी अंग दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं उसी प्रकार समाज में भी सभी पक्ष एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं। अतः समाज को हम इसकी विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ कर ही समझ सकते हैं क्योंकि समाज के एक भाग में होने वाला परिवर्तन उसके सभी भागों को प्रभावित करता है। समाजशास्त्र को एक विशेष एवं स्वतन्त्र विज्ञान बनाकर समाज का ठीक प्रकार से अध्ययन नहीं किया जा सकता।

(2) समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सामान्य होना—समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सामान्य होना इसलिये भी आवश्यक है कि दूसरे सभी सामाजिक विज्ञान समाज के केवल एक विशेष भाग का ही अध्ययन करते हैं। सम्पूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करने वाला कोई अन्य सामाजिक विज्ञान न होने के कारण समाजशास्त्र को समाज का सामान्य दृष्टिकोण से अध्ययन करना चाहिए। सारोकिन, दुर्खीम एवं हॉब हाउस के विचार इस सम्बन्ध में निम्न प्रकार से हैं—

(i) सारोकिन के विचार—सारोकिन के अनुसार सभी सामाजिक विज्ञान किसी न किसी रूप में एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। अतः किसी भी सामाजिक ज्ञान को पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से यह कार्य समाजशास्त्र का है कि वह विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्धों अथवा सामान्य तत्त्वों का अध्ययन करे। अपने कथन को सारोकिन ने निम्नलिखित सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है—¹

आर्थिक (सम्बन्ध)	A B C D E F
राजनीतिक	A B C G H I
धार्मिक	A B C J K L
वैधानिक	A B C M N O
मनोरंजनात्मक	A B C P Q R

उक्त सूत्र से स्पष्ट है कि हम कोई भी क्रिया करें आर्थिक या राजनीतिक, धार्मिक या वैधानिक या मनोरंजन सम्बन्धी, सभी में कुछ तत्त्व सामान्य अवश्य होते हैं। जैसे कि ऊपर के उदाहरण में A, B, C सभी क्षेत्रों में पाये जाते हैं। अतः समाजशास्त्र का कार्य इन सामान्य अन्तर्सम्बन्धों का ही अध्ययन करना है। मैकाइवर के अनुसार “समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक सम्बन्धों में इसलिए नहीं कि वे सम्बन्ध आर्थिक, राजनीतिक अथवा धार्मिक हैं बल्कि इसलिये है कि वे साथ ही सामाजिक भी होते हैं। अतः समाजशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र सामान्य होना चाहिये।”²

(ii) दुर्खीम के विचार—दुर्खीम ने समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान के माध्यम से एक सामान्य विज्ञान बनाने पर जोर दिया है। दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र को सर्वप्रथम एक विशेष विज्ञान का रूप मिलना चाहिये जिससे इसके पास भी अन्य विज्ञानों की तरह अपने स्वतन्त्र नियम हो सकें। इसके लिए समाजशास्त्र में सबसे पहले उन सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया जाये जो सामूहिक प्रतिनिधानों (Collective Representations) का निर्माण करते हैं तथा जिनके द्वारा समाज की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। समाजशास्त्र के एक विज्ञान हो जाने पर यह आगे चलकर समाज को समझने के लिए अन्य विज्ञानों का सामान्यीकरण कर सकेगा तथा इससे यह अन्त में एक सामान्य सामाजिक विज्ञान बन जायेगा। दुर्खीम के अनुसार “समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है।” इसे स्पष्ट करते हुए यह बताया है कि प्रत्येक समाज में प्रथाओं व परम्पराओं के आधार पर कुछ सामूहिक विचारधाराएँ विकसित हो जाती हैं तथा

1. Sorokin : Society. Culture and Personality, P. 7.

2. Maciver and Page : Society.

समाज के सदस्य इन सामूहिक विचारधाराओं के अनुसार ही व्यवहार करते हैं। समाज की सामूहिक भावनाएँ एक सामूहिक शक्ति का रूप ले लेती हैं। इस शक्ति को ही सामूहिक प्रतिनिधान कहा जाता है।

(iii) **हॉब हाउस के विचार**—हॉब हाउस भी समाजशास्त्र को समाज का एक सामान्य विज्ञान मानता है। इस शास्त्र द्वारा विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त परिणामों के सामान्य तत्त्वों को ढूँढकर उनका सामान्यीकरण किया जाता है। यह कार्य तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(क) सभी सामाजिक विज्ञानों की प्रमुख धारणाओं का सामान्यीकरण करके।

(ख) समाज को स्थायी रखने एवं परिवर्तन करने वाले घटकों को मालूम करके, तथा

(ग) सामाजिक विकास की प्रवृत्ति और दशाओं को ज्ञात करके।

उपर्युक्त कार्य समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान बनकर ही कर सकता है न कि एक विशेष विज्ञान बनकर।

समाजशास्त्रियों के स्वरूपात्मक सम्प्रदाय व समन्वयात्मक सम्प्रदाय ने समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को क्रमशः विशेष सम्बन्धों व सामान्य सम्बन्धों से सम्बन्धित बताया है। दोनों सम्प्रदायों की धारणाएँ ऊपर से एक-दूसरे की विरोधी लगती हैं लेकिन वास्तविक रूप से देखा जाये तो ये विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक हैं। जिसे विशेष सम्बन्धों का समाजशास्त्र कहा जाता है उसमें कुछ सामान्य विशेषताएँ भी होती हैं तथा जिसे समन्वयात्मक सम्प्रदाय ने 'सामान्य सम्बन्धों का समाजशास्त्र' माना है वहाँ कुछ विशेष सम्बन्ध भी पाये जाते हैं। व्यावहारिक रूप से देखें तो कोई भी समाजशास्त्र न तो पूर्णतः विशेष हो सकता है और न पूर्णतः सामान्य ही। अन्य शास्त्रों का सामान्य ज्ञान रखते हुए किसी एक प्रकार के सम्बन्धों का विशेष ज्ञान रखा जा सकता है। 'सामान्य' एवं 'विशेष' साथ-साथ चलते हैं। उदाहरण के लिए, एक हृदय चिकित्सक को हृदय चिकित्सा का 'विशेष' ज्ञान होते हुए भी शरीर व उसके विभिन्न रोगों का सामान्य ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार 'सभी रोगों की चिकित्सा करने वाले' चिकित्सक को हृदय रोग की चिकित्सा का ज्ञान आवश्यक है। अतः सामान्य एवं विशेष दोनों ही आवश्यक हैं। इनका अनुपात अलग-अलग हो सकता है लेकिन किसी एक का पूर्ण अभाव नहीं। समाज एक जटिल व्यवस्था है जिसके लिए सामान्य एवं विशेष दोनों ही प्रकार के सम्बन्धों का समान महत्त्व है। अतः समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को विशेष या सामान्य सामाजिक सम्बन्धों से सीमित न करते हुए इसे 'सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन' कहना उचित है।

(3) **समाजशास्त्र की विषय-वस्तु**—सामान्यतया अध्ययन-क्षेत्र व विषय-वस्तु को समान मान लिया जाता है, लेकिन दोनों में ही आधारभूत अन्तर है। क्षेत्र का अर्थ उन सम्भावित सीमाओं से है जहाँ तक किसी विषय का अध्ययन किया जा सकता है तथा विषय-वस्तु उस निश्चित सामग्री से सम्बन्धित है जिसका कि समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है। अन्य शब्दों में, क्षेत्र अनुमानित परिधि है, जबकि विषय-वस्तु अध्ययन की वास्तविक सीमा है। समाजशास्त्र के क्षेत्र को स्पष्ट करने के बाद इसकी विषय-वस्तु को समझना भी आवश्यक है। समाजशास्त्र द्वारा जिन सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है वह समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के अन्तर्गत

आती है अतः सभी सामाजिक सम्बन्ध, संस्थाएँ व प्रक्रियाएँ समाजशास्त्र की विषय-वस्तु हैं। इसे विभिन्न समाजशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है।

गिन्सबर्ग द्वारा वर्गीकरण—गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को चार भागों में विभाजित किया है—

(i) **सामाजिक स्वरूपशास्त्र (Social Morphology)**—सामाजिक स्वरूपशास्त्र के अन्तर्गत समाज के आकार तथा स्वरूप का निर्माण करने वाली समस्याएँ सम्मिलित की जाती हैं, जैसे—जनसंख्या का आकार व गुणा। इसके अतिरिक्त सामाजिक समूहों व समस्याओं, जिनका व्यावहारिक रचना पर प्रभाव पड़ता है, का भी अध्ययन किया जाता है।

(ii) **सामाजिक प्रक्रियाएँ (Social Processes)**—यह समाजशास्त्र की एक अन्य शाखा है। इसके अन्तर्गत मनुष्यों के मध्य या समूहों के मध्य पाये जाने वाले अन्तर-सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है, जैसे—सहकारिता, विकास, अनुकरण, संघर्ष, प्रभुत्व, प्रतिस्पर्धा आदि।

(iii) **सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)**—इसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन में नियन्त्रण बनाए रखने वाले विषयों का अध्ययन किया जाता है, जैसे—धर्म, परम्परा, राजनीति, लोकनीति, नैतिकता, विश्वास व विधि-संहिता आदि।

(iv) **सामाजिक व्याधिकी (Social Pathology)**—सामाजिक व्याधिकी के अन्तर्गत सामाजिक समस्याओं तथा समाज की विषटित परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है, जैसे—अपराध, बाल अपराध, बेकारी, बीमारी, आत्महत्या आदि। इसमें अव्यवस्थाओं के सुधारने की पद्धतियों का भी अध्ययन किया जाता है।

दुर्खीम का वर्गीकरण—दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक तथ्य (Social Fact) से सम्बन्धित है। उनके शब्दों में—“सामाजिक तथ्य कार्य करने का वह तरीका है जिसमें व्यक्ति पर दबाव डालने की क्षमता होती है।” सामाजिक तथ्य के आधार पर समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को तीन भागों में विभाजित किया गया है—

(i) **सामाजिक रचनाकार (Social Morphology)**—इसके अन्तर्गत जीवन पर भौगोलिक पर्यावरण के प्रभाव तथा सामाजिक संगठन से सम्बन्धित प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।

(ii) **सामाजिक दैहिकी (Social Physiology)**—इसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जैसे—विधि, धर्म, भाषा, पारिवारिक जीवन आदि। यह सभी बड़े महत्वपूर्ण विषय हैं तथा इन पर पृथक् समाजशास्त्र का निर्माण हो चुका है, जैसे—धर्म का समाजशास्त्र (Sociology of Religion), परिवार का समाजशास्त्र (Sociology of Family), विधि का समाजशास्त्र (Sociology of Law) आदि।

(iii) **सामान्य समाजशास्त्र (General Sociology)**—इसके अन्तर्गत विधियों का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक नियमों व सामान्य हितों को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है। यह समाजशास्त्र का दार्शनिक भाग है।

सारोकिन का वर्गीकरण—सारोकिन ने भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को तीन भागों में विभाजित किया है—

(i) **विभिन्न वर्गों के मध्य सम्बन्ध**—समाज में विभिन्न वर्ग होते हैं तथा इन वर्गों में परस्पर सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है, जैसे—आर्थिक एवं धार्मिक क्रियाओं का सम्बन्ध, नैतिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध, राजनीतिक एवं आर्थिक सम्बन्ध आदि।

(ii) **असामाजिक एवं सामाजिक घटनाओं का सम्बन्ध**—असामाजिक एवं सामाजिक घटनाओं का पारस्परिक सम्बन्ध भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है। जैसे भौगोलिक एवं जैवकीय दशाओं का सामाजिक जीवन पर प्रभाव।

(iii) **सामान्य विशेषतायें**—सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं व लक्षणों का अध्ययन भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है।

मैकाइवर के अनुसार—समाजशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक सम्बन्ध है। मनुष्य के जीवन के अनेक पक्ष हैं, जैसे—आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि। इन सबका सामाजिक पक्ष होता है। समाजशास्त्र इनके सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।

इस प्रकार से समाजशास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को स्पष्ट किया है तथा इनमें भिन्नता भी मिलती है। अमेरिका में आयोजित एक गोष्ठी में कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को स्पष्ट करने हेतु एक रूपरेखा बनाने का प्रयास किया जिससे उसमें सभी प्रमुख विधियों का समावेश हो सके। इस रूपरेखा के आधार पर अमेरिकन सोसियोलोजिकल रिव्यू (American Sociological Review) में समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया गया है।

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की रूपरेखा

(I) समाजशास्त्रीय विश्लेषण

1. मानव-संस्कृति और समाज,
2. समाजशास्त्रीय स्वरूप,
3. सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति।

(II) सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयाँ

1. सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक सम्बन्ध,
2. मानव का व्यक्तित्व,
3. समूह (प्रजाति और वर्ग भी सम्मिलित हैं),
4. समुदाय : नगरीय और ग्रामीण,
5. समितियाँ तथा संगठन,
6. जनसंख्या,
7. समाज।

(III) आधारभूत सामाजिक संस्थाएँ

1. परिवार तथा नातेदारी,
2. आर्थिक संस्थाएँ,
3. राजनीतिक व वैज्ञानिक संस्थाएँ,
4. धार्मिक संस्थाएँ,
5. शैक्षणिक व वैज्ञानिक संस्थाएँ,
6. मनोरंजनात्मक व कल्याणकारी संस्थाएँ,
7. कलात्मक तथा अभिव्यक्ति सम्बन्धी संस्थाएँ।

(IV) मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ

1. विभेदीकरण तथा स्तरीकरण,
2. सहयोग, समायोजन तथा सात्मीकरण,
3. सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति और युद्ध),
4. संचार (जिसमें जनमत निर्माण तथा परिवर्तन भी सम्मिलित है),
5. सामाजीकरण तथा सैद्धान्तीकरण,
6. सामाजिक मूल्यांकन (सामाजिक मूल्यों का अध्ययन),
7. सामाजिक व्याधिकी (अपराध तथा आत्महत्या आदि),
8. सामाजिक एकीकरण,
9. सामाजिक परिवर्तन।

उपर्युक्त तालिका समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को बड़ी मात्रा में स्पष्ट करती है। इसमें सभी महत्वपूर्ण विषयों का समावेश कर लिया गया है लेकिन इसके सम्बन्ध में भी यह दावा नहीं किया जा सकता कि यह तालिका पूर्ण है। समाजशास्त्र की प्रकृति परिवर्तनशील होने से इसकी विषय-वस्तु में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। लेकिन उपर्युक्त विषय ऐसे हैं जिनको सामाजिक संरचना एवं सामाजिक सम्बन्धों से पृथक् नहीं किया जा सकता

4. समाजशास्त्र का महत्व—समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। समाजशास्त्र के अतिरिक्त जो अन्य सामाजिक विज्ञान हैं, जैसे—अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भूगोलशास्त्र आदि किसी भी समस्या का अध्ययन केवल एक विशेष दृष्टिकोण से ही करते हैं। समाजशास्त्र मानवीय सम्बन्धों का विज्ञान होने से प्रत्येक परिस्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण करके समाज की समस्याओं के प्रति एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। समाजशास्त्र के महत्व को स्पष्ट करते हुए बार्नेस (H.E. Barnes) ने कहा है “समाजशास्त्र इतना महत्वपूर्ण विषय है जो सभी सामाजिक अन्वेषणों में कार्य करता है, उन्हें बोधित करता है तथा स्वयं भी विभिन्न खोजों से शक्ति प्राप्त करता है, विभिन्न अनुसंधानों को प्रेरणा देता है, परिणामों को सही बनाता है तथा सम्पूर्ण जीवन को कुछ भागों में विभक्त करके तथा उसके उपरान्त उनका अध्ययन करके सम्पूर्ण जीवन के

व्यापक स्वरूप को प्रस्तुत करता है।" इस प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं को समझने में बहुत सहायता प्रदान करता है। विभिन्न शीर्षकों में इसके महत्त्व को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

(i) **मानव एकता का आधार** (Uniting-tie of entire race) — समाजशास्त्र ने हमारे ज्ञान का विकास किया है। मानव का सम्बन्ध एक समूह तक ही सीमित न रहकर राष्ट्रीय स्तर तक होता जा रहा है। समाजशास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी मनुष्यों की उत्पत्ति एक ही 'आदिमानव' द्वारा हुई है तथा इसी आधार पर विभिन्न भेदभावों को छोड़कर सभी समाजों में सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार किया जाना चाहिये। यह जाति, धर्म व राष्ट्रीयता आदि के बन्धनों को छोड़कर विभिन्न मानव समूहों को एक-दूसरे के निकट लाकर मानवीय एकता को बढ़ाने हेतु आधार प्रदान करता है। यह संकीर्णता के घेरे को तोड़कर 'एक विश्व' (One World) की कल्पना का चित्र प्रस्तुत करता है।

(ii) **सामाजिक समायोजन का आधार** (Basis of Social Adjustment) — समाजशास्त्र समुदाय, संस्था, संघ के ज्ञान के साथ-साथ समाज की विभिन्न परिस्थितियों, जैसे—सांस्कृतिक, आनुवंशिक, भौगोलिक आदि को भी स्पष्ट करता है। विभिन्न परिस्थितियों में हम किस प्रकार से समायोजित करें, इसे समाजशास्त्र के ज्ञान से समझा जा सकता है। समाजशास्त्र से सामाजिक संरचना के विभिन्न पक्षों और इसका निर्माण करने वाले तत्त्वों की जानकारी होती है जिससे व्यक्ति सरलता से अपनी परिस्थितियों से समायोजन कर सकता है। वर्तमान समय में समाज का स्वरूप निरन्तर जटिल होता जा रहा है तथा उसमें किस प्रकार से अनुकूलतम समायोजन स्थापित किया जाय। इसमें समाजशास्त्र का ज्ञान सहायक सिद्ध होता है।

(iii) **सामाजिक कल्याण में वृद्धि** (Increases Social Welfare) — समाज के कल्याण में वृद्धि करने के लिये भी समाजशास्त्र का ज्ञान उपयोगी होता है। समाजशास्त्र समाज को व्यावहारिक ज्ञान कराता है जिससे समाज कल्याण की योजनाओं के क्रियान्वयन में सहायता मिलती है। श्रम-कल्याण, जनजातीय कल्याण, परिवार नियोजन, प्रौढ़ शिक्षा आदि के कार्यक्रमों के सफल संचालन के लिए समाजशास्त्र का ज्ञान अत्यधिक आवश्यक होता है क्योंकि इसका ज्ञान समाज की विभिन्न परिस्थितियों तथा उनके प्रभाव के बारे में सही-सही जानकारी प्रदान करता है।

(iv) **सम्पूर्ण मानव समाज का ज्ञान कराता है** (Provides knowledge about the entire human Society) — समाजशास्त्र विभिन्न समाजों के मध्य पाई जानेवाली एकता तथा प्रमुख प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जिसके ज्ञान से समाज के वास्तविक रूप को समझना सम्भव होता है। समाज के वास्तविक अर्थ एवं प्रकृति को समझकर ही एक व्यक्ति सफल व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है अतः संसार के सभी समाजों का एक सामान्य विज्ञान है अतः संसार के सभी समाजों का एक सामान्य ज्ञान प्रस्तुत करता है जिससे समाज के बारे में मनुष्य का ज्ञान संकीर्ण न रहकर उदार एवं प्रगतिशील हो जाता है।

(v) सामाजिक समस्याओं के समाधान में सहायक (Helpful in solving social problems) — सभ्यता के विकास के साथ-साथ सामाजिक समस्याओं में भी तीव्रगति से वृद्धि हुई है। ये समस्यायें कुछ गुणात्मक हैं तो कुछ परिमाणात्मक। इन समस्याओं के समझने में समाजशास्त्र का ज्ञान अत्यधिक सहायता प्रदान करता है क्योंकि यह लक्ष्यों के संकलन एवं उनके विश्लेषण के द्वारा कारण एवं परिणाम में ठीक-ठीक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसके ज्ञान से सामाजिक समस्याओं का समाधान निकालने में सहायता मिलती है क्योंकि समाजशास्त्र का ज्ञान व्यक्ति में सामाजिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण का विकास करता है।

(vi) व्यक्तिगत संगठन में सहायक (Helpful in Individual Organisation) — व्यक्ति समाज की सबसे छोटी एवं महत्वपूर्ण इकाई है। व्यक्ति ही सम्बन्ध स्थापित करता है। यही समूह बनाता है। यही समाज के नियमों का पालन या उनका विरोध करता है। यही अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है। अतः यह आवश्यक माना जाने लगा है कि समाज के हित में व्यक्तिगत जीवन को संगठित रखा जाय क्योंकि वास्तविक रूप से देखा जाय तो व्यक्ति एवं समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। समाजशास्त्र के नियम व्यक्तिगत परिस्थितियों को समाज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में स्पष्ट करके समाज में व्याप्त समस्याओं का समाधान खोजते हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले तत्त्व, जैसे—मूल प्रवृत्तियाँ, उद्देश्य आदि का अध्ययन करके व्यक्ति के जीवन को संगठित करने हेतु उसके आन्तरिक गुणों का भली प्रकार से अध्ययन करता है। समाजशास्त्र व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले बाह्य कारणों, जैसे—वेशभूषा, प्रतिस्पर्धा, सहयोग, पारस्परिक सम्बन्ध आदि का भी अध्ययन करता है। इससे व्यक्तिगत जीवन को संगठित करने में सहायता मिलती है।

(vii) पारिवारिक संगठन में स्थायित्व देता है (Stabilizes the family) — समाज के संगठन में परिवार का स्थान भी महत्वपूर्ण है। पारिवारिक जीवन में शान्ति, सुरक्षा, सहयोग एवं स्थायित्व समाज के सामान्य जीवन को प्रभावित करता है। पारिवारिक जीवन अशान्त, असुरक्षित एवं कटु होने पर सामाजिक जीवन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। समाजशास्त्र पारिवारिक नियमों, मूल्यों व आदर्शों का अध्ययन तो करता ही है लेकिन समय एवं परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक मान्यताओं एवं मूल्यों को परिवर्तित करने के लिए भी मार्गदर्शन करता है। समाजशास्त्र के ज्ञान से परिवार के विभिन्न सदस्यों की स्थिति एवं कार्य में सन्तुलन स्थापित करना सम्भव हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र महत्वपूर्ण सामाजिक विज्ञान है जो किसी भी सामाजिक अध्ययन को यथार्थता प्रदान करता है तथा समस्याओं का सूक्ष्म अवलोकन एवं विश्लेषण करके उनके समाधान के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। भारत जैसे विकासशील देश में, इसका विशेष महत्व है क्योंकि समाज का व्यावहारिक ज्ञान ही हमें अपनी समस्याओं से अवगत कराकर समाज की उन्नति में सहायक हो सकता है।

संगीत का समाजशास्त्र

प्रत्येक ज्ञान का उदय एवं विकास प्रारम्भ में सामान्य ज्ञान के रूप में होता है, लेकिन अध्ययन की गहनता एवं विभिन्न खोजों के फलस्वरूप उसकी अनेक शाखाएँ पृथक् ज्ञान के रूप में विकसित होती हैं। संगीत के क्षेत्र में भी ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ है तथा उनका पृथक् अध्ययन-क्षेत्र विकसित हो गया है, जैसे संगीत का मनोविज्ञान, संगीत का दर्शन, संगीत का सौन्दर्यशास्त्र, संगीत का ऐतिहासिक अध्ययन आदि। संगीत का समाज से परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण संगीत के समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन एवं विश्लेषण की विचारधारा भी सामने आयी है, तथापि अभी तक इस क्षेत्र में कुछ भी कार्य नहीं हुआ है।

दूसरी तरफ, समाजशास्त्र के अध्ययन से भी ज्ञात होता है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत भी कला के समाजशास्त्र के विकास का प्रयास बहुत कम हुआ है। 1956 में घूर्जटि प्रसाद मुखर्जी ने कहा था—“कला के समाजशास्त्र का क्षेत्र अभी अन्धकारमय है।” आज भी स्थिति बहुत बदली नहीं है। जहाँ-तहाँ प्रकाश की कुछ किरणें भले ही दिखाई दें, लेकिन बाकी अधिकांश अन्धेरे में ही डूबा है।

इस देश में समाजशास्त्र का विकास भी बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है। यहाँ समाजशास्त्र के अनेक रूप और शाखाएँ हैं। एक ओर ग्रामीण, शहरी और औद्योगिक समाजशास्त्र जैसे पुराने रूप चल रहे हैं। इसके साथ ही धर्म, जाति, परम्परा, राजनीति, अर्थव्यवस्था, सामाजिक संरचना, शिक्षा, विकास और पेशा आदि के समाजशास्त्र का भी विकास हो रहा है। हाल के वर्षों में नारी-मुक्ति आन्दोलन के दबाव और प्रभाव के परिणामस्वरूप नारी-विषयक अध्ययन की दिशा में भी भारतीय समाजशास्त्र आगे बढ़ा है। दृष्टिकोण और पद्धति के स्तर पर अनुभववाद, संरचनावाद, प्रकाशवाद और मार्क्सवाद का प्रभाव दिखाई देता है। यहाँ समाजशास्त्र अभी वर्तमान व्यवस्था की बीमारियों के लक्षण के अध्ययन तक सीमित है। वह समाज में फैले असामंजस्य, तनाव और संघर्ष के कारणों की पहचान करते हुए व्यवस्था को अधिक कुशल और सफल बनाने के तरीके में लगा है। परम्परा, परिवर्तन, आधुनिकता आदि समस्याओं का विवेचन हो रहा है। लेकिन भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में कला के समाजशास्त्र पर विचार के लिए कोई प्रयत्न नहीं दिखाई देता। यहाँ के अधिकांश समाजशास्त्री पश्चिम के जिस समाजशास्त्रीय चिन्तन से कदम-कदम पर प्रेरणा लेते हैं, वहाँ कला के समाजशास्त्र का खूब विकास हुआ है। लेकिन

उस विकास का यहाँ कोई प्रभाव नहीं है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारतीय समाजशास्त्री कला के समाजशास्त्र के विकास की चिन्ता से इस तरह मुक्त क्यों हैं।

संगीत जगत में भी संगीत के समाजशास्त्र का स्वतन्त्र विकास तो दूर की बात है, अभी यहाँ समाजशास्त्रीय चिन्तन में उसकी समस्याओं पर विचार-विमर्श की कोई सार्थक शुरुआत भी नहीं हुई है। आज के जमाने में संगीत की दुनिया केवल कला और सौन्दर्य की साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढाँचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है। जब से संगीत की दुनिया में कलाकारों और श्रोताओं के बीच संगीत-बाजार आ गया है और संस्कृति का क्षेत्र “प्रतीकात्मक वस्तुओं का बाजार” बन गया है तब से समाज में कला और संगीत की स्थिति बहुत बदल गई है। इस स्थिति में संगीत के सामाजिक अस्तित्व से उसकी अस्मिता के सम्बन्ध की पहचान कराने वाली दृष्टि का विकास ही ‘संगीत के समाजशास्त्र’ का मुख्य लक्ष्य है।

आधुनिक युग में संगीत को समझने के लिए संगीतशास्त्र के बाहर जाना जरूरी हो गया है। इसलिए समाजशास्त्रीय दृष्टि की मदद से संगीत को समझने का यहाँ हम प्रयत्न कर रहे हैं। संगीत-जगत के विद्वानों ने यह मान लिया है कि संगीत के शास्त्रीय विश्लेषण से ही उसकी संगीतात्मकता सामने आ जाती है। इस मान्यता के पीछे यह धारणा है कि संगीत-शैली की विशिष्टता उसके कुछ शास्त्रीय नियमों में बसती है, जिसकी खोज संगीत-समीक्षक कर लेता है। लेकिन संगीत की सामाजिक सत्ता की मीमांसा की समस्या आज भी जहाँ की तहाँ है।

संगीत का समाजशास्त्रीय चिन्तन आधुनिक समाज में संगीत की सत्ता और सार्थकता की पहचान के बौद्धिक प्रयत्न की देन है। संगीत का समाजशास्त्र आधुनिक समाज में संगीत की वास्तविक स्थिति और भूमिका को यथार्थवादी ढँग से सोचने का प्रयत्न करेगा। संगीत की सामाजिकता की चिन्ता पहले भी संगीत जगत में रही है और आज भी हम संगीत की सामाजिकता की बात कर रहे हैं।

संगीत के समाजशास्त्र के विकास की दो धाराएँ हो सकती हैं—

1. संगीत में समाज की अभिव्यक्ति की खोज,
2. संगीत की सामाजिक स्थिति का विवेचन।

संगीत के समाजशास्त्र का स्वरूप—संगीत के समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिए उसके भीतर समाज से संगीत के सम्बन्ध की व्याख्या में सक्रिय मुख्य दृष्टियों को जान लेना जरूरी है। मेरे अनुसार संगीत के समाजशास्त्र के क्षेत्र में तीन दृष्टियाँ हो सकती हैं—

- (i) संगीत में समाज की खोज,
- (ii) समाज में संगीत की सत्ता और कलाकार या संगीतकार की स्थिति का विवेचन,
- (iii) संगीत और श्रोता के सम्बन्ध का विश्लेषण।

1. संगीत में समाज—संगीत के समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है समाज से संगीत के सम्बन्ध की खोज और उसकी व्याख्या। ऊपरी तौर पर समाज से संगीत का सम्बन्ध बड़ा सहज और सरल दिखाई देता है। संगीत के समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज से संगीत के सम्बन्ध का

विवेचन करने वाले दो तरीके हो सकते हैं—प्रथम में समाज को समझने के लिए संगीत का उपयोग करें; और दूसरे में संगीत को समझने के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनायें। शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाने वालों के लिए अच्छी-बुरी, सतही और उच्चस्तरीय संगीत शैलियों में कोई फर्क नहीं होगा। वे शास्त्रीय संगीत और लोकप्रिय संगीत को समान महत्त्व देंगे। इसका एक अच्छा पक्ष यह हो सकता है कि इसके अन्तर्गत संगीत समीक्षकों द्वारा उपेक्षित लेकिन साधारण जनता में प्रचारित लोकप्रिय संगीत का समाजशास्त्र भी होगा। यहाँ लोकप्रिय संगीत का अर्थ है मनोरंजन के लिए व्यापक रूप से विभिन्न वर्गों के लोगों में लोकप्रिय संगीत।

संगीत की शास्त्रीयता की रक्षा करते हुए उसकी सामाजिकता खोजने वाले, संगीत के ज्ञानात्मक पक्ष का ही विवेचन करेंगे। वे संगीत-रचनाओं (बंदिश) के विशिष्ट शास्त्रीय स्वरूप की उपेक्षा नहीं कर सकते, इसलिए वे संगीत-रचना (बंदिश) की विषय-वस्तु, उसकी स्वर-रचना और प्रभाव पर ही ध्यान देंगे। ऐसे समाजशास्त्री के सामने कई प्रश्न होते हैं। वह यह देखने की कोशिश करेगा कि सर्जनात्मक संगीत के निर्माण में समाज की क्या भूमिका है, किसी संगीत-रचना (बंदिश) में युग की प्रभावशाली विचारधारा का रचना की विषय-वस्तु और रूप पर क्या प्रभाव पड़ा है और यह भी कि कोई संगीत-रचना (बंदिश) किस तरह तथा किस सीमा तक अपने श्रोता समाज को प्रभावित करेगी। चूँकि संगीत-रचना (बंदिश) एक व्यक्ति या कलाकार करता है, इसलिए समाज से संगीत के सम्बन्ध को समझने के लिए समाज से रचनाकार या कलाकार के सम्बन्ध की समझ भी आवश्यक है।

संगीत के समाजशास्त्रीय चिन्तन का आरम्भ समाज से संगीत के सम्बन्ध की खोज के साथ हुआ। इस चिन्तन के विकास की अग्रगामी भूमिका के निम्नलिखित बिन्दु हो सकते हैं—

1. संगीत की उत्पत्ति में समाज की भूमिका और समाज पर संगीत के प्रभाव का विवेचन किया जाये।

2. संगीत के जातीय स्वरूप और समकालीन राजनीति से गहरे सम्बन्ध का विवेचन किया जाये।

3. समाज को संगीत के स्वरूप का निर्धारण करने वाली शक्ति के रूप में तथा संगीत का समाज के दर्पण के रूप में विवेचन होना चाहिये।

मेरे विचारानुसार समाजशास्त्रीय विवेचन के लिए हमें संगीत की महत्वपूर्ण तथा प्रचलित संगीत शैलियों की रचनाओं (बंदिशों) को ही चुनना चाहिये, क्योंकि महत्वपूर्ण संगीत रचनाओं में ही युगीन वास्तविकताओं का गहरा बोध होता है।

संगीत के समाजशास्त्रीय अध्ययन में यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि संगीत से समाज के बारे में मिलने वाले ज्ञान का स्वरूप क्या है ? उसमें व्यक्त होने वाली सामाजिक चेतना के रूप की विशिष्टता क्या है ? और किसी संगीत-रचना में या संगीत-शैली में इन सबकी अभिव्यक्ति किन-किन रूपों में होती है।

मेरा यह मानना है कि किसी संगीत-रचना (बंदिश) की विषय-वस्तु में ही समाज नहीं व्यक्त होता बल्कि रचना के हर स्तर पर अर्थात् उसकी अन्तर्वस्तु, संरचना, शिल्प और भाषा में भी समाज की अभिव्यक्ति होती है।

संगीत में समाज के खोज की एक दिशा यह भी हो सकती है कि संगीत-रचना का समूचा व्यवहार कल्पना का क्रिया व्यापार है। राग का निर्माण, बंदिश की स्वरमय आकृति, बंदिश का प्रस्तुतिकरण, राग-स्वरूप का गायन द्वारा निर्माण आदि सब कुछ कल्पना की ही मदद से होता है। संगीत में कल्पना की सर्जनात्मक भूमिका के बारे में संगीत-समीक्षक हमेशा सजग रहे हैं। लेकिन सांगीतिक कल्पना के सामाजिक अभिप्राय की पहचान संगीत के समाजशास्त्र का विषय हो सकता है। संगीत की विभिन्न शैलियों में या एक ही संगीत-विधा के प्रकारों में कल्पना की क्रियाशीलता एक जैसी नहीं होती। सुगम संगीत और शास्त्रीय संगीत में अनुभव की अभिव्यक्ति करने में कल्पना की अलग-अलग भूमिकाएँ होती हैं। संगीत-कलाकार कल्पना की मदद से ही पहले दूसरों के अनुभव-जगत में प्रवेश करता है और बाद में संगीत-संरचना के माध्यम से संगीत-श्रोताओं को अपने अनुभव का सहयोगी बनाता है। संगीत के समाजशास्त्र में संगीत के ज्ञानात्मक पक्ष के विश्लेषण के लिए, कल्पना की इन क्रियाओं की समझदारी आवश्यक है। तभी सामाजिक वास्तविकता के बोध और व्यंजना की शक्ति के रूप में कल्पना की क्रियाशीलता प्रकट होगी और साथ ही कल्पना की स्वतन्त्रता का महत्त्व भी उजागर होगा। सांगीतिक कल्पना का विवेचन संगीत के समाजशास्त्र का विषय हो सकता है।

अब संगीत में ही नहीं, समाजशास्त्र में भी कल्पना के महत्त्व पर विचार हो रहा है। **सी. राइट मिल्स** ने समाजशास्त्रीय कल्पना के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। मिल्स के अनुसार, समाजशास्त्रीय कल्पना मानस की ऐसी शक्ति है जो नितान्त निर्वैयक्तिक और दूरस्थ परिवर्तनों से लेकर मानव मन की अत्यन्त वैयक्तिक विशेषताओं तक पहुँचती है और दोनों के बीच के सम्बन्ध को पहचानती है। उसकी इस क्रिया के पीछे समाज में व्यक्ति की सामाजिक और ऐतिहासिक अर्थवत्ता की खोज की भावना काम करती है।

आज के युग में समाजशास्त्रीय कल्पना के महत्त्व की ओर संकेत करते हुए मिल्स ने लिखा है कि समाजशास्त्रीय कल्पना अब हमारे सांस्कृतिक जीवन की पहचान बनती जा रही है। आज वह बौद्धिक क्रियाशीलता और सांस्कृतिक संवेदनशीलता की कसौटी बन गयी है। महत्त्वपूर्ण आलोचक साहित्यिक कृतियों में उसकी खोज कर रहे हैं। इसलिए आजकल आलोचना जितनी सौन्दर्यशास्त्रीय है उतनी ही समाजशास्त्रीय। आज मानव स्वभाव और समाज जितना जटिल और समस्यामूलक होता जा रहा है, उसको समझने के लिए समाजशास्त्रीय कल्पना की उतनी ही जरूरत बढ़ती जा रही है। ऐसी समाजशास्त्रीय कल्पना संगीत के माध्यम से समाज को समझने वाले आलोचक के लिए भी आवश्यक है।

रिचर्ड होगार्ड मानते हैं कि समाज के बारे में एक महत्त्वपूर्ण रचनाकार और समाजशास्त्री की अन्तर्दृष्टियों में बहुत दूर तक समानता होती है, दोनों समाज के सार्थक तथ्यों एवं व्यौरों का चुनाव करते हैं और उनमें व्यवस्था पैदा करते हैं। इस प्रक्रिया में रचनाकार समाज की एक तस्वीर बनाता है और समाजशास्त्री एक सिद्धान्त। उन दोनों के माध्यम से हम समाज का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

संगीत के समाजशास्त्र की एक दिशा, संगीत की सामाजिक-भूमिका के विश्लेषण से सम्बन्धित भी हो सकती है। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए हमें इन सवालों से टकराना होगा—क्या संगीत-रचनायें लोगों की राय बदलती है या पहले से बनी-बनायी राय को मजबूत

करती हैं ? ऐसा किन परिस्थितियों में होता है ? ठीक मौके पर किसी संगीत-रचना के माध्यम से आये विचार से चेतना बदलती है या महत्वपूर्ण रचनायें अपने अनुकूल चेतना निर्मित करती हैं। रचना की शैली और रचनाकार के अभिप्राय की अभिव्यक्ति से उसका प्रभाव किस सीमा तक निर्धारित या प्रभावित होता है।

संगीतकार भले ही समाज का शासक न हो लेकिन वह कई बार शासकों के लिए खतरा जरूर बन जाता है। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान प्रतिबन्धित अनेक संगीत-रचनाओं पर एक नज़र डालते ही यह सच्चाई सामने आ जायेगी।

संगीत, समाज तथा जीवन के बारे में नई दृष्टि देता है, यह संगीत की एक भूमिका है। भूमिकाएँ और भी हैं। अगर समाज में संगीत की कोई भूमिका या महत्ता न हो तो उसकी समाज को जरूरत भी नहीं होगी। संगीत विद्वानों के लिए यह जरूरी है कि वह संगीत की विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं का विवेचन करें।

2. समाज में संगीत और कलाकार—संगीत के समाजशास्त्र की दूसरी दृष्टि में समाज में संगीत और कलाकार की वास्तविक स्थिति का विश्लेषण होना चाहिये। आज के समाज में संगीत और संगीत कलाकार की वह स्थिति नहीं है जो सामंती समाज में थी। भारतीय समाज में संगीत कलाकार की बदलती स्थिति पर विचार करें तो यह विचार समझते देर न लगेगी कि जो स्थिति तानसेन की बादशाह अकबर के दरबार में थी, वह स्थिति आज के कलाकारों की नहीं है। कठिनाई तब होती है जब कुछ लोग आज की समस्याओं का हल तानसेन के समय से पाने की कोशिश करते हैं। संगीत और संगीत कलाकार की आज के समाज में जो स्थिति है, उसका विवेचन 'संगीत के समाजशास्त्र' में होना चाहिये, जो स्थिति थी या जो होनी चाहिये वह समाजशास्त्र का विषय नहीं है।

समाज में कलाकार की बदलती हुई स्थितियों का विवेचन पहले कला के इतिहास के अन्तर्गत होता था। **हार्नाल्ड हाउज़र** ने "कला का सामाजिक इतिहास" नामक विशाल ग्रन्थ लिखा है। उसके चार खण्डों में विभिन्न कालों और समाज-व्यवस्थाओं में कलाकार की बदलती सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से कलाकारों की सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण बीसवीं सदी में विकसित हुआ है। यह पूँजीवादी समाज में कलाकारों की जटिल त्रासद स्थितियों को समझने के प्रयत्न का परिणाम है। वैसे भी स्वतन्त्र कलाकार की धारणा भी आधुनिक युग की ही देन है।

गणसमाज में कलाकार समाज का अंग होता था। वह कहीं अनाम रहता था तो कहीं लोकनायक भी बनता था। जब कला धर्म के नियन्त्रण में थी तब भी वह अधिकतर अनाम ही रहता था। अजन्ता के चित्रों के सामने आज का बड़े से बड़ा चित्रकार भी नतमस्तक होगा, लेकिन अजन्ता के चित्रकार या चित्रकारों का नाम कोई नहीं जानता। इसी प्रकार संगीत कला में कुछ घरानेदार बंदिशें ऐसी हैं, जिनकी स्वर-रचना सुनते ही बड़े से बड़ा संगीत-कलाकार 'वाह' किये बगैर नहीं रहता, लेकिन उन बंदिशों का असली स्वर-रचनाकार कौन था, यह कोई नहीं जानता। अधिकांश मौखिक संगीत के रचनाकार गुमनाम ही रहते हैं। सामंती युग से कला की सीमित स्वतन्त्रता के साथ, कलाकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की बात उठने लगती है। सामंती युग में भी

लोकजीवन में रहने वाले कलाकार दरबार के रत्नों से अलग दिखाई देते हैं। पूँजीवादी युग में कलाकार के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता एक सच्चाई और समस्या के रूप में सामने आयी है।

संगीत के समाजशास्त्र में समाज से संगीत-कलाकार के सम्बन्ध, उसकी सामाजिक स्थिति, जीविका, आश्रय और इन सबसे प्रभावित होने वाली मानसिकता का अध्ययन होना चाहिये। संगीत के सामाजिक अस्तित्व और आधुनिक समाज में संगीत-कलाकार की स्थिति का संगीत के समाजशास्त्र में अध्ययन होना चाहिए। मेरा यह विचार है कि संगीत कला, कलाकार और श्रोता के अन्तःसम्बन्ध की जानकारी से ही समाज में संगीत और कलाकार की वास्तविक स्थिति मालूम हो सकती है। आज के समाज में संगीत गायन या वादन एक शौक ही नहीं है बल्कि एक जीविका का साधन भी है।

समाज में संगीत की स्थिति का एक और पक्ष है, वह व्यापक सामाजिक ढाँचे से अनेक रूपों से जुड़ा होता है। वह सामाजिक प्रक्रिया के आर्थिक, राजनीतिक और विचारात्मक व्यवहारों से प्रभावित होता है और उनको प्रभावित भी करता है। संगीत के समाजशास्त्र में ऐसे सम्बन्धों का अध्ययन होना चाहिये। इस अध्ययन के लिए हम संगीत को एक सामाजिक संस्था मानेंगे। अन्य संस्थाओं के समान ही संगीत भी मानव-अनुभव की अद्वितीय अवस्था को अपने भीतर संजोये हुए है। गायक कलाकार, कलामर्मज्ञ व श्रोता के बीच परस्पर सम्बन्ध से संगीत की संस्था का स्वरूप बनता है। संगीत के समाजशास्त्र में संगीत कला और कलाकार के चारों ओर के कल्पित प्रभामंडल को हटाकर उनकी वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करना चाहिये। किसी संगीत कलाकार की कला के प्रचार या प्रसार में विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाओं का योगदान भी रहता है। किसी भी कलाकार की कला को मूल्यवान या मूल्यहीन बनाने में विभिन्न सांस्कृतिक संस्थाओं तथा संगीत कला-समीक्षकों की भूमिका मुख्य होती है। इस पक्ष का भी संगीत के समाजशास्त्र में अध्ययन होना चाहिये।

कई बार राजसत्ता की सांस्कृतिक नीति संगीत की दिशा तय करती है। पद, पुरस्कार, अनुदान के माध्यम से राजसत्ता संगीत की प्रक्रिया में दखल देती है। विभिन्न सरकारी संचार माध्यमों और संस्थाओं से संगीत का विकास प्रभावित होता है। आजकल संस्कृति के सरकारीकरण का व्यापक अभियान चल रहा है। यह सब समाजशास्त्रीय विवेचन का विषय होना चाहिये।

3. श्रोता समुदाय के मध्य संगीत—संगीत के समाजशास्त्र का विकास एक और दिशा में हो सकता है, वह है श्रोता समुदाय से संगीत के सम्बन्ध का विवेचन। श्रोता वर्ग के पास पहुँचकर ही कलाकार की कला सार्थक होती है। इसीलिए संगीत-कलाकार अपने श्रोता-समुदाय की चिन्ता करता है। अगर वह समकालीन श्रोताओं से निराश होता है तो भविष्य में श्रोताओं की तलाश करता है। कितनी भी उच्च श्रेणी का कलाकार क्यों न हो वह श्रोताओं की चिन्ता से मुक्त नहीं होता। जहाँ तक संगीत समीक्षा में श्रोताओं के महत्त्व का प्रश्न है तो समीक्षक स्वयं श्रोता होता है। इसलिए स्वयं वह संगीत-समीक्षा की प्रक्रिया में श्रोता की उपेक्षा कैसे कर सकता है।

संगीत के समाजशास्त्र में श्रोताओं का महत्त्व स्वीकार करने का अर्थ है संगीत के उत्पादन से आगे बढ़कर उसके उपभोग पर ध्यान केन्द्रित करना। यह संगीत की सामाजिकता की पहचान

के लिए, श्रोता-समुदाय के बीच, संगीत की सत्ता और महत्ता के विवेचन की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत श्रोता-समुदाय द्वारा संगीत-शैली के चयन, चयन के कारण, उनकी मानसिकता, संगीत-शैली का बोध, संगीतात्मक शैली का श्रोता पर प्रभाव और उसकी प्रतिक्रियाओं का विवेचन होगा। इस तरह एक ओर श्रोता-समुदाय की संगीत के लिए बदलती मानसिकता और दूसरी ओर किसी संगीत-कलाकार की घटती-बढ़ती लोकप्रियता सामने आ जायेगी। यही नहीं संगीत श्रोता-समुदाय की अभिरुचि के विकास में संगीत की भूमिका और संगीत के स्वरूप के विकास में श्रोता वर्ग की भूमिका भी स्पष्ट होगी।

आज के युग में कलाकार और श्रोता का सम्बन्ध पहले की तुलना में बहुत बदल गया है। पहले कलाकार सीधे समाज के आगे कला की अभिव्यक्ति करता था। सामंती समाज में भी कलाकार का अपने श्रोता से सीधा सम्बन्ध था। वह उनके लिए गायन व वादन करता था, जिनको जानता था। पहले का संगीत-कलाकार अपने वास्तविक श्रोताओं के लिए प्रदर्शन करता था लेकिन पूँजीवादी युग में कलाकार अपने सम्भावित श्रोता के लिए गाता है। आज का गायक या वादक कलाकार अपने श्रोता को ठीक से नहीं जानता क्योंकि संगीत कला और श्रोता के मध्य बाजार मौजूद है। बाजार में कोई संगीत-रचना एक वस्तु की तरह होती है। यह जरूर है कि संगीत-रचना पर संगीत गायक के व्यक्तित्व की छाप होती है जो कि बाजार की दूसरी वस्तुओं पर नहीं होती। लेकिन यह छाप भी संकेत से अधिक महत्त्व नहीं रखती। बाजार में आते ही संगीत-रचना अपने गायक या संगीतकार से स्वतन्त्र हो जाती है और श्रोता से उसका वस्तुगत सम्बन्ध हो जाता है। यही कारण है कि आजकल संगीत-रचना से श्रोता के सम्बन्ध को विशेष महत्त्व दिया जा रहा है। श्रोता से सम्बन्ध का एक पहलू यह भी हो सकता है कि संगीत-शैली, उत्पत्तिकर्ता की चेतना ही नहीं होती, वह चेतना पैदा भी करती है अर्थात् संगीत शैली अपने श्रोता पैदा करती है। जैसे जिस समय शास्त्रीय संगीत की विधा के रूप में ठुमरी, गायी जा रही थी, उस समय उसके संगीत-प्रशंसक दुर्लभ थे, लेकिन आज उसके निन्दक मुश्किल से मिलेंगे। ठुमरी शैली ने श्रोताओं की चेतना को बदला है, अपने लिए जगह बनायी है। संगीत के समाजशास्त्र में संगीत-प्रकार या शैली से श्रोता के इस सम्बन्ध पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये।

यह तो हम सब जानते ही हैं कि किसी भी संगीत-सभा में जो श्रोतावर्ग आया हुआ होता है उस श्रोतावर्ग के संगीत-श्रवण के अनेक कारण होते हैं। उन कारणों के अनुसार श्रोता भी अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे, कुछ लोग समाज में विशिष्ट बनने के लिए संगीत सुनते हैं तो कुछ दूसरे केवल मनोरंजन के लिए, तो कुछ लोग अपने भावों या संगीत-विचारों को परिष्कृत करने के लिए संगीत सुनते हैं। संगीत सुनने के इन कारणों तथा श्रोताओं पर भी संगीत के समाजशास्त्र के अन्तर्गत विचार होना चाहिये।

अभी तक संगीत जगत में श्रोता और संगीत के सम्बन्ध पर दो दृष्टियों से अधिक विचार हुआ है। एक में मुख्य रूप से संगीत के विकास में श्रोता-समुदाय की भूमिका का विवेचन हुआ है, तो दूसरी में संगीत-प्रकार के श्रवणीय अभिग्रहण, श्रोता पर प्रभाव और श्रवणीय प्रतिक्रिया का विश्लेषण हुआ है; पहली परम्परा का विकास इतिहास-लेखन के अन्तर्गत और दूसरी का संगीत आलोचना के क्षेत्र में।

संगीत-कला के क्षेत्र में श्रोता-वर्ग और उसकी मानसिकता का विश्लेषण होना चाहिये। लेकिन ऐसा अनुभव होता है कि ऐसे अध्ययन में जो सबसे बड़ी बाधा है वह यह है कि संगीत सम्बन्धी शास्त्रीय दृष्टि लोकप्रिय संगीत और उसके श्रोताओं को विचार के लायक नहीं मानती। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि लोकप्रिय संगीत ही संगीत-श्रोता-समुदाय का निर्माण करता है, जो शास्त्रीय संगीत नहीं कर पाता। प्राचीन शास्त्रीय संगीत, जो राग पद्धति पर निर्भर है, हर तरह से बहुत ऊँचा संगीत माना जाता है जो आम जनता समझ नहीं पाती। लेकिन धीरे-धीरे लोकप्रिय संगीत का श्रोता, शास्त्रीय संगीत को समझने की कोशिश अवश्य करता है।

संगीत के समाजशास्त्र में “सांगीतिक अभिरुचि” इस पहलू का अध्ययन भी हो सकता है। वह यह है कि संगीत के ऐतिहासिक अध्ययन के समय मुख्य प्रश्न यह होने चाहिये कि किस समय में एक राष्ट्र या जाति के विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच कौनसा संगीत लोकप्रिय था और उसकी लोकप्रियता के क्या कारण थे ?

संगीत के परिवर्तन और विकास की पहचान के लिए निम्नलिखित तीन पहलुओं पर भी ध्यान दिया जा सकता है—

- (1) युग की सामाजिक चेतना,
- (2) संगीत श्रोता-समुदाय में परिवर्तन, तथा
- (3) श्रोता-समुदाय के विस्तार से संगीत के स्वरूप में परिवर्तन।

यह तो सर्वविदित है कि प्रत्येक समाज में हर समय एक समुदाय होता है जो मुख्य रूप से संस्कृति का संवाहक माना जाता है। वही समुदाय शास्त्रीय-संगीत-रुचि का रक्षक और निर्माता भी होता है। इस समुदाय के प्रभाव का आधार है—सामाजिक संरचना में उसकी स्थिति। इस तरह से सांगीतिक मूल्यों, प्रतिमानों और श्रवणीय-रुचि के सवाल को सामाजिक संरचना से जोड़कर संगीत के समाजशास्त्र के विकास में एक नयी दिशा दे सकते हैं।

संगीत की सामाजिकता की खोज की महत्वपूर्ण दिशा “संगीत शैली या प्रकार की प्रसिद्धि” भी हो सकती है। क्योंकि “प्रसिद्धि किसी काल की लोकप्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है।” इस तरह सांगीतिक शैलियों या रचनाओं की लोकप्रियता के अध्ययन से लोकप्रवृत्ति की पहचान भी हो सकती है। दूसरी महत्वपूर्ण दिशा है—“किसी काल विशेष में जन सामान्य में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।” इस विचार में भी संगीत अभिरुचि के समाजशास्त्र की सम्भावना है।

अतः संगीत के समाजशास्त्र की यही मुख्य दिशाएँ हो सकती हैं। दिशाएँ और भी हो सकती हैं, जैसे—एक दिशा सांगीतिक विधाओं के विकास के समाजशास्त्रीय अध्ययन की है। इसी तरह संगीत में आंचलिकता के प्रभाव का समाजशास्त्रीय अध्ययन महत्वपूर्ण निष्कर्ष दे सकता है।

अतः आधुनिक युग में संगीत-जगत की यह माँग है कि विश्वविद्यालयों में संगीत अध्ययन-अध्यापन को काल्पनिक, भाववादी-सौन्दर्यशास्त्रीय ढाँचे से निकालकर सामाजिक वास्तविकता से जोड़ा जाय।

संगीत-समाजशास्त्र के मुख्य पक्ष

संगीत के समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य समाज से संगीत के सम्बन्ध की खोज है। इसमें संगीत की विभिन्न विधायें सम्मिलित हैं। मेरे अनुसार संगीत के समाजशास्त्र के मुख्य पक्ष इस प्रकार हो सकते हैं—

1. संगीत के भौतिक सामाजिक मूलाधार की खोज,
2. संगीत-कलाकार के महत्त्व का विश्लेषण,
3. संगीत में समाज के प्रतिबिम्बन की व्याख्या, तथा
4. संगीत का श्रोता से सम्बन्ध।

1. संगीत के मूलाधार की खोज

संगीत के समाजशास्त्र का मुख्य पक्ष है—संगीत के मूलाधार की खोज। शास्त्रीय संगीत का मूल आधार व्यक्ति की प्रतिभा, संवेदनात्मक अनुभूति एवं कला के विभिन्न उपकरणों के अधिकार में निहित है। शास्त्रीय कला का सजग व्यक्तित्व निश्चित ही समाज का अंश होता है। उसके विश्वास, उसकी शैली, उसकी कला के स्वरूप, समाज की प्रचलित धारणाओं एवं शैलियों से ही सौन्दर्यानुभूति एवं अभिव्यंजना ग्रहण करते हैं।

मेरे अनुसार संगीत कला मनुष्य की मानसिकता की उपज है। अब यहाँ यह सवाल आता है कि कला जिस मानसिकता से पैदा होती है वह मानसिकता कैसे बनती है। इस सवाल के उत्तर में प्रजाति, परिवेश और युग का फ्रांसीसी विचारक तेन का प्रसिद्ध समाजशास्त्र का सिद्धान्त सामने आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्रीय पद्धति तथ्य (राग-रचना) से चेतना (कलाकार) की ओर बढ़ती है और चेतना से उसके निर्माण की परिस्थितियों की ओर बढ़ती है।

इसी सम्बन्ध में एलेन स्विंगवुड ने लिखा है कि—“प्रजाति, परिवेश और युग से भौतिक सामाजिक आधारों का निर्माण होता है, जो कला के सभी वास्तविक कारणों और सम्भावित आन्दोलनों का मूल स्रोत है। प्रजाति, परिवेश और युग के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया से एक व्यावहारिक या चिन्तनशील मानसिक संरचना पैदा होती है।”

शास्त्रीय संगीत में भी प्रजाति, परिवेश और युग की समाजशास्त्रीय अवधारणा का बहुत महत्व है। जो इस प्रकार है—

1. प्रजाति—प्रजाति के अन्तर्गत व्यक्ति की सहज तथा वंशानुगत विशेषताओं, मानसिक बनावट और शारीरिक संरचना आदि की चर्चा की जाती है। व्यक्ति जन्म से कुछ समान होते हुए भी अपने गुण व क्रियाओं के कारण एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं, यह भिन्नता केवल शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक भी होती है। प्रत्येक व्यक्ति या कलाकार एक-दूसरे से भिन्न क्यों होते हैं? किन बातों के कारण वे भिन्नता लिए हुए होते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में हम कह सकते हैं कि इस असमानता का प्रथम प्रमुख कारक है—वंशानुक्रम (प्रजाति)।

वंशानुक्रम का अर्थ वंश परम्परा से है। व्यक्ति जन्म से कुछ गुण अपने वंश द्वारा ग्रहण करता है और आने वाली पीढ़ी को अपने वंश के गुण देता है। यह आवश्यक नहीं कि वह अपने माता-पिता या किसी एक ही के गुण ग्रहण करे बल्कि दो या चार पीढ़ी पूर्व के गुण भी उसमें आ सकते हैं।

ग्रिगर मैण्डल के अनुसार वंशानुक्रम का मौलिक या प्रारम्भिक अर्थ, माता-पिता द्वारा बच्चों में गुणों के प्रेषित होने से है। प्राचीन काल में विद्वानों का यह विश्वास था कि बीज के गुण के अनुसार वृक्ष और फल उत्पन्न होते हैं अर्थात् माता-पिता के समान ही उसकी सन्तान होगी। इसी कारण गोरे माता-पिता की सन्तान से अधिकतर गोरी और काले माता-पिता की सन्तान से अधिकतर काली सन्तान, एक संगीत-कलाकार की सन्तानें संगीतात्मक गुणों से युक्त, एक वैज्ञानिक की सन्तानें विज्ञान सम्बन्धी गुणों से युक्त होंगी।¹ कई व्यक्ति वंशानुक्रम का अर्थ “पैतृक समानता” से लेते हैं।

पीटरसन ने अपने पूर्वजों के गुणों को जनक द्वारा प्राप्त करने की क्रिया को आनुवंशिकता माना है।² इसी प्रकार डिकमेयर ने पीटरसन के मत को स्वीकार करते हुए कहा कि वंशानुगत कारक वह जन्मजात विशेषताएँ हैं जो बालक में जन्म से पाई जाती हैं।

प्राणी के विकास में वंशानुगत शक्तियाँ प्रधान तत्त्व होने के कारण प्राणी के मौलिक स्वभाव और उसके जीवन चक्र की गति को नियन्त्रित करती हैं। इन वंशानुगत तत्त्वों को प्राणी की संरचना और क्रियात्मकता से सम्बन्धित सम्पत्ति और ऋण समझना चाहिये क्योंकि इन्हीं तत्त्वों की सहायता से प्राणी अपने विकास के लिए जन्मजात तथा अर्जित क्षमताओं का उपयोग कर पाता है। एस.एस. सर्वेन, गाल्टन, पी. गिजबर्ट सभी विद्वानों ने पूर्वजों द्वारा संचालित जीन्स द्वारा लक्षणों के निर्धारित करने का आधार ही वंशानुक्रम है, ऐसा माना है।

कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार वंशानुक्रम जन्मजात वैयक्तिक गुणों का योगफल है। जे.एफ. क्यूबर ने इस विषय से सम्बन्धित अपना मत बताया कि वंशानुक्रम के अन्तर्गत वे समस्त गुण एवं विशेषताएँ आती हैं, जो एक व्यक्ति में निहित हैं क्योंकि वह जातियों का नमूना है।

1. डॉ. गोपाल कृष्ण अग्रवाल : समाजशास्त्र, अध्याय-5, पृष्ठ 61.

2. Peeterson : Education Psychology, Page 352.

बील्स तथा हाइजर ने वंशानुक्रम का अर्थ साधारणतया उस प्रक्रिया से लिया है जिसके अनुसार कुछ वस्तुएँ अपने ही समान वस्तुओं को जन्म देती हैं।¹

कुछ विद्वानों ने व्यक्तित्व निर्माण में केवल वंशानुक्रम को महत्ता दी है। उनका कहना है कि विशिष्ट व्यक्ति क्या सीखेगा, कैसे सीखेगा व कितना सीखेगा यह उसकी शारीरिक क्षमताओं पर निर्भर करेगा, जो कि जन्म के द्वारा निश्चित होती है। इस सम्प्रदाय के विद्वानों का विचार है कि विद्वत्ता, विवेक, चोरी, मूर्खता आदि विशेषताएँ पैतृकता के आधार पर मिलती हैं वातावरण का उसमें कोई महत्त्व नहीं होता। इस सम्प्रदाय को मानने वालों में मैक्डूगल, सीशॉर, हैरॉल्ड, गिस्ट विले प्रमुख हैं।

वंशानुक्रम उन बीज कोषों का वितरक है जिससे व्यक्ति की शारीरिक बनावट एवं विभिन्न योग्यताएँ निर्धारित होती हैं किन्तु ये योग्यताएँ व्यक्ति को समुचित वातावरण मिलने पर ही विकसित व व्यक्त हो पाती हैं।

व्यक्ति के विकास में उन सभी गुणों का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है जो उसे वंशानुक्रम से मिलते हैं। वंशानुक्रम के प्रभाव को हम पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. **लिंग-भेद**—वंशानुक्रम का प्रभाव लिंग-भेद पर पड़ता है। XY गुणसूत्र के संयुक्त होने से लड़के का निर्माण व XX गुणसूत्र के संयुक्त होने से लड़की का जन्म होता है। इस पर वातावरण का प्रभाव कदापि नहीं पड़ता।

2. **शारीरिक लक्षण**—व्यक्ति के जिन शारीरिक लक्षणों का सम्बन्ध गुणसूत्र से है, वह सभी वंशानुक्रम से प्रभावित होते हैं। व्यक्ति की लम्बाई, चेहरे की बनावट, अंगुलियों का आकार एवं लम्बाई, रंग, श्रवण क्षमता, मधुर कंठ, सभी सप्तकों में गाने क्षमता इत्यादि सभी का सम्बन्ध गुणसूत्र से हैं। यह सभी विशेषताएँ व्यक्ति में भिन्नता लाती हैं। सूक्ष्म श्रवण शक्ति यद्यपि वंशानुक्रम से प्रभावित होती है पर यह अन्य कई कारणों से भी प्रभावित होती है, जैसे—आयु, वातावरण में शान्ति या शोरगुल, उत्पन्न हुये स्वर की तीव्रता कम या अधिक होना आदि।

3. **व्यक्तित्व पर प्रभाव**—“व्यक्तित्व विशेष सामाजिक स्थितियों का कार्य है।”² यह विचार आगबर्न और निमकाफ ने व्यक्तित्व पर आनुवंशिकता के प्रभाव के सम्बन्ध में बताये हैं। यह बात उन परिवर्तनों से भी स्पष्ट होती है जो व्यक्तियों के व्यक्तित्व में देखे जाते हैं जबकि उनकी शारीरिक रचना अपरिवर्तित रहती है। साधारणतया लिंग भेद के कारण स्त्री-पुरुष के व्यक्तित्व में मौलिक अन्तर माना जाता है। जैसे स्त्री को सहनशील, कोमल, स्नेह व वात्सल्य की प्रतिमा आदि माना जाता है।

4. **स्वभाव पर प्रभाव**—स्वभाव बहुत कुछ मनुष्य के आन्तरिक चालकों पर निर्भर होता है। वैज्ञानिकों द्वारा खोजों ने यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि मानव स्वभाव की जिन अनेक बातों को पहले परिवेश के प्रभाव के कारण समझा जाता था, वे ग्रन्थियों के स्रोत के कारण हैं।

1. डॉ. गोपाल कृष्ण अग्रवाल : समाजशास्त्र, पृष्ठ 59.

2. आगबर्न और निमकाफ : सोशियोलोजी, पृष्ठ 126.

5. बुद्धि पर प्रभाव—बुद्धि, प्रतिभा पर वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है। किन्तु इसका सम्बन्ध प्रजातीय नहीं होता। प्रयोगों से यह निष्कर्ष निकलता है कि नीग्रो व गोरे लोगों की बुद्धि में विशेष अन्तर नहीं है।

हमारे भारतीय संगीत में सांगीतिक योग्यता को वंशानुगत मानने वाले विद्वान इस योग्यता को जन्मजात मानते हैं। उनका कथन है कि इस पर परिवेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। ऐसे विद्वान संगीतज्ञों के परिवारों के अध्ययन के आधार पर अपने कथन की पुष्टि करते हैं। इन विद्वानों का मानना है कि वंश-परम्परा के द्वारा ही छिपे हुए रुझान, गुण व योग्यता अगली पीढ़ियों में हस्तान्तरित होते हैं। जैसा कि Hurst ने बताया है कि जब माता-पिता दोनों सांगीतिक होते हैं, तो उनके सभी बालकों में सांगीतिकता पाई जाती है और जब दोनों में से कोई भी सांगीतिक नहीं होता, तो उनके कुछ बालक ही सांगीतिक पाए जाते हैं अथवा कोई भी बालक सांगीतिक नहीं होता। यदि माता-पिता दोनों में से कोई एक सांगीतिक है, तो उनका कोई भी बालक सांगीतिक नहीं होगा या उनके बालकों में पचास प्रतिशत सांगीतिकता होगी।

Galton ने भी तीन सौ परिवारों के नौ सौ सत्तानवे व्यक्तियों पर अपने परीक्षण करके यह बताया कि सांगीतिक प्रतिभा एक-के-बाद-एक परिवारों में आती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सांगीतिक प्रतिभा वंशानुगत होती है।

Amram Scheinfeld ने “Juilliard Graduate School of Music” के छात्रों व समकालीन संगीतज्ञों पर परीक्षण किए, जिसमें उसने यहूदी मेनूहिन व Artur Rubinstein कलाकारों को भी सम्मिलित किया। उसने इनका उल्लेख अपनी पुस्तक ‘You and Heredity’ के प्रथम संस्करण में किया है। उसने अपने अध्ययन से यह बताया कि, जब माता-पिता दोनों सांगीतिक प्रतिभावान होते हैं, उनके बालकों में सत्तर प्रतिशत सांगीतिक प्रतिभा होती है। जहाँ माता-पिता में से कोई एक सांगीतिक प्रतिभा रखता है, वहाँ उनके बालकों में साठ प्रतिशत सांगीतिक प्रतिभा होती है और जहाँ माता-पिता दोनों में से कोई भी सांगीतिक प्रतिभा नहीं रखता, वहाँ उनके बालकों में केवल पन्द्रह प्रतिशत ही सांगीतिक प्रतिभा होती है।

जर्मन शोधकर्ता Haecker व Jienhen ने अपने परीक्षण में यह बताया है कि बालकों में सांगीतिक योग्यता पूर्वजों से भी आती है।

Seashore, Schoen और Kwalwasser भी सांगीतिक योग्यता को वंशानुगत मानते हैं।

Schoen के अनुसार—“Musical talent is first an inborn capacity, Artistic musical performance rests ultimately on innate, inborn equipment.”¹

Seashore का कथन है—“Not only is the gift of music itself inborn, but it is inborn in specific types.”²

1. Rosamund Shutter : The Psychology of Musical Ability, P. 113.

2. वही, पृष्ठ 113.

हरवर्ट विंग ने सांगीतिक योग्यता के परीक्षण वालकों पर किए और यह निष्कर्ष निकाला कि वातावरण से अधिक महत्वपूर्ण वंश-परम्परा है। ड्रेक भी जन्मतः तथ्यों को अधिक महत्व देते हैं।

कई विद्वानों ने पाश्चात्य संगीतज्ञों के परिवारों पर जैसे Bach family, French Couperin family और Dutch Brandlsbuys family पर अध्ययन किया व अपने अध्ययनों से उन्होंने सांगीतिक योग्यता में वंशानुगतता के महत्व पर अधिक बल दिया है। प्रायः सभी मानते हैं कि गले की बनावट, आवाज को मधुर करने के लिए गूँजयन्त्र आदि वंशानुक्रम पर आधारित हैं। इसी प्रकार वाद्य संगीत में वाद्यों को बजाने के लिए हाथ की बनावट, अंगुलियों की बनावट, कलाई की गतिशीलता, वंशानुक्रम पर निर्भर करती है किन्तु कुछ अंश में परिवर्तन अभ्यास के द्वारा भी किया जा सकता है। नृत्य में नयन-नकश, शारीरिक संरचना और रंग आदि वंशानुक्रम से सम्बन्धित तत्त्व हैं। इस प्रकार वंशानुक्रम की धारणा का संगीत में बहुत महत्व है।

2. परिवेश—स्विगवुड की दूसरी महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय धारणा परिवेश या वातावरण की है। परिवेश से उनका आशय मुख्यतः प्राकृतिक परिवेश से है। लेकिन उसके अन्तर्गत वे सामाजिक परिवेश को भी शामिल करते हैं। उन्होंने लिखा है कि—

“दुनिया में मनुष्य अकेला नहीं होता; उसके चारों ओर प्रकृति होती है, समाज होता है। उसकी आदिम प्रवृत्तियाँ तथा प्रजातिगत विशेषताएँ भौतिक-सामाजिक परिस्थितियों, घटनाओं आदि से प्रभावित होती हैं, कभी पुष्ट होती हैं तो कभी बदलती हैं।”

मानव-प्राणियों की रचना एक समान होने पर भी हमें उसमें भिन्नता दिखाई देती है। सभी की मनोवृत्तियाँ, आदर्श तथा व्यवहार के साथ-साथ उनकी संस्कृति, खान-पान, रुचि आदि में भी अनेकरूपता परिलक्षित होती है। इन सभी भिन्नताओं का कारण है परिवेश या वातावरण।

परिवेश का अर्थ साधारण भाषा में अपने चारों ओर की परिस्थितियों से है। प्राणी के अतिरिक्त जो भी वस्तुएँ उसको प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं, वे परिवेश के अन्तर्गत आती हैं।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री रॉस इस अर्थ से सहमत हैं कि आन्तरिक शक्ति के अतिरिक्त बाहरी शक्ति, जो हमें प्रभावित करती है वह वातावरण के अन्तर्गत आती है।¹

प्राणी विज्ञान के अनुसार वातावरण से प्राप्त गुणों का हस्तान्तरण सन्तानों में नहीं माना गया है। इनके अनुसार वातावरण शब्द का अर्थ उन्हीं तत्वों से है जो पशुओं तथा वनस्पति पर बाहर से प्रभाव डालते हैं। प्राणी अपने बाहरी वातावरण से ऊर्जा एवं पदार्थ को ग्रहण करता है। यहाँ प्राणी विज्ञान का परिवेश से तात्पर्य प्राकृतिक-परिवेश से है।

1. E.A. Ross : Sociology and Social Problems, Page 35.

समाजशास्त्री रॉस के विचारों का समर्थन करते हुए डगलस और हॉलेण्ड ने परिवेश के अन्तर्गत बाह्य शक्तियों को तो माना ही है, साथ ही यह भी माना है कि परिवेश व्यक्ति के जीवन, स्वभाव, व्यवहार, अभिवृद्धि, विकास और प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता है।¹

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ग्राहम ने परिवेश को “सामाजिक वंशानुक्रम” (Social Heritage) की संज्ञा दी है। वंशानुक्रम के अन्तर्गत गुणों का सम्बन्ध पैतृकों से होता है। पैतृक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते हैं जबकि सामाजिक गुणों के हस्तान्तरण को समाज में भाग लेने और शिक्षा से माना है। आपने सामाजिक परिवेश पर इतना अधिक जोर दिया है कि उसे “सामाजिक वंशानुक्रम” माना है।²

अतः प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से परिवेश का प्रभाव हम पर पड़ता है किन्तु गिस्बर्ट ने परिवेश के अप्रत्यक्ष प्रभाव को नहीं माना। उनका मानना है कि परिवेश वह सब कुछ है जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे हुए है और उसको प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है।³

प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर के अनुसार—पर्यावरण जीवन के आरम्भ से ही नहीं, वर्न् बीज कोशिकाओं तक में विद्यमान रहता है, तात्पर्य यह है कि गर्भकाल में ही बच्चे को एक पर्यावरण मिल जाता है जो उसके भावी-व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक अथवा बाधक होता है। यह वातावरण माँ के कार्य करने की दशाओं, उचित भोजन, आराम, स्वच्छता, प्रकाश, स्वच्छन्दता तथा विचारों द्वारा प्रभावित होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि पर्यावरण उन समस्त भौतिक व अभौतिक तथा अप्रत्यक्ष दशाओं का सम्मिलित रूप है जो प्राणी के जीवन को चारों ओर से प्रभावित करता है।

मैकाइवर ने वातावरण की व्यापकता को इस प्रकार व्यक्त किया है—“वह (परिवेश) जीवन के प्रत्येक भाग में अन्तर्विष्ट है। वह मनुष्य की शक्तियों को निर्देशित या विमुक्त, उत्साहित या हतोत्साहित करता है; वह उसकी वाणी को ढालता है, वह उसके ढाँचे को सूक्ष्म रूप से परिवर्तित करता है। न केवल इतना ही बल्कि इससे भी अधिक, पर्यावरण प्राणी के अन्तःस्थल में निवास करता है। वह उसके मस्तिष्क और भुजाओं में अंकित होता है। वह उसके रक्त में कार्य करता है।”⁴

समाजशास्त्री मैकाइवर ने परिवेश को दो उदाहरणों से समझाया है—

1. आपने सर्वप्रथम एक बीज का उदाहरण देकर बताया कि एक बीज को एक पौधे के रूप में विकसित होने में अनेक तत्त्व प्रभावित करते हैं, जैसे—भूमि, वर्षा, धूप, वायु, हल, बैल और कृषक आदि। इस पौधे का फलना-फूलना अथवा असमय मुरझा जाना, उसके पूरे आकार का न बनना अथवा दुर्बल होना, यह सब वातावरण के अनुरूप अथवा प्रतिकूल होने पर निर्भर करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बीज को छोड़कर वे सभी दशाएँ, जो इसको चारों ओर से घेरे हुए हैं, बीज का पर्यावरण हैं।

1. Duglous and Holand : Education Psychology, Page 53.

2. Graham Walls : The Great Society, Page 14.

3. Gisbert : “Fundamentals of Sociology”. Page 240.

4. आर.एम. मैकाइवर : एलीमेंट्स ऑफ सोशल साइन्स, पृष्ठ 43.

2. दूसरे उदाहरण में आपने मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक पक्ष पर अधिक प्रकाश डाला है। इनके अनुसार यदि खेलने के विचार से हम टेनिस के मैदान में जायें तो खेल के साथ-साथ आसपास की कुर्सियाँ, मेज, पर्दे, पर्दों का रंग, दर्शकों की तालियाँ, हवा, धूप, छाँव भी हमारा पर्यावरण होगा।¹

अतः यह कह सकते हैं कि व्यक्ति के विकास में पर्यावरण या परिवेश के सहयोग का अपना अलग ही महत्वपूर्ण स्थान है। परिवेश का प्रभाव व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त रहता है।

परिवेश या वातावरण हमें कई प्रकार के मिलते हैं। कुछ लोग अपनी रुचि, आकांक्षा के आधार पर उसका चयन करते हैं तथा स्वयं के प्रयत्नों द्वारा उन स्थितियों से सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ—अच्छे गुरु के अभाव में कुछ व्यक्ति संगीत सीख नहीं पाते किन्तु जो कर्मवादी हैं वे कष्टों को सहन कर किसी भी स्थान पर अच्छे गुरु से शिक्षा प्राप्त कर निष्णात बन जाते हैं।

उचित या इच्छित परिवेश देने के लिए आरम्भ से ही प्रयत्न करना पड़ता है। यदि माता-पिता अपने बच्चे को संगीतज्ञ बनाना चाहते हैं तो आवश्यक है कि उसे संगीतात्मक वातावरण आरम्भ से मिले अर्थात् गर्भावस्था से लेकर जन्म के बाद तक उसे संगीतात्मक परिवेश में रखा जाए। इसी को **आगबर्न** और **निमकॉफ** ने “मनुष्यकृत पर्यावरण” कहा है और **मैकाइवर** ने “मनुष्य द्वारा संशोधित वातावरण” माना है और इसी को **लैण्डिस** ने ‘सामाजिक वातावरण’ और ‘सांस्कृतिक वातावरण’—इन दो भागों में विभक्त किया है और **गिस्वर्ट** ने इसे ही ‘कृत्रिम वातावरण’ कहा है क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यक्ति के प्रयत्नों एवं क्रिया द्वारा वातावरण को बदला जा सकता है या इच्छित वातावरण प्राप्त किया जा सकता है।

गिस्वर्ट ने कला के लिए सामाजिक वातावरण को महत्वपूर्ण माना है। सामाजिक वातावरण का महत्व विशेष रूप से संगीत-क्षेत्र में है क्योंकि सामाजिक वातावरण में ही गुरु की स्थिति है जो कि हमारी संगीत-कला को सुन्दर व उत्तम शिक्षा द्वारा चर्मोत्कर्ष पर पहुँचाता है।

परिवेश को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. भौतिक पक्ष 2. सामाजिक पक्ष।

भौतिक पक्ष के अन्तर्गत हम प्राकृतिक वातावरण को ले सकते हैं। जिसके अन्तर्गत जलवायु, वर्षा, मैदानों का तापक्रम आदि आते हैं। इस पर मनुष्य के द्वारा किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं हो सकता। **मैकाइवर** ने इसे ही ‘मनुष्य द्वारा असंशोधित पर्यावरण’ कहा है।

सामाजिक पक्ष में संरचनात्मक सामाजिक सम्बन्धों के सभी स्वीकृत रूप, जैसे—लोकरीतियाँ एवं संस्थाएँ मानी गई हैं। उपर्युक्त समस्त वातावरणों का प्रभाव संगीत-क्षेत्र पर भी है। सांगीतिक योग्यता में वातावरण के महत्व को मानने वाले विद्वानों का कथन है कि वातावरण का प्रभाव बालक के सभी गुणों पर देखा जा सकता है।

Reynolds ने सांगीतिक योग्यता के लिए वातावरण के महत्त्व को स्वीकारते हुए अपने विचार दिए हैं कि बालक के सांगीतिक रुझान का सीधा सम्बन्ध सांगीतिक वातावरण से जुड़ा हुआ है। वंशानुगतता की दृष्टि से संगीतज्ञों की जीवनियों पर किये गये अध्ययन भी वातावरण के महत्त्व का समर्थन करते हैं। इस सिद्धान्त अर्थात् Reynolds का यह मानना कि जिसे सांगीतिक योग्यता वंशानुगत प्राप्त हुई है, उसे वातावरण तो घर में स्वतः ही प्राप्त होता है, के अनुसार सांगीतिक योग्यता पर सकारात्मक रूप से वातावरण का प्रभाव पड़ता ही है।

फ्रैंस बर्थ ने भी वातावरण के महत्त्व को स्वीकार किया है। उसने इर्विन व मोजार्ट का उदाहरण देते हुए यह बताया कि Erwin Nyiregyhazi नामक बालक पर Revesz ने सांगीतिक योग्यता का अध्ययन कर यह सम्भावना व्यक्त की कि वह एक अच्छा संगीतज्ञ बनेगा, क्योंकि इर्विन में मेलोडी गाने की असाधारण प्रतिभा तीन वर्ष की आयु में ही प्रस्फुटित हुई, जबकि वह ढंग से बोलता भी नहीं था। लेकिन बाद में वह इतनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सका या बहुत बड़ा संगीतज्ञ नहीं बन सका, जितना कि उसके लिए पूर्वानुमान किया गया था। जबकि प्रसिद्ध संगीतज्ञ मोजार्ट ने चार वर्ष की आयु से ही Clavier सीख लिए व पाँच वर्ष की आयु तक वह थोड़ा-थोड़ा Composition करने लगा और बहुत बड़ा संगीतज्ञ बना। इर्विन व मोजार्ट की सांगीतिक योग्यता का असमान विकास उन दोनों को उपलब्ध अलग-अलग वातावरण के कारण हुआ।

ऐसे अन्य अनेक उदाहरण हैं, जहाँ सांगीतिक योग्यता वंशानुगत होने पर भी उचित वातावरण न मिलने से वह विकसित न हो सकी। कई बार ऐसे दृष्टान्त भी मिलते हैं, जबकि सांगीतिक योग्यता माता-पिता या पूर्वजों में न होते हुए भी उनके बालक में वातावरण से आ जाती है और वे अपनी योग्यता को विकसित कर प्रसिद्धि प्राप्त कर जाते हैं। इस दृष्टान्तों में प्रसिद्ध संगीतज्ञ उस्ताद अलाउद्दीन खाँ का नाम उल्लेखनीय है, जिन्हें सांगीतिक प्रतिभा वंश-परम्परा से प्राप्त नहीं हुई थी, अपितु परिस्थितियों से कठोर संघर्ष कर उन्होंने उसे प्राप्त किया था, जिसके कारण कालान्तर में उन्हें बहुत प्रसिद्धि मिली।

संगीत-क्षेत्र में नियन्त्रित वातावरण घरानेदार-गायकी, गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत देखने को मिलता है। आज भी प्रतिष्ठित कलाकार घरानेदार संगीतज्ञ ही हैं। घरानेदार-गायकी में पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही कला चलती रहती है चाहे वह वादन हो या गायन। पहले अपने बच्चे को उसी कला को सीखने के लिए बाध्य किया जाता था। किन्तु आधुनिक काल में बच्चे को जन्म से ही संगीतात्मक परिवेश घर पर ही मिलता है जिससे बच्चा शीघ्र ही संगीतात्मक सूक्ष्म बारीकियों को ग्रहण कर लेता है तथा संगीत जगत में कलाकार का सम्मान प्राप्त करता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण इटावा का उस्ताद सुरजनसिंह का घराना है।

गुरु-शिष्य परम्परा भी नियन्त्रित वातावरण के अन्तर्गत ही आती है। क्योंकि जिस व्यक्ति को संगीत में रुचि होती है, वह किसी भी घराने के गुरु से सीखने के लिए उन्हीं के घर पर रहकर वर्षों तक संगीत-शिक्षा ग्रहण करता है। प्राचीन समय में शिष्य को किसी दूसरे घराने के कलाकार के संगीत को सुनने की भी मनाही थी।

अनियन्त्रित परिवेश के अन्तर्गत किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता। व्यक्ति अपनी इच्छा से कार्य करे, अपनी रुचि की कला को अपनाने के साथ ही गुरु से संगीत-शिक्षा प्राप्त करते समय उसे अन्य कलाकारों की संगीत-कला को सुनने की स्वतन्त्रता हो आदि।

सामाजिक वातावरण का व्यक्ति के विकास में बहुत बड़ा हाथ रहता है। अरस्तू का कथन है कि—“मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।”¹ सामाजिक वातावरण के विभिन्न पक्षों—परिवार, शिक्षण संस्थायें, व्यवसाय, पड़ोस, क्रीड़ा, समूह, सामाजिक रीति-रिवाज, परम्परायें आदि सभी का व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

संगीत के क्षेत्र में भी सामाजिक परिवेश अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जिस कला को सामाजिक मान्यता मिली होती है उसी को व्यक्ति अधिक सीखता है। समाज भी कलाकार को अपनी कला को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करता है। समाज द्वारा प्रोत्साहन मिलने पर कलाकार अपनी कला को अधिक बढ़ायेगा।

पारिवारिक परिवेश का भी संगीत-कला पर प्रभाव पड़ता है। यदि संगीत-कलाकार का पारिवारिक परिवेश तनावपूर्ण है तो वह व्यक्ति कितनी ही सफल प्रस्तुतिकरण की कोशिश करे पर वह इतनी सफलता संगीत-क्षेत्र में नहीं पा सकेगा जितना कि तनाव रहित पारिवारिक परिस्थितियों वाला कलाकार। तनाव व्यक्ति पर हावी नहीं होना चाहिये। अगर यह हावी हो गया तो संगीत-कला के प्रस्तुतिकरण में निम्नता आ जायेगी।

इस प्रकार से वातावरण या परिवेश संगीत का महत्वपूर्ण पक्ष है। मानव को वातावरण के अनुकूल ही स्वयं को ढालना पड़ता है। संगीत-कला के क्षेत्र में तो यह अति आवश्यक है कि कलाकार वातावरण के अनुरूप ही अपनी कला का विकास करे।

3. युग—तीसरी समाजशास्त्रीय धारणा युग की है। इस धारणा के मूल में युग-चेतना का विचार है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक तेन के अनुसार—एक युग में कुछ प्रधान विचार होते हैं, उनका एक बौद्धिक साँचा होता है जो पूरे समाज के चिन्तन को प्रभावित करता है। हर युग में मनुष्य की एक परिकल्पना या अवधारणा होती है। मनुष्य की यह परिकल्पना आदर्श का रूप धारण कर लेती है, जैसे कि—मुगलकालीन संगीत, साहित्य व चित्रकला में शृंगारिकता का बाहुल्य।

यहाँ मुस्लिम युग के संगीत को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार कर लेना आवश्यक है। स्थूल रूप से तत्कालीन समाज—हिन्दू और मुसलमान—इन दो वर्गों में विभक्त था। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। इस राजनीतिक पराजय ने हिन्दू के नैतिक विश्वासों को जर्जर कर दिया था। मुस्लिम संस्कृति ने भारतीय-जीवन में प्रवेश कर लिया था और भारतीय लोगों के सामने दो संस्कृतियाँ उपस्थित हो गई थीं। वे दोनों संस्कृतियों के बीच में से गुजर रहे थे। वे निश्चय न कर पाये कि नवीन संस्कृति को जिसने बाहर से प्रवेश किया है, उसको अपनाया जाये अथवा नहीं, और कुछ लोगों ने न अपनाये का निश्चय भी कर लिया था, किन्तु उनकी आवाज को मुस्लिम शासकों ने दबा दिया था। हिन्दुओं को जजिया-कर देना

पड़ता था। तीर्थ स्थानों के मन्दिर तोड़े जा रहे थे और उनकी जगह मस्जिदें खड़ी की जा रही थीं। वे ही राजपूत जो कभी साम्राज्य के दृढ़ स्तम्भ थे अब अनादृत हो रहे थे।

इन परिस्थितियों ने विलास और अनैतिकता की खूब वृद्धि की। वस्तुतः वैभव और विलास का चोली-दामन का साथ है। धन-ऐश्वर्य की अत्यधिक वृद्धि प्रायः मनुष्य को विलासी बना देती है और जब विलास निर्बाध गति से आगे बढ़ता है तब उसके प्रवाह में नैतिकता बह ही जाती है। राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की विषमता का सामना न कर सकने के कारण मध्यमवर्ग भी भोगविलास में ही सुख-चैन ढूँढ़ रहा था। जहाँ तक उच्चवर्ग का प्रश्न है अमीरों, सामन्तों और जागीरदारों के सम्मुख मुगल दरबार के ठाटबाट और विलासी जीवन का आदर्श उपस्थित था ही। मुगल-सेना के युद्ध में जाने पर भी जहाँ वेश्याओं का दल साथ-साथ चलता हो वहाँ युद्ध का वातावरण न बनने पर आश्चर्य ही क्या ? कामिनी, कांचन और कादम्ब का जी भर कर उपभोग उस युग का परम पुरुषार्थ था। राजा, रईस, सामन्त सभी इसी रंग में सराबोर थे। उनके दरबारों में भी सुरासुन्दरी के साथ शृंगारिकता नग्न नृत्य कर रही थी। औरंगजेब की कट्टर और अन्धी धर्मपरायणता भी विलासिता के इस प्रवाह को रोकने में समर्थ न हो सकी। अतः धार्मिक आदेशों का उपहास करते हुए हिन्दू-मुसलमान सभी शराब की आग को पानी की तरह गले से नीचे उतारने लगे। राजा, रईस, सामन्त इत्यादि रंगेरिलियों में मस्त थे। अपनी विलास-वृत्ति को और भी अधिक उत्तेजना प्रदान करने की लालसा से ही वे ललित कलाओं के प्रेमी एवं कवियों, गायकों अथवा अन्य कलाकारों के आश्रयदाता बन गए थे। इस प्रकार गायकों से भी यह बात छिपी नहीं थी। वे ये भी जानते थे कि विलास की जिस सीमा तक यह सामन्त पहुँच चुके हैं तथा जिस विलासी वातावरण से ये लोग निरन्तर परिवेष्टित हैं उसे देखते हुए शृंगारिकता की कितनी बड़ी मात्रा, कितना गहरा नशा अपनी कला के प्याले में ढालकर उन्हें पिलाना है।

अतः गायकों एवं कवियों को अपनी कला द्वारा खुले शृंगार की प्रवाहिणी प्रवाहित करने में कोई संकोच न रहा। जैसा कि उमेश जोशी ने अपनी पुस्तक में विचार व्यक्त किया है—“शृंगारिक वातावरण, भोग-विलास-प्रधान वायुमण्डल, जो एकदम बाहर से आया था, भारतीय संगीत में समाविष्ट होने लगा।”

तत्कालीन परिस्थितियों में उस युग का संगीत भी स्वामी हरिदास, तानसेन इत्यादि की गम्भीर ध्रुपद शैली को छोड़कर ख्याल गायकी में परिवर्तित हो गया था। तत्कालीन संगीत ध्रुपद-कला-गरिमा को छोड़ता हुआ कल्पना की उड़ान और चमत्कार प्रदर्शन में परिवर्तित होता दृष्टिगोचर होता है।

मुस्लिम-प्रवेश-युग में भारतीय संगीत आत्मिक उत्थान के लिए न होकर केवल मनोरंजन का साधन मात्र ही रह गया था। ख्याल-शैली में भी शृंगारिक रचनायें होना स्वाभाविक था। तत्कालीन नरेशों की शृंगारिक अभिरुचि की तृप्ति में ख्याल-शैली सक्षम थी। ख्याल-रचनाओं में प्रायः निम्नस्थ भावों की अभिव्यक्ति हुई—

1. प्रिय-वियोग-जन्य वेदना या प्रिय-मिलन के उल्लास की अभिव्यक्ति।
2. पायल, घुँघरू, बिछुआ आदि आभूषणों की रुझनों के कारण रात्रि में नायिका का प्रियतम के पास जाने में असुविधा प्रतीत होना।

3. प्रिय-मिलन में सास-ननद द्वारा उपस्थित व्यवधान ।
4. सौतों के कारण उपस्थित बाधा ।
5. सखियों से प्रिय-मिलन की उक्तियाँ पूछना ।
6. प्रिय को निर्मोही होने का या अन्य स्त्री पर अनुरक्त होने का उपालम्भ देना ।
7. प्रकृति के उद्दीपनकारी प्रभाव का उल्लेख करना ।

उपर्युक्त भावों का ख्याल-रचना में होना स्वाभाविक ही था क्योंकि मुसलमानों के उर्दू, फारसी साहित्य की रचनाओं में दार्शनिक उदात्त गाम्भीर्य की अपेक्षा लौकिक शृंगार तथा जीवन के प्रति मांसल रुझान और मुसलमान राजाओं में ऐहिक सन्तुष्टि की भावना अधिक थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुसलमान शासन एवं राज-दरबारों तथा उनकी समकालीन कला-रचनाओं में जीवन की बाहरी शान-शौकत एवं भौतिक ऐश्वर्य में आत्मश्लाघा की भावना अधिक थी। फलस्वरूप भौगोलिक परिवेश एवं उनकी रंगीन संस्कृति की पृष्ठभूमि में संगीत का स्वरूप और उनकी बंदिशें भी तत्कालीन रंगीनपन से प्रभावित हैं। मुसलमान परिवेश एवं दरबारी प्रभाव के कारण ख्याल-शैली में गायी जाने वाली बंदिशें भी अधिकांशतः संसारोन्मुख शृंगारिकता से बोझिल थीं।

अतः यह समाजशास्त्रीय धारणा निर्विवाद सत्य है कि किसी काल-विशेष की कला अपनी युग-परिस्थितियों से अनिवार्यतः प्रभावित हुआ करती है। जैसा कि मुस्लिम-युग में विलासमय वातावरण के कारण प्रत्येक कला में शृंगारिक-विलासितापूर्ण विचार थे। पूरे समाज का चिन्तन विलासी वातावरण से प्रभावित था।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि युग के प्रधान विचार का प्रसार जीवन के सभी क्षेत्रों में होता है, व्यवहार में भी और चिन्तन में भी। फिर दूसरा नवीन विचार कैसे आता है ? इसके उत्तर में विद्वान तेन कहती हैं कि “एक लम्बे समय के बाद ऐसे विचार का धीरे-धीरे हास होता है और कोई नया विचार विकसित होकर प्रधान विचार बन जाता है। यह दूसरा विचार पहले से जुड़ा होता है। साथ ही समकालीन परिवेश से जुड़कर नये प्रकार के चिन्तन और सृजन को प्रेरणा देता है।”

इस विचार को हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब मुगलकालीन संगीत शैली ‘ख्याल’ में शृंगारिक रचनायें अधिक मात्रा में हो गयीं तब ख्याल-शैली को हेय समझा गया। यहाँ तक कि कुछ लोगों ने इसे सभ्य समाज के लिए अनुपयुक्त बताते हुए “क्षुद्र प्रकृति की गायकी” भी कहा है। ख्याल-गायन को काव्य-स्तर के कारण हेय समझा जाता था।

आधुनिक युग में ख्याल-संगीत की प्रतिष्ठा समाज में पुनर्स्थापित करने के अनेक विध-प्रयासों में से एक था शृंगारिक एवं वीभत्स साहित्य को बदलकर उसके स्थान पर भक्ति-रचनाओं का उपयोग करना। ख्याल-गायकी के प्रारम्भिक चरण में सामान्यतः नायक-नायिका, प्रियमिलन की आशा, सास-ननद के झगड़े, शृंगारिक माधुर्य-पूर्ण अदायें इत्यादि ही मुख्य विषय थे। इस विषयों को बदलना जरूरी है या नहीं ? इस प्रकार की विचारधारा प्रवाहित हुई तथा उसके फलस्वरूप संत-कवियों के पद ख्याल-शैली में लाये गये। क्योंकि

ख्याल-गायकी का जो प्रारम्भिक विषय था, वह दरबारी समाज व राजाओं द्वारा पसन्द किया जाता था किन्तु दूसरी ओर भारतीय संस्कारों में पल्लवित श्रोता-समाज एवं अभिजात्य संस्कारों का वर्ग इसे प्रोत्साहन नहीं देना चाहता था। अतः ख्याल-शैली में कवियों की बन्दिशों को गाया जाने लगा।

सर्वप्रथम पं. विष्णुदिगम्बर पलुस्कर ने गीतों में से शृंगाररस के अश्लील एवं गन्दे शब्दों को हटाकर भक्तिरस को स्थान दिया। दरबारी-गायकों द्वारा जो निरर्थक गीतों का प्रचार किया गया था उसके स्थान पर पण्डित जी ने सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि भक्तों के भजनों को विभिन्न रागों में बाँधकर नये ख्यालों का सृजन किया और शास्त्रीय संगीत को नवीन दिशा में मोड़ दिया।

अतः उपर्युक्त समाजशास्त्रीय विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि—प्रजाति, परिवेश और युग—संगीत के विकास के कारण हैं क्योंकि इन्हीं से भौतिक-सामाजिक आधारों का निर्माण होता है, जो संगीत कला के सभी वास्तविक कारणों और सम्भावित आन्दोलनों का मूल स्रोत हैं। संगीत-कला जिस मानसिकता से पैदा होती है वह मानसिकता—प्रजाति, परिवेश और युग से ही निर्मित होती है।

2. संगीत-कलाकार के महत्व का विश्लेषण

मेरे अनुसार संगीत के समाजशास्त्र का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है—संगीत-कलाकार के महत्व की पहचान। यह बात महत्वपूर्ण है कि आज के अनुभववादी समाजशास्त्र में कलाकार के नागरिक व्यक्तित्व की चिन्ता तो रहती है लेकिन उसके कलाकार या रचनाकार-व्यक्तित्व की उपेक्षा होती है; लेकिन यहाँ मैंने कलाकार की संवेदनशीलता, विचार की शक्ति और सामाजिक अंतर्दृष्टि को महत्व दिया है। किसी भी कला के साथ साधारणतया दो दृष्टिकोण हुआ करते हैं—

1. प्रथम, कला की रचना, तथा
2. दूसरा, कला का सामाजिक महत्व

कला की रचना का सम्बन्ध कलाकार से है। वह आत्म-अभिव्यक्ति के हेतु रचना करता है, अपनी सहज क्रियात्मक शक्ति के बल पर। कलाकार मात्र कला की उपासना ही नहीं; वरन् तपस्या के द्वारा ही कलाकार की उपाधि तक पहुँचने वाला व्यक्ति होता है। सृष्टि-निर्माता मनु भी एक कलाकार ही था। इसी कारण वह इस बहुविधाओं से युक्त सृष्टि का निर्माण कर सका। संगीत-कला का साधक अब केवल साधक नहीं रहा। अब वह समाज के सामने मंच पर आकर अपनी कलाओं को पेश करनेवाला कलाकार हो गया है। अपने को नहीं बल्कि दूसरों को देखनेवाला व्यक्ति ही कलाकार हो सकता है। मंच पर आनेवाला कलाकार जनसाधारण के लिए होता है। कलाकार के लिए प्रतिभा, कल्पना और अभ्यास का होना आवश्यक है।

(क) प्रतिभा—कलाकार की कला-सृजन की मूल सृजनात्मक (Creativity) शक्ति के रूप में प्रतिभा को प्रतिष्ठित किया गया है। भामह से लेकर पण्डित जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास—इन तीन प्रमुख सृजन-शक्तियों को मान्यता प्रदान की है।

कला-सृजन के लिए मनुष्य को दो साधन प्राप्त हैं—नैसर्गिक और यत्नज। प्रतिभा नैसर्गिक साधन है, तो अभ्यास यत्नज साधन है।

प्रतिभा कलाकार में नये-नये भावों का उन्मेष करने की क्षमता उत्पन्न करती है। इसका सम्बन्ध कलाकार की मौलिकता से भी है। प्रतिभाशाली कलाकार के लिए कला का कोई भी विषय पुराना नहीं होता, वह पुराने विषयों में भी अपनी प्रतिभा के चमत्कार से नयी क्रान्ति उत्पन्न कर सकता है जिसके कारण उसकी रचना नित्य-नूतन भावों से संयोजित होकर अपना प्रकाश करती है। इस प्रकार प्रतिभा नैसर्गिक शक्ति है जो प्राप्त संस्कारों के कारण सहजात होती है। इसी के द्वारा कलाकार एक नये विश्व की रचना करता है जो दृश्यमान जगत की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट होता है। प्रतिभा का नाम 'शक्ति' भी है। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—“कला-सृजन में अभ्यास आदि की अपेक्षा प्रतिभा की ही निर्णायक भूमिका होती है और जिसे व्युत्पत्ति कहा जाता है, वह कोई अन्य वस्तु नहीं, बल्कि प्रतिभा का ही एक रूप है, इस प्रकार प्रतिभा ही शक्ति है।”¹

प्रतिभा पर विचार करने वालों में आचार्य राजशेखर अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने प्रतिभा के दो भेद माने हैं—²

(1) कावयित्री प्रतिभा (2) भावयित्री प्रतिभा।

कावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध कलाकार के 'सृजन' से है। इसी सृजन को आवश्यक मानते हुए मानसराय चौधरी के अनुसार—

“Creativity is essentially an inter-psyche property of the individual which induces him to create or produce products that have :

- (a) Novelty, which evokes surprise in the observer,
- (b) Originality, which is inversely related to its change of occurrence in a given society,
- (c) Socio-economic and Cultural usefulness as adjudged by a consensus of opinion, and a
- (d) Self-consummatory character.³

सृजनशील कलाकार कला के चराचर को मूर्त रूप देकर उन्हें ऐसी विधि से वर्णित करते हैं जिसके कारण उनमें चमत्कार और सरलता का संचार हो जाता है।

भावयित्री प्रतिभा के समर्थक भावक कहलाते हैं, जो अपनी प्रज्ञा द्वारा अनुसृष्ट रचना के गुण-दोषों का मूल्यांकन करते हैं।

1. रस सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र : निर्मला जैन, पृष्ठ 393.

2. काव्य-मीमांसा, अनु. केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना 1954, पृष्ठ 29.

3. Studies in Artistic Creativity : Manas Ray Chaudhri, P. 6.

प्रतिभा के इन दोनों रूपों के अन्तर्सम्बन्ध को विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। एक ही व्यक्ति में दोनों प्रकार की प्रतिभाओं का मणिकांचन संयोग होता है। इस प्रकार प्रतिभा के रूप तथा प्रसार के विस्तार में लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। लेकिन यह तो अधिकांश विद्वान स्वीकारते हैं कि प्रतिभा के बिना सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकती। प्रतिभा के साथ-साथ 'अभ्यास' का भी महत्त्व है। 'अभ्यास' के द्वारा प्रतिभा को विकसित किया जा सकता है।

इस प्रकार प्रतिभा कलात्मक-सृजन-शक्ति है, जिसका सम्बन्ध कलाकार की अनुभूति, संवेदना और कल्पना से भी है।

(ख) कल्पना—कल्पना ही वह तत्त्व है, जिससे कलाकार को नूतन सृजन और अभिनव रूप-व्यापार-विधान की शक्ति प्राप्त होती है। अतः कल्पना कलाकार की सृजन-शक्ति है।

कल्पना में स्मरण-शक्ति तथा संवेदन-शक्ति का विशेष महत्त्व है, जिसकी कल्पना करते हैं, उसकी संवेदना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कहीं न कहीं अवश्य होती है। उसी कल्पना को कलाकार पुनः स्मरण कर नवीन रूप प्रदान करते हैं तब कल्पना का समावेश स्वतः ही हो जाता है। कल्पना को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है—

मेकडूगल के अनुसार— “Imagination is the thinking of remote objects”.
अर्थात् कल्पना दूरस्थ वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार है।

अरस्तू के अनुसार — “Art is a combination of imitation and imagination”.

कैरिट एवं बोसाके ने सौन्दर्य व कल्पना के घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यक्त किया है, उनके अनुसार कला में सौन्दर्य तभी उत्पन्न हो सकता है जब कल्पना का योगदान होगा। आधुनिक मनोवैज्ञानिक सीशोर ने कल्पना में सृजनात्मक-शक्ति के महत्त्व को स्पष्ट किया है। रचनात्मक कार्य में कल्पना आवश्यक होगी इसलिए कल्पना को रचनात्मक-शक्ति व सृजनात्मक-शक्ति का द्योतक बताया है।

कल्पना के दो रूप हैं—

(1) बौद्धिक कल्पना (2) कलात्मक कल्पना।

बौद्धिक कल्पना अभ्यास व अध्ययन के बाद इस प्रकार रचना में लीन हो जाती है कि स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाती है। कलात्मक कल्पना आरम्भ से अंत तक अपना एक विशेष महत्त्व रखती है।

(ग) अभ्यास—कला में जहाँ प्रतिभा कारण है, वहीं अभ्यास भी अनुपेक्षणीय है। उसका कला-सृजन में कम स्थान नहीं है। अभ्यास प्रतिभा को निखारता है, तो प्रतिभा अभ्यास को प्रकाश देती है। इस प्रकार अभ्यास प्रतिभा को व्यापक बनाता है। अभ्यास के द्वारा कलाकृति में सजीवता आती है। कोरी प्रतिभा से कलाकृति सजीव नहीं बन पड़ती, अभ्यास से कला मंज जाती है और उसमें नवीन चमक-दमक आ जाती है। प्रतिभा यदि नैसर्गिक साधन है तो अभ्यास यत्नज। अभ्यास से कला में निखार आता है।

अतः कलाकार के लिए प्रतिभा, अभ्यास और कल्पना सभी का होना अत्यन्त आवश्यक है।

संगीतकला और कलाकार— संगीत-कला में कलाकार से तात्पर्य गायक और वादक से होता है क्योंकि संगीत दोनों के समवेत कला-प्रयास की सृष्टि है। सफल कलाकार वही है जो भावों की अभिव्यक्ति सशक्तता से कर सके। भावों की प्रस्तुति वह कला के माध्यम से करता है, क्योंकि कला भावाभिव्यक्ति का श्रेष्ठ माध्यम मानी गयी है, जिसके द्वारा कलाकार अपने भावों को मूर्त रूप प्रदान करता है, क्योंकि भावों की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति ही 'कला' है।

आत्मप्रदर्शन और आत्माभिव्यक्ति ही कलात्मक अभिव्यक्ति है। कला का सीधा सम्बन्ध उस वस्तु से है, जो मानव-मन पर पड़े प्रतिबिम्ब की भावात्मक अभिव्यक्ति करती है।

संगीत में भावों की अभिव्यक्ति कलाकार राग के माध्यम से करता है। संगीत में 'राग' ही वह शक्ति है, जिसमें डूबकर कलाकार स्वयं भी आनन्दित होता है तथा दूसरों को भी आनन्द की अनुभूति कराता है।

कलाकार जब 'राग' प्रस्तुत करता है तो वह अपनी कल्पना-शक्ति से मुखड़े का उठान, सम का दिग्दर्शन, विश्रान्तिस्थल, समविषमलय का प्रयोग, स्वर व शब्दों में सामंजस्य, राग की विशेष स्वर-संगतियों द्वारा रचना में नवीनता का समावेश कर देता है। बन्दिश पूर्वर्चित होती है किन्तु वह अपने ढँग से उसे नया रूप देता है। प्रस्तुतिकरण में कल्पना ही बन्दिश को आकर्षक व सुन्दर बना देती है।

प्रतिभावान संगीत-कलाकारों में उच्चकोटि की कल्पना होती है। इसके पीछे उनकी संगीत की शिक्षा, प्रेरणा ही उनको प्रेरित करती है। जिसमें जितनी प्रतिभा होती है, वह अपनी कल्पना के अनुसार राग का विस्तार, राग को सजाता है। कल्पना के कारण राग नित नये प्रतीत होते हैं। कल्पना शक्ति के कारण ही भिन्न-भिन्न रागों के मिश्रण से कलाकार नवीन रागों की सृष्टि करते हैं, जैसे—बसन्त बहार, मारू-बिहाग, पूरिया-कल्याण, जोगकौंस आदि। इसके अलावा मालकौंस में शुद्ध निषाद करके चन्द्रकौंस तथा मुलतानी में रे ष शुद्ध करके मधुवन्ती राग की सृष्टि की गयी है।

किसी राग के विशेष स्वर-समुदाय से मस्तिष्क में उस राग की कल्पना बनती है फिर कलाकार उसे कण, मुर्की, खटका, गमक से सजाकर राग को प्रस्तुत करता है। राग का स्वरूप सभी कलाकार ध्यान रखते हैं, सभी को स्वरों का भी पता है पर उन स्वरों को कलाकार किस ढँग से लगाता है यह उसकी कल्पना शक्ति पर ही निर्भर करता है। इसी गुण के कारण भीमसेन जोशी, अब्दुल करीम खाँ, बड़े गुलाम अली खाँ, पं. जसराज अपनी पहचान बनाये हुए हैं। वाद्य संगीत में भी उदाहरण के तौर पर देखें तो ज्ञात होगा कि निखिल बनर्जी एवं पं. रविशंकर का, अपनी अलग-अलग तकनीक के कारण, एक विशेष स्थान है।

अतः कलाकार में कलात्मक प्रतिभा का होना अति आवश्यक है। कला के क्षेत्र में सौन्दर्य कलाकार के हृदय में उदय होता है, फलता और पुष्ट होता है और अनेक माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त होता है। सुन्दर अभिव्यंजनाओं का लक्ष्य ही आनन्द की उपलब्धि करना होता है यह तभी सम्भव होता है जबकि कलाकार में तीव्र वेदना को अनुभव करने की स्वाभाविक ग्राहकता हो।

असाधारण प्रतिभा वाले संगीत-कलाकार न केवल स्वयं भाव-विभोर हो जाते हैं बल्कि अगणित श्रोताओं को भी भाव-सागर में निमग्न कर देते हैं, जैसे—स्व. पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी को यह सिद्धि प्राप्त थी कि कोई भी राग गाकर वह आत्म-विभोर कर देते थे। इसी तरह स्व. उस्ताद अब्दुल करीम खाँ एवं स्व. पं. ओंकारनाथ ठाकुर को “करुण” रस पर असाधारण अधिकार प्राप्त था, किन्तु ऐसी असाधारण प्रतिभासम्पन्न कलाकार हजारों में से एक होता है।

निष्कर्ष यही है कि प्रतिभा के बिना कलाकार अपने अमूर्त भावों को मूर्त रूप देने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

संगीत-कला में यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि बड़े से बड़ा कलाकार भी आज अभ्यास के द्वारा सफलता अर्जित करता है। अभ्यास के बिना उसकी कला का अस्तित्व मिट जाता है। संगीत में इसे ‘रियाज’ के नाम से जानते हैं।

संगीत में तो ‘अभ्यास’ का ‘प्रतिभा’ से भी ज्यादा महत्त्व है। सफल संगीत-साधक अपनी संगीत-साधना से युग की दुष्प्रवृत्तियों को दूर कर मौलिक रचनाओं तथा अपनी दिव्य प्रतिभा से एक नये युग का निर्माण करता है। सतत् अभ्यास से कलाकार की सृजनात्मक-शक्ति बढ़ती है। वह चिन्तन एवं कल्पना में सामंजस्य स्थापित करते हुए नवसृजन का शंखनाद करता है।

संगीत-कला तो ऐसी कला है, जो श्रोताओं को सीधे प्रभावित करती है। जितने अच्छे ढंग से कलाकार अपने भावों को श्रोता के समक्ष प्रस्तुत करेगा उतना ही वह प्रशंसा का अधिकारी होगा और उसमें आत्मविश्वास बढ़ेगा। इसमें अभ्यास से ही निरन्तर वृद्धि होती है। उसमें सृजनात्मक कल्पना का विकास होता है। इसलिए अभ्यास बड़ा बलवान संगीत-कला में माना गया है।

संगीत में स्वरावली का सतत् अभ्यास करके ही आज कलाकार मंच-प्रदर्शन करने में सफल सिद्ध होता है क्योंकि इससे उसकी आवाज में गले की तैयारी के साथ-साथ भराव, श्वाँस-नियन्त्रण, माधुर्यता आदि बातों का समावेश हो जाता है। आज भी कलाकार को अपनी साधना में रत देखा जाता है। महान् कलाकार बन जाने के बाद भी वह अपनी इस साधना को नहीं छोड़ता। पण्डित रविशंकर जी विश्व में भारतीय संगीत का सफल वादन कर जो ख्याति प्राप्त कर रहे हैं, उसमें प्रतिभा के साथ-साथ अभ्यास का भी अप्रतिम योगदान है।

गायन व वादन में अभ्यास के साथ-साथ कलाकार को ताल-ज्ञान भी होना आवश्यक है। जो व्यक्ति ताल में कच्चे होते हैं वे कभी भी सफल गायक या वादक नहीं बन पाते। लय

व ताल से अच्छी तरह अभ्यास होने पर कलाकार लय से खेल सकता है और विभिन्न लयों में तरह-तरह के मुखड़े बनाकर गायन को सुन्दर बना सकता है।

कलाकार के लिए ज्ञानी होना भी आवश्यक है। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि आज हम भी वेदों, शास्त्रों तथा तमाम विधाओं के पण्डित होकर कला का कार्य करें, परन्तु यह आवश्यक है कि हम आँखें मूँदकर बिना पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किये कला का कार्य नहीं कर सकते। जिस भाँति संसार के अन्य व्यक्तियों के लिए ज्ञान आवश्यक है, उसी भाँति कलाकार के लिए भी। कलाकार समाज के व्यक्तियों से न्यून नहीं है, उसकी भी वही आवश्यकतायें हैं जो औरों की। जिस प्रकार शिक्षा औरों के लिए आवश्यक है, वैसे ही कलाकार के लिए भी। कलाकार को पूर्ण शिक्षित होना चाहिये। कलाकार को बहुमुखी ज्ञान की आवश्यकता है। उसका व्यक्तित्व सामंजस्यपूर्ण होना चाहिये। उसमें भी मस्तिष्क, हृदय तथा कार्यकुशलता के सभी गुण होने चाहिये। उसे केवल गानेवाला या नाचनेवाला या बजानेवाला ही नहीं होना चाहिये।

कलाकार की मनःस्थिति—सच्ची और उत्कृष्ट कला की रचना उसी समय हो सकती है जब कलाकार के मन, मस्तिष्क और शरीर में सुडौलता रहती है। यदि एक कलाकार, जिसको हजार कोशिश करने पर भी दोनों समय का खाना नहीं जुटता है व अन्य पारिवारिक परेशानियों से घिरा हुआ है, तो वह समाज को क्या देगा ?

प्रतिभा व अभ्यास के साथ-साथ संगीत-कला, कलाकार की मनःस्थिति से भी प्रभावित होती है। किसी भी राग के सुन्दरतम स्वरूप को प्रस्तुत करने में कलाकार तभी सक्षम होगा, जब उसके अनुकूल उसकी मनोभूमिका हो। अर्थात् कलाकार की मनःस्थिति का प्रभाव उसकी कला पर पड़ता है। उदाहरणार्थ—एक ही कलाकार द्वारा गाया गया एक राग किसी महफिल में रंग जमाता है तो किसी अन्य महफिल में उसी कलाकार का वही राग सुन्दर प्रतीत नहीं होता। इसका क्या कारण है ?

कलाकार के पास प्रतिभा, अभ्यास और कल्पना सभी कुछ होते हुए भी उसका वही राग एक बैठक में अच्छा लगता है तो दूसरी बैठक में बेमजा या 'रंग भरता' नहीं प्रतीत होता, ऐसा क्यों ? क्योंकि कलाकार की मनःस्थिति, उसके निजी दायित्व, श्रोताओं के विभिन्न प्रकार और अन्यान्य कारण मिलकर वातावरण की सृष्टि करते हैं।

कलाकार की शारीरिक और मानसिक स्थिति का परिणाम उसके गायन पर होता है ऐसी मान्यता है, क्योंकि यदि कलाकार शारीरिक रूप से स्वस्थ है तो वह ज्यादा प्रभावशाली ढंग से अपना गायन या वादन प्रस्तुत कर पायेगा।

राग का विस्तार या प्रदर्शन करते-करते कलाकार उसके सौन्दर्य-स्थलों का स्वयं भी आनन्द लेता है तथा दूसरों को भी आनन्द की प्रतीति करवाता है। शान्त, स्थिर और उल्लासपूर्ण मनोदशा में उसका सम्पूर्ण ध्यान राग के सौन्दर्य-स्थलों पर केन्द्रित हो जाता है जिससे उसकी कला में निखार आता है।

इसके साथ ही संगीत-कलाकार के मानसिक रूप से स्वस्थ होने से तात्पर्य किसी प्रकार की मन में कोई चिन्ता, तनाव या दुःख का न होना है। जब किसी तरह का तनाव नहीं होगा तो

कलाकार का चित्त गाने में लगेगा। वह राग को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करेगा जिससे उसका गायन प्रभावपूर्ण होगा।

इसके विपरीत तनाव की स्थिति या अपरिमित दुःख की स्थिति में गायक अथवा कलाकार का मन गाने में नहीं लगता जिससे गाने में नीरसता आ जाती है। वामनराव देशपाण्डे के अनुसार भी—“अस्थिर, चंचल मनोदशा में कलात्मकता का भान नहीं होता।” रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है कि—“सच्ची कला की रचना उसी समय हो सकती है, जब कलाकार सुखी और सम्पन्न हो, हृष्ट-पुष्ट हो, सुडौल विचार वाला हो, समाज से घृणा न करता हो, किसी के प्रति द्वेष न रखता हो, जीवन का मूल्य समझता हो।”

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि संगीत कलाकार अपने भावों की अभिव्यक्ति ‘राग’ द्वारा करता है, जिसमें कलाकार के पास प्रतिभा, अभ्यास व कल्पना सभी कुछ होता है। इसके साथ-साथ उसकी कला को उसकी मनःस्थिति भी प्रभावित करती है।

यह स्पष्ट हो गया है कि कला की रचना का सम्बन्ध कलाकार से है। एक संगीत-कलाकार ने अपनी आत्म-अभिव्यक्ति ‘राग’ के माध्यम से श्रोता-समाज के सम्मुख की। यहाँ श्रोता-समाज की प्रतिक्रिया का कार्य आरम्भ होता है। जितना महत्त्व संगीत-रचना का है उतना इस प्रतिक्रिया का भी है। इस प्रतिक्रिया के बल पर उस संगीत का सामाजिक मूल्यांकन होता है, जिसका आधार सामाजिक रुचि है।

अतः “प्रत्येक कला में कलाकार का महत्त्व होता है”, इस सत्य की हम अनदेखी नहीं कर सकते।

3. संगीत में समाज के प्रतिबिम्बन की व्याख्या

मेरी मान्यता है कि संगीत में समाज प्रतिबिम्बित होता है। वास्तव में कोई भी कला अपने समाज का प्रतिरूप है, जो स्वयं तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति से प्रभावित होता है। संगीत एक सांस्कृतिक रूप है। एक ऐसी रचनात्मक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें वाद्य, नृत्य और गायन की स्थिति में काल और स्थिति के अनुसार व्यक्ति विविध अभिव्यक्तियाँ करता है। यह सांस्कृतिक रूप यद्यपि समयबद्ध होता है, किन्तु इसके संरचित विषय के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धों का एक दृश्य प्रकाशन होता है। आज समाजशास्त्री जब किसी निर्दिष्ट समुदाय या विषय पर क्षेत्र-कार्य करते हैं, तो संगीत जैसा विषय उनके दिमाग से ओझल हो जाता है या वे संगीत को बहुत गौण मानते हैं। वे समाजशास्त्री यदा-कदा नृत्य, गीत की रिकॉर्डिंग या जनजातियों की तस्वीरें खींचकर अपने कार्य की इतिश्री समझ लेते हैं। अभी तक हमारी यह दृष्टि नहीं बन पाई है कि किसी जन-संस्कृति या समाज के सर्वांग व्याख्या के लिए संगीत के अध्ययन के महत्त्व को स्वीकार करें। समाजशास्त्री इस तथ्य को विस्मृत कर जाते हैं कि संगीत जनजातीय संस्कृति का एक ऐसा अपरिहार्य अंग है, जिसके माध्यम से समाज की गहन संरचना को समझने में ही सहायता नहीं मिलती है अपितु संस्कृति के अन्य घटक भी उद्भासित होते हैं। यह तो समाजशास्त्री स्वीकार करते हैं कि आदिम कबीले सरलता से अपनी सांगीतिक विशेषताओं को नहीं छोड़ते। संस्कृति एवं सभ्यता के विकास के दौरान में अनेक आदिम सामाजिक कबीलों ने

अपने से उन्नत जातियों के विकसित औजार और उन्नत हथियारों के एवज में अपने अविकसित औजार और अनुन्नत हथियार छोड़ दिये। आर्थिक उत्पादन के साधनों में भी अन्य उन्नत कबीलों या जातियों में शब्दों, वाक्य-विन्यासों एवं तथ्यों का प्रवेश भी हुआ। किन्तु उनके व्यवस्थित सामाजिक 'आदिम' ढाँचे में सांगीतिक एवं नृत्य सम्बन्धी परिवर्तन नहीं आये। क्योंकि आदिम कबीलों की सांस्कृतिक एकांगिकता मुख्यतः संगीत एवं नृत्य की सामाजिक उद्भावना के कारण ही जीवित रह सकती थी। इनके लिए संगीत एक सामुदायिक और सामूहिक अभिव्यक्ति का माध्यम है। संगीत इनकी आशा-आकांक्षा, प्रेम-भय, हर्ष-विषाद, उत्सव-आराधना, रीति-रिवाज एवं विश्वास-धारणाओं के सामाजिक संगठन की अभिव्यंजना है। इस प्रकार का गायन सारे समाज के लिए है। समाजशास्त्रियों के इस अध्ययन ने संगीत के इतिहास को समाजशास्त्र से जोड़ दिया है। संगीत के माध्यम से हमें गूढ़ सौन्दर्यशास्त्र को समझने में तो मदद मिलती ही है, इसके अतिरिक्त सामाजिक संरचना, सामाजिक सम्बन्ध, संस्कार तथा दर्शन आदि विषय भी संगीत के माध्यम से ही उद्घाटित होते हैं।

4. संगीत का श्रोता से सम्बन्ध

संगीत के समाजशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है संगीत के रूप-निर्माण तथा परिवर्तन में श्रोता की भूमिका। संगीत के अनेक सामाजिक आधारों में से एक सबसे महत्वपूर्ण आधार है—श्रोता-समुदाय। आधुनिक युग में श्रोता के अभाव में संगीत की कल्पना और धारणा असम्भव है। श्रोता-समुदाय संगीत के विकास और विस्तार ही नहीं, उसके स्वरूप तक को प्रभावित करता है। जैसे-जैसे संगीत मौखिक से लिखित और लिखित से रिकॉर्डेड रूप प्राप्त करता जा रहा है वैसे-वैसे संगीत के विकास में श्रोता-समुदाय की भूमिका बढ़ती जा रही है। इसलिए आज के जमाने में श्रोता से संगीत के सम्बन्ध का अध्ययन संगीत के समाजशास्त्र का एक मुख्य पक्ष बन सकता है। संगीत ही क्या, हर कला का अपने समाज या श्रोताओं से गहरा सम्बन्ध है। इसलिए A. Richard ने कहा भी है—“Art is Expression and Communication”. ‘श्रोता’ शब्द से ही ज्ञात होता है कि उसका सम्बन्ध ‘श्रु’ यानी सुनने से होगा। श्रोता का कार्य ही कलाकृति का आस्वादन करना है। इसी कथन की पुष्टि करते हुए श्री नाथुराम शर्मा ने लिखा है—“कला के क्षेत्र में कलाकार और कलापारखी दोनों का समान महत्व है। एक के अभाव में दूसरा अस्तित्व खो बैठता है। कला की उन्नति में जब तक कला के पारखी योग नहीं देते तब तक कला फल-फूल नहीं सकती।”

यह सत्य तो सर्वसाधारण विदित है कि कलाकार अपनी कला से जितना रस प्राप्त करता है उतना ही वह दूसरों को भी देना चाहता है। अपने आनन्द से वह दूसरों को भी आनन्दित करना चाहता है।

ललितकलाओं में चित्र, शिल्प, वास्तुकला आदि दृश्य कलाएँ हैं। इनमें कलावस्तु तैयार होने के पश्चात् भी वह सदैव जीवित रह सकती है। इन कलाओं के प्रदर्शन में कलाकार की प्रत्यक्ष उपस्थिति की भी आवश्यकता नहीं होती है, परन्तु संगीत श्रव्य कला है। संगीत-कलाकार जब अपनी कलावस्तु का प्रदर्शन करता है तब आनन्द निर्मिति तो अवश्य होती है परन्तु कला-प्रदर्शन समाप्त होते ही कलावस्तु कायम न होकर नष्ट हो जाती है। इसलिए संगीत-कला

के प्रत्येक प्रदर्शन में कलाकार को ही उपस्थित रहकर कला निर्मिति करनी पड़ती है। इस कारण अन्य कलाओं के प्रदर्शन से संगीत के बराबर प्रदर्शन की आवश्यकता कई मात्रा में अधिक होती है। संगीत-कला की अभिव्यक्ति में कलाकार और रसिक दोनों की उपस्थिति अनिवार्य है अर्थात् संगीत-कला में प्रदर्शन को अति महत्त्व प्राप्त है।

कैरिट का तो यहाँ तक मानना है कि कलाकार के मन में अप्रत्यक्ष रूप से श्रोता या ग्राहक रहते हैं। एक ओर तो कलाकार को अन्तःप्रेरणा मिलती है दूसरी ओर श्रोता की सही प्रतिक्रिया द्वारा कलाकार को प्रोत्साहन, प्रशंसा या दाद मिलती है, तभी उसकी कला में निखार आता है। इस प्रकार कलाकार के लिए कद्रदान श्रोता का कितना महत्त्व है, इस सम्बन्ध में एक कहावत भी है—

“कद्रदान हमारे गुलाम, बेकद्रदान के हम गुलाम।”

कद्रदान श्रोतागण जब तक कलाकार के सम्मुख उपस्थित नहीं हो जाते, तब तक कलाकार की कलावस्तु कुसौटी पर सिद्ध नहीं उतरती और कलाकार को कला-प्रदर्शन का सम्पूर्ण आनन्द भी नहीं मिल पाता। इस सम्बन्ध में **बी.वी. केसकर** का भी यही कथन है—

“Good critics and good listeners are the foundation of Music.”

श्री लक्ष्मीनारायण गर्ग के शब्दों में—“जनसाधारण का निर्णय भी एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण सत्य बन गया है, जिसे ठुकराकर चलने वाला कलाकार जी नहीं सकता।”

मारुलकर जी ने भी कहा है—“संगीत का कोई भी तरीका हो, उसमें कलाकार के साथ श्रोता भी उतना ही महत्त्व रखता है।संगीत-कला खासकर श्रोताओं के लिए ही है, इतना ही नहीं बल्कि इन दोनों में एक तरह के “मुख-संवाद” के सिवा कलाकार का न कोई असर है, न कोई मतलब है। फिर आजकल राजा महाराजाओं का सहारा न होने से संगीत-कला सब तरह से समाज के लोगों पर निर्भर रहती है। उन लोगों की यानी आम जनता की निगाह अपनी ओर खींच लेने का काम गायकों का होता है।”

सिद्धहस्त कलाकार अपनी कला के साथ-साथ जन-मन की भावनाओं का आदर भी करना चाहेगा और उनकी पसन्द तथा रुचि की चीज प्रस्तुत करने में उसे अत्यधिक आनन्द की अनुभूति होगी, क्योंकि संगीतकला तो है ही जनचित्तरंजन के लिए। कलाकार को श्रोताओं द्वारा प्रशंसा सुनने पर अत्यन्त सुख प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में **श्री नाथूराम शर्मा** का कथन है—“कला के सृजन में जो सुख उसे मिलता है, वह साधारण कोटि का सुख होता है, परन्तु रसिकों या पारखियों के मुख से अपनी कलाकृति की प्रशंसा सुनकर उसे जो सुख प्राप्त होता है, वह कलाकार के हृदय में प्रवेश कर जाता है।”

उपर्युक्त संगीत-विद्वानों के कथनों से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक गायक यही चाहता है कि उसकी कला श्रोताओं को आनन्द की उस भूमि पर ले जाए जहाँ कलाकार स्वयं पहुँच चुका है। अतः यह बात स्पष्ट है कि कला का सृजन लोकरंजन के लिए होता है। कलाकार और श्रोताओं का सम्बन्ध जीवन के आदिकाल से आज तक अविच्छिन्न रहा है। कला की सच्ची

उन्नति यह नहीं है कि अच्छे कलाकार उत्पन्न हो जायें बल्कि कलाकारों की कला में रस लेने वाले रसिक श्रोता भी अवश्य होने चाहिये। किसी गायक के गायन को सुनकर श्रोता जब अपने को भूल जाये वहीं आनन्द की पूर्णता होती है। इस बात को स्वीकार करते हुए ओ. गोस्वामी का कथन है—“The aim of all art is to cause a temporary self-oblivion in the listener. This makes him forget temporarily even bodily functions.”

अतः यह स्पष्ट है कि संगीत की प्रगति गायक-कलाकारों के समान श्रोताओं पर भी उतने ही परिमाण में अवलम्बित है। श्रोताओं की रुचि के अनुरूप ही कलाकार अपनी कला का निर्माण करता है। कलाकार समाज की रुचि की अवहेलना नहीं कर सकता। कला आदान-प्रदान की वस्तु है। गायक जो देना चाहता है, उसको समझने की शक्ति यदि श्रोता में नहीं है तो उसकी रचना पूर्ण नहीं हो सकती, दूसरी ओर श्रोता यदि प्रबुद्ध है तो महफिल में अनधिकार प्रवेश करने वालों को वहाँ से विदा होना ही पड़ेगा। अतः सबसे पहले हमें जरूरत है समाज में असंख्य योग्य श्रोताओं की। क्योंकि श्रोता-समुदाय के विकास के साथ-साथ संगीत की गुणवत्ता भी निरन्तर विकसित होगी। आधुनिक युग में संगीत-कला के श्रोता-समुदाय के विस्तार में निर्णायक भूमिका प्रसारण के विभिन्न माध्यम, जैसे—रेडियो तथा दूरदर्शन की रही है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संगीत-कला केवल कला के लिए नहीं है उसका सामाजिक आधार है। हो सकता है, कुछ विद्वान संगीत के सामाजिक आधार की उपेक्षा भले ही करें लेकिन इस सच्चाई को अस्वीकार करना कठिन है। उपर्युक्त संगीत के विभिन्न पक्षों के विवेचन के बाद यह स्थापित हो जाता है कि संगीत-कला कलाकार की मानसिकता की उपज है।

कलाकार की मानसिकता उसकी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है। संगीत के समाजशास्त्र के चिन्तन के इतिहास में यह उपलब्धि साधारण नहीं है। किसी समाजशास्त्री ने ठीक ही कहा है—“मनोवैज्ञानिक स्थिति ही सामाजिक स्थिति का कारण होती है।”

समाज और संगीत

संसार में मनुष्य जो कुछ करता है, सुख पाने की लालसा से करता है। सुख की वृद्धि के लिए ही समाज बनता है। जब व्यक्ति अकेले सुख प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तब उसे समाज की शरण लेनी पड़ती है। समाज से उसे बल मिलता है, समाज की शक्ति उसे अधिक सुख की प्राप्ति कराने में सहायक होती है। मनुष्य बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक समाज पर आश्रित रहता है। वह जो कुछ सीखता है, अनुभव करता है या प्राप्त करता है, उसका आधार समाज ही होता है। व्यक्ति समाज का एक अंग है, जो समाज के द्वारा पोषित होता है। व्यक्ति का जो स्वरूप बनता है, वह उसका अपना रूप नहीं है और अगर है तो बहुत थोड़ा-सा, अधिकतर समाज का ही दिया हुआ रूप होता है। समाज यदि जननी है तो व्यक्ति उसका बालक। जिस प्रकार बालक माता-पिता के गुणों को संचित कर विकसित होता है, उसी प्रकार व्यक्ति समाज के गुणों को संचित कर भविष्य के अनुरूप बनता है।

जब व्यक्ति समाज का ही बनाया हुआ है, समाज पर ही आश्रित रहता है, तब यह कहा जा सकता है कि उसे अपनी सारी शक्ति समाज के हित तथा प्रगति के लिए प्रयोग करनी चाहिये। यही उचित है और न्याय संगत भी। जब हम किसी से लेते हैं, तो उतना ही उसे देना भी चाहिये। अगर यह ठीक है तो व्यक्ति समाज को वही दे सकता है जो उसने पाया है। कलुषित समाज में पैदा हुआ तथा पला-पोसा व्यक्ति समाज को कालिमा ही देगा, यह स्वाभाविक है।

मनुष्य को अपनी शक्ति का उपयोग समाज में ही करना है, समाज से जो लिया है उसे समाज को ही देना है। कला मनुष्य का कार्य है, एक शक्ति है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि मनुष्य में उस शक्ति का केन्द्र-बिन्दु कहाँ है जहाँ से कलाओं का जन्म होता है ? अतः सब कलाओं का स्रोत तथा कलाओं के माध्यम का निर्णय भी सामाजिक मनुष्य के कल्पनाशील मस्तिष्क में है अथवा उसकी सौन्दर्यानुभूति में है।

लेकिन मनुष्य का मस्तिष्क और सौन्दर्यानुभूति स्वयं एक ओर तो अपनी सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है और साथ ही दूसरी ओर परिस्थितियों का कारण भी है। इसलिये सभी प्रकार के कलात्मक माध्यमों में समाज के पारस्परिक संघर्षों का प्रतिफलन होता है। परन्तु समाज के पारस्परिक सम्बन्ध निरन्तर विकसित होते रहते हैं, बदलते रहते हैं। परिणामस्वरूप कला के माध्यमों में भी विकास एवं परिवर्तन होता रहता है। किन्तु जिस प्रकार समाज के

परिवर्तित सम्बन्धों का अर्थ यह नहीं होता कि इन नये सम्बन्धों का अतीत से कोई सरोकार नहीं है ठीक इसी प्रकार कलाओं के विभिन्न माध्यमों का भी एक सामाजिक क्रम चलता है। अतीत की सामाजिक स्थिति में ही नवीन का जन्म हुआ हुआ रहता है। प्रत्येक कला अपने माध्यम विशेष से शक्ति, परम्परा और मान्यताएँ ग्रहण करती है। कोई भी कला हो अथवा कला का कोई-सा भी माध्यम हो, उसकी अपनी ऐतिहासिक आवश्यकता है, उसका अपना सामाजिक औचित्य है और उसका अपना इतिहास है। इस बात को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि कलात्मक माध्यम समाज की विभिन्न स्थितियों के परिचायक हैं और दोनों एक-दूसरे पर सक्रिय प्रभाव डालते हैं। कला के माध्यम की समस्या को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं।

सबसे पहली बात है—मनुष्य में कला-सृजन की कामना ही क्यों उत्पन्न हुई ? इस प्रश्न का उत्तर आज नृत्य, पुरातत्व, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र देते हैं। मनुष्य के लिए कला और सौन्दर्य-भावना प्रकृति प्रदत्त नहीं है। मनुष्य ने अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिये प्रकृति से जो संघर्ष किया, उस सक्रिय संघर्ष के दौरान में जीवन की आवश्यकताओं के बीच ही कला का जन्म हुआ। उस समय उसकी सौन्दर्याभिव्यक्ति उनके जीवन की आवश्यकता थी—सौन्दर्य-भावना की क्षुधा का परिणाम नहीं थी। कला का कला के रूप में जन्म सामाजिक विकास की कहानी में बहुत बाद की बात है। अतः कला के माध्यम का प्रथम स्वरूप सामाजिक अवस्था पर निर्भर करता है। समाज के विकास में एक समय ऐसा था जब समान विश्वास एवं समान वृत्ति वाले व्यक्तियों का समूह—आर्थिक, सामाजिक एवं मानसिक रूप से—एक-दूसरे पर निर्भर करता था। उनके लिए कला की व्यंजना और जीवन के संघर्ष में अन्तर नहीं था। इस समाज की विशिष्ट आर्थिक परिस्थितियाँ थीं। उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार था। व्यक्ति का स्वाधिकार कुछ नहीं था। जो कुछ था वह समाज का था। इस सामाजिक विकास के दौर में कला का माध्यम भी सामूहिक, सामाजिक और समाजनिष्ठ था।

कला के माध्यम का दूसरा स्वरूप मनुष्य के मानसिक विकास से सम्बन्धित है। प्रत्येक सामाजिक मनुष्य को अपने सामाजिक वातावरण के बीच में बचपन, जवानी और बुढ़ापा निकालना पड़ता है। ये अवस्थाएँ भी कला के माध्यम के निर्णय में महत्वपूर्ण तथ्य हैं।

कला के माध्यम का तीसरा स्वरूप समाज की विकसित अवस्था से सम्बन्धित है। जिस वर्ग को पढ़ने की सुविधा मिलती है, अपने मानस को विकसित करने का अवसर मिलता है, उस सम्पन्न वर्ग के लोगों की कला का माध्यम बौद्धिक रूप से गम्भीर बनने लगता है। प्राचीन आदिम कला, जो सबके लिए समान थी, उसी कला के माध्यम से दो नवीन अंकुरों का प्रस्फुटन हो जाता है। एक में प्रतिभा को अभ्यास का सहारा मिलता है और दूसरी में प्रतिभा को सामाजिक औसत जीवन का सहारा मिलता है। इन दो धाराओं को हम आज शास्त्रीय-कला एवं लोक-कला के नाम से जानते हैं।

मनुष्य की कला का उपयोग भी उसके लिए तथा केवल मनुष्य-समाज के लिए ही है। मनुष्य कलाओं को अपने समाज से ही सीखता है। कला का कार्य करने की प्रेरणा भी उसे अपने सामाजिक जीवन की अनुभूतियों से ही प्राप्त होती है। उसकी कला का रूप उसकी अनुभूतियाँ होती हैं। इसलिए कला का कार्य अपने समय के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति करना है।

अतः समाज से अलग कला का कोई अस्तित्व नहीं होता। किसी भी जनसमाज की कला उसकी मानसिकता से निर्धारित होती है। समाज की राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियाँ सदैव एक-सी नहीं रहतीं। वह मानव अस्तित्व के व्यापक संघर्ष और मानवीय श्रम के परिणामस्वरूप बदलती रहती हैं और निरन्तर नये युगों का निर्माण करती चलती हैं। समाज की इस प्रगतिशीलता के कारण कला भी स्थिर नहीं रह पाती। वह निरन्तर विकसित और परिवर्तित होती रहती है। भारतवर्ष की संगीत-कला भी सदैव परिवर्तनशील रही है।

संगीत विशिष्ट सामाजिक व भौगोलिक परिस्थितियों की उपज है। यही कारण है कि पूर्वी देशों का संगीत पश्चिम के लिए तथा पश्चिमी-देशों का संगीत पूर्वी दुनिया के लिए पराया बना रहता है। यहाँ तक कि एक ही देश में उत्तर भारतीय संगीत और दक्षिण भारतीय संगीत एक-दूसरे के लिए अजनबी बन जाते हैं। इसका मुख्य कारण अलग-अलग समाजों की अपनी मौलिक परम्पराओं और संस्कारों का होना है। संगीत में समाज के यही विशिष्ट संस्कार अभिव्यक्ति पाते हैं। इसलिए संगीत के अध्ययन के लिए कभी सार्वभौमिक या सार्वकालिक सिद्धान्त नहीं बनाए जा सकते।

समाज की परिस्थितियों के अनुसार संगीत बदल जाता है। जैसे वैदिक काल में संगीत का सर्वाधिक रूप से प्रयोग ईश्वरोपासना के लिए किया जाता था किन्तु बाद में समाज की रुचि के अनुसार यह विलासिता एवं मनोरंजन का साधन बन गया। आज इसका (संगीत का) प्रयोग समाज के कल्याण के लिये, ख्याति अथवा यश के लिए, धन अर्जित करने के लिए किया जाता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिये संगीत भी मनुष्य से जुड़ा होने के कारण समाज में विशेष स्थान रखता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगीत मानव के साथ तब से चला आ रहा है जब से मनुष्य ने सामाजिक रूप से संगठित होना सीखा।

प्राचीनकालीन समाज एवं संगीत—मनुष्य अपने को व्यक्त करना चाहता है, यह उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। दूसरी प्रवृत्ति जो मनुष्य में आरम्भ से ही है, वह है अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए अनेक वस्तुओं का निर्माण करना। ये दोनों प्रवृत्तियाँ आपस में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। जब मनुष्य को किसी चीज की आवश्यकता होती है, तो वह सर्वप्रथम उस वस्तु की कल्पना करता है। कल्पना करना भी अपनी इच्छा को या इच्छा की वस्तु को, चाहे मन में ही हो, किसी से व्यक्त करना ही है। वह अपने से व्यक्त करता है कि उसे किस वस्तु की आवश्यकता है। इतने से ही यदि काम चल जाता और कल्पना करने से ही वस्तु मिल जाती तो मनुष्य के लिए अपने को दूसरों से व्यक्त करने की आवश्यकता शायद न पड़ती। कल्पना करने पर मनुष्य चाहता है कि उसको साकार रूप में देखे। वह केवल इच्छा ही नहीं करता बल्कि इच्छित वस्तु को, अपनी कल्पना में आयी हुई वस्तु को प्राप्त करना भी चाहता है। मनुष्य यदि अकेले बिना किसी की सहायता के अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता तो भी उसे अपने को दूसरों से व्यक्त करने की आवश्यकता न पड़ती। पर मनुष्य हार नहीं खाता है। वह देखता है कि वह अकेले अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं कर सकता। उसे दूसरे व्यक्तियों का भी सहयोग चाहिये। इसी आधार पर समाज का निर्माण हुआ। मनुष्य ने अपने को दूसरों से व्यक्त करना आरम्भ किया।

अपने को व्यक्त करने के लिए भी साधन की आवश्यकता हुई। मनुष्य इस बात की चेष्टा करने लगा। कल्पना की, इशारों से पहले उसने अपने को व्यक्त किया। इशारों के द्वारा जब मनुष्य अपने को व्यक्त करने लगा और उसमें सफलता मिली तो उसको लोगों ने याद करना और अनुकरण करना आरम्भ किया और एक-दूसरे पर निश्चित इशारों से प्रयोग होने लगा। प्रत्येक इच्छा धीरे-धीरे इशारों से प्रकट की जाने लगी। इशारों का एक विज्ञान बन गया, भाषा बन गयी। इस प्रकार, अपने को व्यक्त करने की चेष्टा में मनुष्य ने अनेक कलाओं का निर्माण किया।

मनुष्य की अभिव्यक्ति में संगीत-रचना अति प्राचीन है। बालक पैदा होते ही मुँह से स्वर निकालता है और मुद्राएँ बनाता है अपनी अभिव्यक्ति के लिए और इसमें सफलता भी पाता है। परन्तु इससे वह आरम्भ में साफ-साफ अपनी सब इच्छाओं को व्यक्त नहीं कर पाता। जैसे-जैसे बालक बढ़ता है वह इशारों, मुद्राओं तथा स्वरों और शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग करता जाता है। जब बालक पैदा होता है, तब वह उस वक्त कोई भाषा नहीं बोलता, उसे किसी भाषा का ज्ञान नहीं होता, वह सिर्फ रोता है। स्वर का ज्ञान उसे नहीं होता। रोना-हँसना भी तो संगीत की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। बालक रोने व हँसने के द्वारा ही अपनी रुष्टता एवं प्रफुल्लता को प्रकट करता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या बालक को संगीत आता है ? संगीत उसको आता नहीं, किन्तु सांगीतिक उपकरण तो उसके पास है, जो कि सदैव क्रियाशील रहते हैं। स्वर का ज्ञान बालक को होता है इसलिये वह इसके द्वारा अपने भूख-प्यास की अभिव्यक्ति किया करता है। वास्तव में स्वर ही संगीत है चाहे उसकी जो भी अवस्था हो।

इसी प्रकार आदिम-संगीत-कला का कलात्मक माध्यम समाज की स्थिति का द्योतक है। इतना ही नहीं आदिम-संगीत तो तत्कालीन समाज की सही-सही अनुकृति है। बालक द्वारा उत्पन्न संगीत तो बहुत कुछ अपने ही आनन्द तक सीमित रहता है किन्तु आदिम संगीत के साथ सामाजिक तथ्य के ताने-बाने भी जुड़े रहते हैं। आदिम-मनुष्य के नाचने, गाने में उसके समाज की तत्कालीन आवश्यकता प्रतिबिम्बित होती है।

पूर्व पाषाण काल के मनुष्यों का गाना भी स्वरों पर ही आधारित था। जब किसी शिकार को यह लोग मार लिया करते थे तो यह लोग स्वर के टेढ़े-मेढ़े आलाप भरकर अपने आनन्द की अभिव्यक्ति करते थे। इनके गाने में कोई शब्द नहीं होता था क्योंकि भाषा का जन्म इस युग में नहीं हो पाया था। यह लोग विभिन्न स्वरों के द्वारा ही अपने आन्तरिक हर्ष एवं विषाद को अभिव्यक्त किया करते थे।

पूर्व पाषाण कालीन समाज में आनन्द-प्रमोद प्रायः संगीत के माध्यम से ही किया करते थे। शिकार को जाते वक्त संगीत का प्रयोग किया करते थे तथा मछली पकड़ते समय भी यह लोग गाना गाते थे।

उत्तर पाषाण काल में लोगों में सामाजिक भावना उदय हो चुकी थी इसलिए सामूहिक संगीत का जन्म इस युग में हो गया था। यह लोग युद्ध में भी संगीत का प्रयोग करने लग गये थे। महिलायें काम करते वक्त एक प्रकार का मीठा स्वर निकालती थीं, और इसी प्रकार पुरुष वर्ग भी काम करते वक्त अपने स्वर का आलाप विभिन्न ढँग से करते थे। पुरुष वर्ग कार्य करते

हुए गाना गाता था, जैसे—मिट्टी के बर्तन बनाते वक्त। ऐसा आभास होता है कि काम करने की प्रेरणा भी इनको स्वरों के द्वारा ही मिलती थी। समाज का महिला वर्ग भी संगीत में भाग लिया करता था। अतः इस काल में किसी भी सामाजिक कार्य के संचालन में स्वर को विशेष महत्त्व दिया गया है।

वैदिककालीन समाज के निर्देशक वेद ने भी संगीत के महत्त्व को स्वीकारा और एकता में सहायक माना है। इसलिए तो ऋग्वेद की ऋचाओं को स्वरात्मक करके एक वेद का निर्माण कर उसे 'सामवेद' नाम दे दिया। वैदिककालीन समाज के सामाजिक संगठन का मूलाधार परिवार था। प्रत्येक परिवार में संगीत का उत्कृष्ट स्थान था, परिवार में संगीत का आयोजन परिवार की अधिष्ठात्री नारी-गृहलक्ष्मी ही करती थी। सुबह-शाम प्रत्येक परिवार में ईश्वर-उपासना होती थी। प्रातःकाल काम शुरू करने से पूर्व घर की सब नारियाँ, बूढ़े-बच्चे सब एक स्थान पर एकत्रित होकर अपने इष्टदेव की आराधना गा-बजाकर किया करते थे। उनका गाना-बजाना ताल-स्वर में होता था। ऋग्वेद काल का प्रत्येक गृह संगीत का सुन्दर केन्द्र बना हुआ था।

इस काल में समाज में सार्वजनिक रूप से संगीत के प्रदर्शन होते थे पर बहुत कम। चूँकि इस काल में ग्रामों की व्यवस्था हो चुकी थी, अतएव संगीत कई वर्गों में बँट गया था। शास्त्र की रचना का काम वर्ग-विभक्त समाज में सदैव उच्च वर्ग के हाथों में रहा। उस जमाने में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों का गठबन्धन अपने हितों की रक्षा करता था। क्षत्रिय राजनीति को देखते थे तो ब्राह्मण ज्ञान-क्षेत्र को। किन्तु राजनीति और ज्ञान अलग नहीं थे। दोनों उच्च वर्ग के हितों की रक्षा करते थे। संगीत-ज्ञान का विकास समाज में उच्चवर्ग ने किया। वैदिक ऋचाओं के उच्चारण और गायन के विधि-विधानों का निर्णय भी समाज में उच्च स्थान प्राप्त ब्राह्मणों ने ही किया। इस काल में संगीत की बागडोर मुख्य रूप से ब्राह्मणों के हाथ में थी। यहीं से 'मार्ग-संगीत' का प्रारम्भ हुआ। जैसा कि शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे ने अपनी पुस्तक में लिखा है—“सामवेद भारतीय संगीत कला का प्राचीनतम निदर्शन है। इसका स्रोत तत्कालीन लोकसंगीत ही रहा है। तथापि यज्ञयाग जैसे धार्मिक समारोहों से तथा समाज के उच्च वर्ग से सम्बद्ध होने के कारण उसमें संस्कार तथा नियमबद्धता की मात्रा बढ़ गई और उसे शिष्ट सम्मत मार्ग-संगीत का स्वरूप प्राप्त हुआ।”

संगीत के सामाजिक पक्ष के अन्तर्गत यह प्रश्न हो सकता है कि स्त्रियों के साथ संगीत का कैसा सम्बन्ध था ? गायन, वादन एवं नृत्य में स्त्रियाँ भाग लेती थीं या नहीं, उन्हें सम्मान दिया गया अथवा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि इस काल में समाज में पुरुष-गायक-वादकों के अतिरिक्त स्त्रियों का संगीत में, स्वाभाविक रुचि एवं योग्यता के कारण पर्याप्त सहयोग था। यज्ञ के अवसर पर जब गायन-वादन होता था, यजमानों की स्त्रियाँ भी समान रूप से भाग लेती थीं। अतः समाज में अन्य वर्गों की भाँति एक वर्ग संगीतज्ञों का भी निर्मित हो रहा था। स्त्रियाँ नृत्य भी करती थीं। नृत्य से भी उनका विशेष प्रेम था। संगीत के सार्वजनिक आयोजनों में नर्तकियाँ खुलकर भाग लिया करती थीं, उन्हें किसी किस्म की हिचक नहीं थी, क्योंकि समाज में गायकों, वादकों एवं नर्तकियों का उच्च स्थान था। संगीतज्ञों को समाज उच्च दृष्टि से देखता

था। उनका सामाजिक मान-सम्मान किया जाता था। लोक-संगीत के कलाकारों का भी समाज में मान-सम्मान किया जाता था।

वैदिक कालीन समाज में एक वर-वधू महोत्सव होता था, जो 'समन' कहलाता था। 'समन' एक प्रकार का सांगीतिक मेला था, जहाँ आमोद के लिए नारियाँ जाती थीं। 'समन' ने समाज के अन्दर संगीतमय वातावरण को खूब फैलाया। 'समन' के अन्दर नारियाँ कई प्रकार के नृत्य प्रदर्शित किया करती थीं, पुरुष वर्ग कण्ठ संगीत का सुन्दर ढँग से प्रदर्शन करते थे।

पौराणिक काल में समाज के अन्दर संगीत की स्थिति आदरणीय थी। यद्यपि इस काल में समाज के अन्दर उच्छृंखलता बढ़ती जा रही थी, लेकिन फिर भी समाज के अन्दर संगीतकारों का जीवन सन्तुलित रूप से ही था। वैदिक कालीन सामाजिक उत्सव 'समन' ने इस काल में 'समज्जा' का रूप ले लिया था। 'भाष्य' में कहा गया है कि, जिसमें जनसमुदाय इकट्ठा हो वह उत्सव 'समज्जा' कहलाता था।¹ इसे समाज भी कहा जाता था। अशोक के अभिलेखों में 'समाज' नामक उत्सव का ही उल्लेख है। महाभारत में भी विस्तार से 'समाज' नामक क्रीडोत्सवों का उल्लेख है। अतः समज्जा या समाज महाजनपद युग के नागरिक जीवन की बहुत बड़ी विशेषता थी। 'समाज' में सम्मिलित होने वाले लोग सामाजिक कहलाते थे। इस काल में समाज में संगीतज्ञों की संख्या बढ़ रही थी। संगीतज्ञ अशिक्षित नहीं होते थे। तत्कालीन समाज में संगीत प्रतियोगिता भी हुआ करती थी जिसका आम जनता बड़ा आनन्द लिया करती थी। जैसे मेले में रथों अथवा गाड़ियों की दौड़ हुआ करती थी। गाड़ियों में बैल की जोड़ी जोती जाती थी, उनकी गरदनो में ऐसी घण्टियाँ बाँधी जाती थीं कि बैलों के दौड़ने पर घण्टियों से बड़े ही सुरीले संगीत का प्रस्फुरण होता था। जिस गाड़ी के बैल अधिक मन्त्रमुग्धक संगीत का प्रस्फुरण करने में सफल होते, उनको पुरस्कार भी दिया जाता था। इन दौड़-प्रतियोगिताओं से समाज में संगीत का चाव बढ़ रहा था।² दूर-दूर से लोग आकर इनमें शामिल होते थे।

इस समय समाज में अनेक छोटे-छोटे वर्ग बन गये थे। हर वर्ग अपने संगीत-विकास को छिपा कर रखने की कोशिश करता था। परन्तु यह संकीर्ण प्रवृत्ति समाज के अन्दर अधिक मात्रा में नहीं फैलने पाई। समाज में संगीत का मनोरंजक पहलू मानव वर्ग में विकसित होता जा रहा था।

सूत्र तथा जातक साहित्य से भी हमें तत्कालीन समाज में संगीत की स्थिति का पता चलता है। सूत्र-साहित्य संगीत के धार्मिक पक्ष का, तो जातक साहित्य संगीत के सामाजिक पक्ष का दिग्दर्शन कराते हैं।

समाज में संगीत के ज्ञाता आचार्य भी होते थे, जो संगीत की शिक्षा देते थे। 'वीणागणगिन' संज्ञा इसी तथ्य की पुष्टि करती है। संगीत को सामाजिक एवं व्यक्तिगत मनोरंजन के एक प्रमुख तत्त्व के रूप में, इस काल में देखा जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि उच्च वर्गों में भी संगीत का प्रचार था। इससे यह मानना असम्भव नहीं है कि इस समय संगीत के बड़े-बड़े विद्वान कलाकार भी समाज में रहे होंगे।

1. भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी, पृष्ठ 95.

2. भारतीय संगीत का इतिहास : उमेश जोशी, पृष्ठ 97.

समाज के सहयोग से उस समय संगीत की प्रतियोगिता भी हुआ करती थी, इसका संकेत हमें जातक साहित्य में प्राप्त होता है। हाँ, उस समय गुरु-शिष्य के मध्य प्रतियोगिता को उचित नहीं समझा जाता था।

समाज में संगीत के सार्वजनिक आयोजन भी हुआ करते थे। जो समज्ज एवं महासमज्ज के रूप में जातकों में प्राप्त होते हैं। इस सामाजिक उत्सव पर अन्य मनोरंजन के साथ-साथ गायन, वादन एवं नृत्य-नाट्यादि भी होते थे। इस समज्जों का उल्लेख मौर्य सम्राट अशोक के अभिलेखों में भी प्राप्त होता है। कभी-कभी उनमें अतिशय अभद्रता भी हो जाती थी। इसी से सम्भवतः अशोक ने उसका निषेध कराया था।¹

इस काल में “सामगायन” यज्ञ के अलावा अन्य सामाजिक अवसरों पर भी गाया जाता था। विवाह के अवसर पर भी वर के वधू सहित गृहप्रवेश करते समय “वामदेव्य” नामक साम के गायन का उल्लेख आता है।²

इस समय संगीत का सम्बन्ध पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों से भी घनिष्ठ रूप से था। सामगायन जैसे धार्मिक अवसर तथा अन्य यज्ञ एवं धार्मिक संस्कारों के अवसरों से लेकर सामाजिक अवसरों तक में स्त्रियों का सहयोग था। सूत्र-साहित्य समाज के धार्मिक पक्ष का अवलोकन कराता है। अतः उससे यह सूचना मिलती है कि महाव्रत यज्ञ इत्यादि के अवसर पर सामगायक पुरुषों के साथ उनकी स्त्रियाँ भी गायन तथा तदनुकूल वादन करती थीं। विवाह इत्यादि धार्मिक संस्कारों के अवसर पर भी स्त्रियाँ तथा कन्या स्वयं संगीत में सहयोग देती थी। दास-कुमारियाँ भी यज्ञ के अवसर पर उदकुम्भ शीर्ष नृत्य तथा गाथाओं का गायन करती थीं।

इस काल में संगीत न केवल राजाओं एवं सभ्रान्त कुलीनों के जीवन का अंग था, अपितु साधारण जनता भी गायन, वादन एवं नृत्य में रुचि रखती थी। गरीब से गरीब ईधन एकत्र करनेवाली लड़की भी अपना कार्य गायन के साथ करती थी।

उपर्युक्त उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आठवीं से चौथी सदी ई.पू. के काल में समाज में संगीत-कला का पर्याप्त प्रचार था। अतः इस काल में संगीत समाज के प्रत्येक क्षेत्र तथा प्रत्येक वर्ग में प्रचलित था।

पाणिनी की अष्टाध्यायी संगीत के सामाजिक पक्ष पर प्रकाश नहीं डालती क्योंकि यह व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ है। किन्तु इस ग्रन्थ के अध्ययन से अन्ततोगत्वा यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि संगीत का समाज में इतना अधिक प्रचार बढ़ गया था कि व्याकरण शास्त्री ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ में यथास्थान किया है।

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में भी संगीत न केवल राजनैतिक वरन् सामाजिक व्यवस्था के स्वस्थ आदर्श हेतु भी महत्वपूर्ण माना गया था। राजा के दैनिक जीवन में प्रहर सूचना के लिए, मनोरंजन आदि के लिए संगीत का विधान था। संगीत समाज में जीविका का साधन भी था। समाज के ही गणिका एवं नट वर्ग की जीविका सम्पूर्ण रूप से संगीत पर आधारित होती थी।

1. प्राचीन भारत में संगीत : डॉ. धर्मावती श्रीवास्तव, पृष्ठ 37.

2. प्राचीन भारत में संगीत : डॉ. धर्मावती श्रीवास्तव, पृष्ठ 23.

गणिका एवं उनके पुत्रों को गायन-विद्या के स्थानों पर सर्वप्रथम प्रवेश दिया जाता था। गणिकाओं से सम्बन्धित संगीत का स्वरूप अधिकांशतः जनसाधारण के स्तर का हलका-फुलका होता होगा। इस वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में संगीत केवल उच्च वर्ग की बपौती नहीं रह गया था।

संगीतकारों को राज्य एवं समाज का प्रश्रय प्राप्त होने पर भी, उन पर राज्य की ओर से कुछ नियन्त्रण थे, यथा—वर्षा ऋतु में एक ही स्थान पर रहना, अधिक दान स्वीकार न करना आदि। अन्यथा दण्ड का विधान था। समाज में संगीत का जहाँ तक मनोरंजन से सम्बन्ध है उस पर नियन्त्रण नहीं था किन्तु जहाँ समाज को हानि की आशंका होती थी वहाँ पर उचित नियन्त्रण था। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस समय वही संगीत विहित था जो सामाजिक व्यवस्था के लिए वांछनीय था।

महाभारत कालीन समाज में संगीत को हेय दृष्टि से नहीं देखा गया था। इसका सभी वर्गों में प्रचार था। ब्राह्मण भी संगीत श्रवण करते थे। क्षत्रिय राजा भी संगीत से घिरा रहता था। देवता भी संगीत से सर्वदा घिरे रहते थे। पुण्य कार्य करने वाला व्यक्ति भी संगीत-ध्वनि से जागृत व निद्रित होता था। संगीतकार को राजा अपनी कन्या देने से भी नहीं हिचकता था। किन्तु कुछ उल्लेख ऐसे भी आते हैं जहाँ संगीत की अवहेलना की गई है। जैसे संगीत का व्यवसाय करने वाले को सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं दी जाती थी। ये पितृकार्य में निमग्न के योग्य नहीं समझे जाते थे। ये सम्भवतः निम्न कोटि के संगीत का प्रतिनिधित्व करते थे जैसा कि आज भी सड़क पर नाच-गाकर जीविका चलाने वालों को हेय दृष्टि से देखा जाता है।

अतः निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि महाभारत काल में संगीत को समाज में पर्याप्त सम्मानित स्थान प्राप्त था। लौकिक संगीत की अपेक्षा सापगान की महत्ता अधिक समझी गई थी, क्योंकि यह धार्मिक संगीत था।

रामायण काल में संगीत जीवन का अभिन्न अंग था। राजा, प्रजा, नर, नारी, वानर, राक्षस आदि सभी वर्गों में संगीत का प्रचार था। उत्सव एवं समारोहों का ही नहीं वरन् नागरिकों के दैनिक जीवन का भी यह अभिन्न अंग था। इस काल में संगीतकारों के अन्तर्गत संगीत विधा के वे ज्ञाता आते हैं जो—व्यवहार एवं सिद्धान्त—दोनों क्षेत्रों में कुशल हों। लव-कुश के गुरु आचार्य वाल्मीकि ही थे। इन दोनों ही गुरु-शिष्यों को समाज सम्मान की दृष्टि से देखता था। ये शास्त्रीय संगीत या गान्धर्व-संगीत को प्रस्तुत करते थे। समाज में गायक, वादक, नर्तकों का एक अन्य वर्ग भी था जिन्हें यज्ञ, मनोरंजक कृत्य एवं समाज तथा गोष्ठियों में आमन्त्रित किया जाता था। राजा दशरथ ने इन्हें पुत्र-प्राप्ति के अवसर पर यज्ञ में आमन्त्रित किया था। उपर्युक्त प्रमाणों के प्रकाश में रामायण में संगीतकारों की स्थिति सम्माननीय मानी जा सकती है।

बौद्धकाल में समाज में संगीत का विपुल प्रचार था। इसका प्रमाण संगीत सम्बन्धी उत्सवों के उल्लेख हैं जहाँ नृत्य-गीत-वादन होता था। 'समज्जा' ऐसा ही उत्सव था। समाज में संगीत के विभिन्न उपयोग भी ज्ञात थे। यह जीविका का भी साधन था। नट, नटी, वैतालिक एवं राज्य में नियुक्त संगीतकार साधारण जनता का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनकी जीविका का

साधन संगीत था। आवश्यकता पड़ने पर राजा भी संगीत को जीविका के रूप में अपनाने में नहीं हिचकता था। कुश राजा अपनी माँ से यही बात कहता भी है, यथा—“अहं अम्बे नृत्य-गीत-वाद्येन अन्ये हि च....आत्मने वृत्तिं ॥” समाज में भिक्षुओं के लिए यद्यपि संगीत निषिद्ध था तथापि गृहस्थों के लिए कठोर नियम नहीं था। गृहस्थ संगीत आयोजन का आनन्द ले सकते थे। समाज में संगीत केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं था अपितु उसके अन्य उपयोग भी थे। बुद्ध पूजा, बुद्ध सम्बन्धी गाथा एवं अस्थि पूजा के अवसर पर भी संगीत का उपयोग होता था। जब बुद्ध को निर्वाण प्राप्ति हो गयी थी उस समय कुशीनारा के मल्लों ने कई दिन तक संगीत प्रस्तुत किया था एवं अन्तिम संस्कार जब तक नहीं हुआ वे उनके शरीर के आस-पास नृत्य-गीत-वादन करते रहे। इसका अंकन साँची की कला में किया गया है। पूजा के समय, प्रदक्षिणा करते समय संगीत का विधान था। संगीत के उक्त विपुल उल्लेखों के आधार पर यह अनुमान करना अनुचित नहीं कि संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी। समाज में अच्छे-अच्छे कलाकार होते थे एवं प्रतियोगिताएँ भी होती थीं जहाँ समाज के लोग उनकी कला-कुशलता को देखते थे।

जैन ग्रन्थों में संगीत-सम्बन्धी उल्लेखों से यह ज्ञात हो जाता है कि समाज में संगीत का अत्यधिक प्रचार हो गया था। मनोरंजन का यह प्रधान अंग बन चुका था। यही कारण था कि समाज ने जैन भिक्षुओं के लिए संगीत को निषिद्ध माना था। इस निषेध से संगीत की समाज में हेयता का अनुमान नहीं लगाना चाहिये क्योंकि इस अवस्था में निषिद्ध होने पर भी अन्य अवस्थाओं में इसका प्रयोग मान्य था। महावीर की स्तुति भी गीत-वाद्य के साथ की जाती थी। इसके अतिरिक्त संगीत सम्बन्धी उत्सव भी होते थे जहाँ जनता का मनोरंजन विविध साधनों के साथ ही गायन, वादन एवं नृत्य के भी माध्यम से किया जाता था।

इस प्रकार संगीत जीविका का भी साधन बन गया था। नृत्य के उल्लेख इसके प्रमाण समझे जा सकते हैं। वेश्या वर्ग के साथ भी यह जीविका के रूप में सम्बन्धित था। इस प्रकार संगीत का समाज के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचार था।

भरत का नाट्यशास्त्र संगीत के सामाजिक पक्ष पर प्रकाश नहीं डालता क्योंकि यह ‘नाट्यकला’ से सम्बन्धित ग्रन्थ है। किन्तु इस ग्रन्थ के अध्ययन से अन्ततोगत्वा यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि संगीत का समाज में इतना अधिक प्रचार बढ़ गया था कि भरत ने भी इसका उल्लेख अपने ग्रन्थ में यथास्थान किया है। शास्त्रीय संगीत इस काल में समाज में विकसित हो गया था जैसा इसमें उल्लिखित शास्त्रीय संज्ञाओं के उल्लेखों से स्पष्ट होता है।

अतः यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि संगीत-कला दिनों-दिन उन्नत हो रही थी एवं धीरे-धीरे समाज के सभी पक्षों में प्रविष्ट हो रही थी।

मध्यकालीन समाज एवं संगीत

मध्यकालीन समाज से हमारा तात्पर्य 15वीं सदी से 19वीं सदी तक के समाज से है। यह समाज वर्ण-व्यवस्था का कठोरता से पालन करता था। उच्च कोटि के हिन्दू अपनी सेवा करने वाले शूद्रों के साथ किसी प्रकार का व्यवहार नहीं रखते थे। प्रारम्भ में तो ये लोग मुसलमानों को भी ‘मलेच्छ’ कहकर अपवित्र, असवर्ण लोगों जैसा व्यवहार करते रहे, परन्तु बाद में जाकर

दोनों धर्मों के अनुयायियों में थोड़ा-बहुत समन्वय स्थापित हो गया। “बारहवीं शती में ही हिन्दुओं ने मुसलमानों की दरगाहों पर मिठाई चढ़ाना, कुरान पढ़ना एवं मुस्लिम त्यौहार मनाना प्रारम्भ कर दिया था। दूसरी ओर मुसलमानों ने भी हिन्दुओं के धार्मिक रिवाजों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना प्रारम्भ कर दिया था।”¹

इसी समन्वय का सबसे गहरा प्रभाव पड़ा कि वैष्णव धर्म और मुसलमान धर्म एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये और सूफी मत को जन्म दिया। ईश्वर का अंश मानकर हिन्दू लोग पत्थरों, पौधों और सूर्य की उपासना करते थे। समाज में तर्क शास्त्र, नक्षत्र विद्या, भौतिक विद्या, गणित विद्या और ज्योतिष विद्या का अध्ययन हो रहा था।

संगीत-कला की दृष्टि से यह काल बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस काल को मुगल काल भी कहते हैं।

भारत के ऐतिहासिक अध्ययन पर पता चलता है कि मुगलकालीन सामाजिक परिस्थितियों का संगीत पर कैसे प्रभाव पड़ा। इन परिस्थितियों ने संगीत का विकास करने में सहायता दी या नहीं।

भारतवर्ष के राजनैतिक इतिहास में सन् 1526 ई. से लेकर सन् 1700 ई. तक को मुगलकाल कहकर पुकारा जाता है। इसमें क्रमशः बाबर (1526-1530 ई.), हुमायूँ (1530-1541 ई. तथा 1555-1556 ई.), अकबर (1556-1605 ई.), जहाँगीर (1605-1626 ई.), शाहजहाँ (1628-1658 ई.) और औरंगजेब (1658-1700 ई.) का शासनकाल सम्मिलित है। 1541 ई. से लेकर 1555 ई. तक दिल्ली का राज्य-सिंहासन सूरवंश के शासकों के आधिपत्य में रहा। सूरवंश के प्रमुख शासक शेरशाह (1541 ई. से 1545 ई. तक) और इस्लामशाह (1545-1553 ई.) थे। इस्लाम शाह की मृत्यु के पश्चात् सूर साम्राज्य आदिलशाह, इब्राहीम सूर और सिकन्दर सूर के पारस्परिक झगड़े के कारण जीर्ण-शीर्ण हो गया एवं अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के इच्छुक हुमायूँ के अधिकार में आ गया। 1556 ई. में हुमायूँ ने माछीवाड़े तथा सरहिन्द के स्थान पर सिकन्दर सूर को परास्त कर फिर से मुगल साम्राज्य को स्थापित कर दिया। परन्तु उसे सुदृढ़ बनाने, सुव्यवस्थित तथा सुस्थापित करने एवं साम्राज्य को यथार्थ स्वरूप प्रदान करने का कार्य अकबर ने किया। इसलिए अनेक इतिहासकार अकबर को ही मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक कहते हैं। औरंगजेब की मृत्यु के साथ बाबर द्वारा स्थापित और अकबर द्वारा सुस्थापित तथा सुगठित किये गये मुगल साम्राज्य का पतन हो गया। इतिहासकार बाबर से लेकर औरंगजेब तक के काल को ही मुगलकाल कहकर पुकारते हैं।

“मुगल काल में समाज सामन्तवादी आधार पर संगठित था जिसमें बादशाह सर्वप्रधान था। बादशाह के नीचे शासकीय सामन्त थे, जिनके विशिष्ट अधिकार, सुविधाएँ एवं सम्माननीय पद होते थे। यह सामन्तवर्ग इच्छानुकूल शासन चलाता था।सामन्त लोग धन, द्रव्य और सुख-सुविधाओं में डूबे रहते थे और धनाढ्य लोग अपने पास साधनों की प्रचुरता के कारण भोगविलास, ऐश्वर्य और मद्यपान में संलग्न रहते थे। मुगल पदाधिकारी भी आमोद-प्रमोद

में अपना जीवन व्यतीत करते थे। भोग-विलास से परिपूर्ण जीवन, मुगल राज-दरबार और मुगल युग के सम्मान के लिए एक आवश्यक वस्तु थी। उच्च वर्गों के वस्त्र, भोजन और जीवन-निर्वाह एवं रहन-सहन में भी विलासिता की आभा झलकती थी।¹

तत्कालीन समाज अत्याचारी, निरंकुश एवं धर्मान्ध शासकों द्वारा पीड़ित था। इस समाज में लोग विवशता का जीवन बिता रहे थे। देशी राजा-महाराजा भी अपने आपको असमर्थ पा रहे थे अथवा मुसलमान शासकों का अनुकरण करते हुए विलासपूर्ण जीवन यापन करने लगे। वे क्षत्रियों के वीरव्रत से विमुख हो चुके थे। ऐसे राजाओं और सामन्तों से जनता का हित-साधन नहीं हो सकता था। ऐसे राजाओं को सचेत करने के लिए ही कवि तुलसीदास जी ने लिखा था—“जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी।”

इन धर्मान्ध मुसलमान बादशाहों ने अपनी स्वेच्छाचारिता, अत्याचार और क्रूरता आदि दानवी वृत्तियों से विजित हिन्दू जाति के मन में हेयता और निराशा की भावना उत्पन्न कर दी थी। निराश हिन्दू समाज विचित्र विवशता का अनुभव करने लगा था।

मुसलमान शासकों के अत्याचारपूर्ण व्यवहार से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों के फलस्वरूप हिन्दू जनता के मन पर पड़ने वाले कुप्रभाव की प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। यह प्रतिक्रिया समाज में तीन रूपों में हुई—

1. आत्मरक्षा के रूप में, जिसके फलस्वरूप जातीय कट्टरपन, ऊँचनीच, छुआछूत आदि की भावनाओं को प्रोत्साहन मिला।
2. समाज में विरोध के रूप में, कड़्यों ने खुल्लम-खुल्ला और कड़्यों ने दबी जबान से मुसलमानों के अत्याचारों का विरोध किया।
3. समाज में हिन्दू-मुसलमानों में एकता की भावना उत्पन्न करने के रूप में, जैसे—कबीर, गुरु नानक आदि निर्गुणवादी सन्तों ने किया।

मुसलमान शासकों का जीवन विलासपूर्ण था। उन्होंने विलासिता और स्त्रैव्य को खूब अभिवृद्ध कर रखा था। युवक तो युवक, बड़े-बूढ़ों में भी विलासिता की कमी नहीं थी। पुरुष विलासिनी स्त्रियों के हाथों की कठपुतली बने हुए थे। कहा भी है—

“नारि विवस नर सकल गोसाईं, नाचहि नट मरकट की नाई।” इस प्रकार की सामाजिक परिस्थिति हो चुकी थी। शाहजहाँ के समय तक मुगलकालीन समाज की स्थिति ठीक ऐसी ही थी। इस सामन्तवादिता का प्रभाव समाज पर अधिकांश मात्रा में बना रहा।

इस समय तक संगीत—समाज और व्यक्ति के जीवन में—एक महत्वपूर्ण स्थान बना चुका था। जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक, प्रत्येक संस्कार के समय जो भी पूजा-पाठ अथवा समारोह मनाया जाता था, सभी में संगीत लगभग अनिवार्य हो गया था। एक प्रकार से वह संस्कृति का विशेष अंग बन गया था। भक्ति और श्रृंगार रसों की ही प्रधानता इस काल के गीतों में देखी जा सकती है। संगीतकारों ने या तो कल्याण की आकांक्षा हेतु इन गीतों के माध्यम से

देवी-देवताओं की प्रार्थना की है या विविध उत्सवों को रोचक और सरस बनाने के लिए इनकी रचना की है। अतः संगीत से समाज के प्रत्येक व्यक्ति का परिचय सिद्ध हो जाता है। संगीत के आयोजन के बिना प्रत्येक संस्कार अधूरा समझा जाता था। इन संस्कारों में समयानुसार शृंगार, वात्सल्य, हास्य तथा करुण रसों का समावेश यथास्थान होता रहता था। संगीत की लोकप्रियता का एक बहुत बड़ा प्रमाण यह है कि बड़े-बड़े संगीतज्ञों द्वारा बनाई गई बन्दिशें (स्वर-लिपिबद्ध गीत) भी जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह आदि की विभिन्न रीतियों के निर्वाह के अवसर पर गाए जाने के लिए लिखी गईं। शास्त्रीय और लोकसंगीत दोनों ही प्रकार के वर्गों में हमें ऐसी रचनाएँ प्राप्त हैं।

इसका एक प्रमुख कारण मुगल काल में दो संस्कृतियों के समन्वय और सम्मिश्रण की भावना है। मुगल संस्कृति और कलाओं का प्रभाव हिन्दुओं पर पड़ा और हिन्दुओं का प्रभाव मुगलों पर। परिणामस्वरूप दोनों ही के उत्सव-समारोहों में बहुत कुछ एकता आ गई। श्री लूनिया ने लिखा है कि “पुत्र-प्रसव पर दोनों ही सम्प्रदाय सुन्दर संगीत का आयोजन करने लगे। सिराजुद्दौला और मीर जाफर अपने इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियों से होली खेलते थे और दिल्ली दरबार में संवत् 1881 तक भी दुर्गा-पूजा का समारोह मनाया जाता था।”

व्यक्ति के इतना अधिक संगीत-प्रेमी होने पर यह स्पष्ट ही है कि समाज में भी पर्याप्त संगीत-प्रियता उत्पन्न हो चुकी थी। सामूहिक रूप से मनाया जाने वाला प्रत्येक उत्सव संगीत और नृत्य के संयोग से सरस बना लिया जाता था। यह सम्भव है कि औरंगजेब के कठोर नियमों के कारण मुगल राज-दरबार में इस प्रकार के सामूहिक संगीत और नृत्य को स्थान न मिला हो, परन्तु उस युग में रजवाड़ों में, सामन्तों के दरबार में तथा ग्रामीण-जीवन में सभी उत्सव सामूहिक रूप से गा-बजा और नाचकर मनाए जाते थे। इसका प्रमाण यही है कि हमें सामूहिक-गान तथा सामूहिक-नृत्य व रास के अवसर पर गाए जाने वाले गीत प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। विवाह के अवसर पर और होली के त्यौहार पर तो उत्सव ही इस प्रकार मनाया जाता था कि नगर के नर-नारियों के बड़े-बड़े समूह मिलकर ढोल, मंजीरा, बाँसुरी आदि वाद्य-यन्त्र बजाते हुए गीत गाते थे। इस प्रकार उत्सवों पर सामूहिक रूप से गान और नृत्य का प्रयोग जनता की संगीत में रुचि का परिचायक है।

यह तो स्वाभाविक ही है कि शृंगार युग में राजाओं के संगीत और कला-प्रेम के अनुकरण पर जनता भी शृंगारी तथा कला-प्रेमी-प्रवृत्ति से युक्त हो जाए। शृंगारी प्रवृत्ति, कलाओं की ओर प्रवृत्त करने में समर्थ अवश्य होती है। बिहारी का दोहा “तन्त्री नाद, कवित्तरस, सरस राग, रतिरंग। अनबूड़े, बड़े, तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥” उक्त तथ्य का उद्घाटन करता है। उस युग के सुरुचिपूर्ण तथा विकसित व्यक्तित्व वाले पुरुष का यह लक्षण था कि वह कविता, संगीत, नृत्य तथा चित्रकला आदि का रसास्वादन करने योग्य हो, अन्यथा वह श्रेष्ठ नागरिक नहीं है तथा समाज में सम्माननीय स्थान नहीं पा सकता।

यह अवश्य है कि सामाजिक परिस्थितियों ने लोक-संगीत को विशेष प्रेरणा दी। शास्त्रीय संगीत केवल दरबारों में गाया गया तथा वहाँ सुरक्षित रहा। भारतीय शास्त्रीय संगीत रियासती राजाओं के संरक्षण में पनप रहा था। कलाकारों, संगीतज्ञों, नर्तकों व कवियों को राजा-महाराजा

तथा नवाबों के दरबार में आश्रय प्राप्त था। संगीत-कलाकार अपने आश्रयदाताओं व अन्नदाताओं को भगवान के प्रतिनिधि मानने के लिए विवश थे। साथ-साथ, कलाकार, संगीत शास्त्र, शिल्प शास्त्र विशेषज्ञ अपनी बेवसी को अपने आश्रयदाताओं की स्तुति-ज्ञान में ही अभिव्यक्त करना अपना धर्म मानते थे। यह रचना-सृजनधर्मो-वर्ग अकर्मण्यता के आवरण को ओढ़कर अपनी जीवन-गाड़ी को येन-केन-प्रकारेण ढो रहा था। शिल्प-कलाएँ एवं ललित-कलाएँ राज-दरबारों की कृपा-आश्रित हो चुकी थीं। उनमें समाज को संजीवनी शक्ति संजोने की सामर्थ्य नहीं रह गई थी। जो विद्या यानी कि संगीत, समाज को सशक्त एवं प्राणवान बनाने में समर्थ थी वह हेय दृष्टि से देखी जाने लगी थी। आम आदमी ने नाच-गान जैसी अलौकिक शक्ति को समाज-बिगाड़ू व्यसन मान लिया।

इस युग में संगीत विद्या दरबार या रईसों की महफिलों को सुशोभित करती थी। “हर छोटी-बड़ी रियासत में त्यौहार और हरेक खुशी के अवसर पर राजा-महाराजा, नवाब और जागीरदार शास्त्रीय संगीत सुना करते थे और अच्छे-अच्छे इनाम दिया करते थे।”¹

उस युग में “शास्त्रीय संगीत का पोषण और परिवर्द्धन एक खास किस्म की अभिजात परम्परा और श्रीसम्पन्न लोगों के कला-विलास और दरबारों और पुरस्कृतियों के बीच में हुआ।”²

गायक, वादक व नर्तक रियासतों के आश्रय में पल रहे थे जो केवल दरबार की श्रीवृद्धि के लिए ही थी। इन कलाकारों का अपना एक विशेष गुण होता था, एक निजी शैली होती थी, जिससे वे पहचाने जाते थे कि वे अमुक रियासत के कलाकार हैं। उनकी अपनी-अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से संगीत का एक ‘घराना’ बन जाता था। प्रत्येक कलाकार की कला की निजी शैली थी जिसकी पहचान बनाए रखने के लिए वे अपनी कला को एक-दूसरे से छुपाते थे। साथ ही वे किसी अन्य कलाकार की विशेषता को भी ग्रहण नहीं करते थे। उनकी कला का एक सीमित दायरा था। प्रत्येक संरक्षक यह चाहता था कि उसकी रियासत अथवा घराने का कलाकार सबसे पृथक् दिखाई दे। फलस्वरूप कलाकार अपनी कला की जो विशेषता बना लेता था उसको उसी रूप में अपनी सन्तानों को देता था। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत केवल दरबारों में गाया गया और वहाँ सुरक्षित रहा।

समाज में भक्ति-संगीत का भी प्रचार था। तत्कालीन कुछ सम्प्रदायों, जैसे—राम-भक्ति-सम्प्रदाय, कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय, सूफी-सम्प्रदाय, निर्गुण-सम्प्रदाय ने संगीत को अधिक प्रश्रय दिया।

मुगल काल में जनसाधारण संगीत-माधुर्य से इतना अधिक प्रभावित था कि औरंगजेब को “संगीत का शव” निकालने वाली बात कहनी पड़ी। क्योंकि वह जानता था कि सामन्तवर्ग इसी में डूबा रहा तो राजनीति सम्बन्धी कार्य शिथिल पड़ जाएगा। इस समय संगीत अपने सर्वांगीण उत्कर्ष के साथ समाज के लिए आनन्द तथा मनोरंजन का साधन तो था ही। वास्तव में औरंगजेब संगीत-विरोधी नहीं था। समाज में बढ़ते दुराचारों ने ही उसे कठोर बनने के लिए

1. संगीतज्ञों के सम्मरण (1959) : विलायत हुसैन खाँ, पृष्ठ 6.

2. अशोक वाजपेयी : कुमार गंधर्व (1982). पृष्ठ 246.

विवश किया। संगीत भी शृंगार-भावना के उस रंग से अपने को विलग न रख सका जिसमें समस्त समाज या युग रंग रहा था।

आधुनिक कालीन समाज एवं संगीत

बीसवीं शताब्दी को भारतीय संगीत का संक्रमण-काल माना जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय संगीत राज दरबारों की सीमा में बन्द रहा था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त हमारे देश में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। देश में प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। प्रजातन्त्र की स्थापना हुई, जिससे देश की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में भी बदलाव आए। इन परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप मानवीय भावनाओं का जो आधुनिकीकरण हुआ उसके परिणामस्वरूप शास्त्रीय संगीत ने भी एक नई करवट ली।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ देश में एक दृढ़ केन्द्रीय सरकार का गठन हुआ जिसके अधीन समस्त देश में राष्ट्रीयता की भावना तथा राजनैतिक एकता स्थापित हुई। छोटी-छोटी रियासतों का विलीनीकरण हुआ और इनके स्थान पर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना हुई। **मि. विम वैनडर मीर** ने इस बात का उल्लेख किया है कि 1947 के बाद कुछ राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। स्वतन्त्र अधिकार समाप्त हो जाने पर भी कुछ महाराजाओं ने संगीत-क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। जिसमें ग्वालियर के महाराजा सिंधिया, बड़ौदा के महाराजा सियाजीराव, रामपुर के नवाब हामिद अली खाँ और उनके सुपुत्र रज़ा अली खाँ के नाम उल्लेखनीय हैं। फलस्वरूप संगीत राज-दरबारों के संकुचित दायरे से बाहर निकला और उसे जनसाधारण से सीधा सम्पर्क प्राप्त हुआ, वह सम्पर्क जो प्राचीनकाल में मन्दिरों के घेरे में रहने के कारण तथा मध्यकाल में राज-दरबारों तथा नवाबों की महफ़िलों की चहारदीवारी में बन्द रहने के कारण इससे पूर्व कभी प्राप्त न हुआ था। लोकतन्त्र की स्थापना के साथ आकाशवाणी, दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं जैसी चीज़ों के आगमन से संगीत का प्रचार व प्रसार दूर-दूर तक हुआ, जिससे जनता में संगीत के प्रति एक जागृति आई। आकाशवाणी व दूरदर्शन के माध्यमों ने सभी प्रकार के संगीत को एक जगह ला इकट्ठा किया और एक साथ सभी को सुनने की सुविधा प्रदान की। संगीत के इतिहास में यह एक क्रान्तिकारी घटना थी। घरानों के बन्धनों से निकलकर समाज में संगीत जन-मानस के मध्य प्रतिष्ठित व लोकप्रिय हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में संगीत पर लेख, सामग्री आदि प्रकाशित कर संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष से जनता को अवगत कराया। इस प्रकार जनसाधारण में एक नवीन सांगीतिक चेतना का अभ्युदय हुआ।

आधुनिक काल की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करने पर हम अवगत होते हैं कि वह युग सामाजिक संक्रमण काल था। इस समय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन और क्रान्ति का शंखनाद हो चुका था। राजनीतिक आजादी के साथ-साथ हमारे नेताओं, समाज-सुधारकों, जननायकों ने सामाजिक अन्धविश्वास, कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई थी। जिसमें पर्दाप्रथा, अशिक्षा, बाल-विवाह, सती-प्रथा, मूर्ति-पूजा, जाति-प्रथा जैसी कुरीतियों व मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने जैसे अन्धविश्वासों की जड़ों को उखाड़ फेंकने के लिए कसर कस ली थी। क्योंकि उनका मानना था कि सामाजिक चेतना के अभाव में स्वतन्त्रता-प्राप्ति का लक्ष्य कभी पूरा नहीं हो सकता।

संगीत-कला का उपयोग भी इसी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए किया गया। संगीत जन-आकर्षण एवं प्रचार-प्रसार के लिए सबसे सरल-सहज साधन माना गया है। यह मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति है। भगवान का मनुष्य जाति के लिए संगीत सबसे बड़ा वरदान है। वह जन्म से मृत्यु-पर्यन्त सुख-दुःख को संगीत की स्वरलहरियों में प्रवाहित कर लेता है। अतः देश-भक्ति के गीतों से जनचेतना एवं स्वतन्त्रता आन्दोलन का आधारभूत स्तम्भ निःसन्देह संगीत बना।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त भारतीय समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। सामन्तवाद का अन्त हुआ और उसकी जगह पूँजीवाद ने ले ली। स्वाधीनता के उपरान्त पनपी नव-धनाद्यों की इस नई पीढ़ी की विचारधारा भी बदली। नव-निर्मित पूँजीपति-समाज भारतीय संगीत की ओर आकृष्ट हुआ। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक संगीत व नृत्य वेश्याओं व कोठों की वस्तु समझा जाता था। कुलीन घराने की लड़कियों के बारे में संगीत-शिक्षण की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। इसका मुख्य कारण था कि उत्तर भारतीय संगीत की बन्दिशों के साहित्य में मानवीय व्यवहार के विभिन्न भावों का प्रकटन होता है। उसमें शृंगार रस की अधिकता दिखाई देती है। समाज में इस धारा को पुष्ट किया गया कि यह कल्पनाएँ हमारी हीन अभिरुचि को दर्शाती हैं। क्योंकि भद्र-समाज ने ही हमारे संगीत और संगीतज्ञों को बहिष्कृत किया। फलस्वरूप संगीत मनोरंजन व विलासिता का साधन बन गया। परन्तु धनाढ्य मध्यवर्गीय समाज के उदय के पश्चात् संगीत, जो कि निम्नवर्गीय लोगों की वस्तु समझा जाता था, उसे अब समाज में उच्च दृष्टि से देखा जाने लगा। फलस्वरूप संगीत के आश्रयदाताओं की संख्या बढ़ गई क्योंकि यह धनाढ्य-वर्ग संगीत को प्रोत्साहन देने में काफी रुचि रखता था। धीरे-धीरे संगीत को समाज में बहुत बढ़ावा मिला और उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ। संगीत-विद्या में निपुण होना एक अतिरिक्त योग्यता मानी जाने लगी थी। मध्यवर्गीय व उच्चवर्गीय समाज में संगीत-शिक्षण का प्रचार व प्रसार हुआ।

तिलक जी ने शिवाजी एवं गणेश उत्सव जैसे धार्मिक उत्सवों के माध्यम से जनमानस में अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति सम्मान व आदर की भावना जागृत करने का बीड़ा उठाया। इन महोत्सवों के प्रति लोगों को आकृष्ट करने का सरल माध्यम था—संगीतमय जलसे। संगीत व नाटक कला के माध्यम से लोगों में चेतना की अभिव्यक्ति इन जलसों में होती थी। कहने का तात्पर्य यही है कि उस समय संगीत को जन-चेतना का साधन बनाया जिससे लोगों का संगीत के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। ।

शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वतन्त्र भारत में संगीत को उन्नत स्थान प्राप्त हुआ। राजा-महाराजाओं के प्रश्रय तथा घरानेदार उस्तादों की वंश-परम्परा के सीमित दायरों से निकलकर संगीत ने स्कूल, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में स्थान प्राप्त किया। शिक्षा के क्षेत्र में संगीत के नवजागरण का श्रेय उत्तर भारत की दो महान् विभूतियों—**पं. विष्णु नारायण भातखंडे** और **पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर**—को जाता है। उन्होंने ही समाज में संगीत की दुर्दशा को महसूस किया। वे सोचते थे कि संगीतकार किसी तरह से किसी उच्च तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति से कम नहीं हैं। कठोरतम परिश्रम से प्राप्त विद्या को समाज में सम्मान न मिलने के कारण वह अत्यन्त दुःखी थे। अतः इन दोनों महान् विभूतियों ने समाज में संगीत को प्रतिष्ठा दिलवायी।

इनके पश्चात् संगीत शिक्षा के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। अनेक नवीन संगीत-शालाओं का निर्माण हुआ। अध्ययन, चिन्तन व मनन ने संगीत की घरानेदार और परम्परागत जकड़न को तोड़ने में सहायता पहुँचाई। श्री के.पी. मुखर्जी भी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि—“स्वतन्त्र भारत में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत भी स्वतन्त्र हुआ, या यूँ कहें कि शास्त्र की जकड़नों से मुक्त होने का उसने प्रयास किया।” लोगों ने संगीत के प्रति एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। पुराने समय में कलाकार ईर्ष्यात्मक मनोवृत्ति के कारण अपनी ‘चीज’ केवल अपनी सन्तानों को ही सिखाता था और अपनी कला को अपने तक ही सीमित रखता था किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में संगीत के समावेश और सामाजिक परिवेश में संगीत के उत्थान से संगीत-कला का व्यापक रूप से प्रचार व प्रसार हुआ जिससे कलाकारों की संकुचित मनोवृत्ति में भी परिवर्तन आया।

संगीत की, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कारण और दिनोदिन बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण देश के विभिन्न शहरों में संगीत-समारोहों, सभाओं, विचार-गोष्ठियों और संगीत प्रतियोगिताओं के आयोजन में वृद्धि हुई। नए-नए कलाकारों का अभ्युदय हुआ। श्रोताओं की संख्या में वृद्धि हुई। समाज में सांगीतिक कार्यक्रमों में जाना अब सुसंस्कृत होने का प्रमाण समझा जाने लगा।

रेडियो का आगमन भारतीय संगीत के इतिहास की एक क्रान्तिकारी घटना थी। किसी भी लोकतान्त्रिक व्यवस्था में यान्त्रिक साधनों, विशेषतः रेडियो व दूरदर्शन की सामाजिक भूमिका सर्वविदित है। संसार की नवीन संगीत गतिविधियों से जनता का तत्काल परिचय रेडियो व दूरदर्शन के कारण ही हुआ है। रेडियो व दूरदर्शन ने सम्पूर्ण मानव जाति को प्रगति के पथ पर अग्रसर होने में महत्वपूर्ण अवसर दिये हैं।

यूँ तो सभी कलाओं पर इन प्रसारण-माध्यमों का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा है, किन्तु श्रव्य-कला होने के नाते संगीत से आकाशवाणी का सम्बन्ध बहुत निकट का हो जाता है। संगीत के लिए तो रेडियो तथा दूरदर्शन वरदान सिद्ध हुए हैं। उच्च कोटि के संगीतज्ञ भी रेडियो, टेपरिकॉर्डर इत्यादि की उपयोगिता स्वीकार कर चुके हैं। शास्त्रीय संगीत को समाज में लोकप्रिय बनाने में तथा जनसुलभ बनाने में जो भूमिका आकाशवाणी ने निभाई है, उसके महत्व को भुलाया नहीं जा सकता। आकाशवाणी पर प्रसारण से पूर्व संगीत का एक विस्तृत दायरा नहीं था। आकाशवाणी पर प्रसारण से जहाँ सभी प्रकार का संगीत सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो गया, वहाँ संगीत-साधकों के लिए भी यह कम महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुआ।

इस प्रकार औद्योगीकरण, लोकसंख्या में वृद्धि, विभिन्न कलाकारों की अपनी कला की यशकीर्ति और आर्थिक लाभ के लिए शहरों की ओर आकर्षण, संगीत-सभाओं के आयोजन में परिवर्तन, रेडियो, टेपरिकॉर्डर जैसे बिजली के साधन, माइक्रोफोन, लाउडस्पीकर जैसे आयुध के प्रयोग और संगीत-रसिक श्रोताओं की संख्या में वृद्धि आदि सामाजिक बदलावों के कारण संगीत पुराने समय के उस अनुशासनप्रिय और पारम्परिक वर्ग में सीमित न रह सका। संगीत का फैलाव समस्त जन-समुदाय के मध्य हुआ। इन सब परिवर्तनों के फलस्वरूप भारतीय संगीत भी प्रगतिशील बदलाव की ओर अग्रसर हुआ।

आधुनिक समाज में संगीत-कलाकार की स्थिति

यह सत्य है कि कोई भी सच्चा संगीत-कला-साधक अपनी कला को केवल जीविका का साधन नहीं समझता। लेकिन उसे अपनी कला-साधना के लिए जीने की जरूरत तो होती ही है। इसलिए उसे जीविका के साधन की आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक समय में संगीत-कलाकार ने मजबूरी में अपनी कला को ही जीविका का साधन बनाया हुआ है। पुराने जमाने में संगीत-कलाकारों की जीविका संरक्षण के माध्यम से चलती थी, आश्रयदाताओं के सहारे जीविका के साधन उपलब्ध होते थे। आश्रयदाता कलाकारों को अपने दरबार में गायक-वादक के तौर पर, अथवा आर्केस्ट्रा संचालन के लिए, शाश्वत रूप में रखते थे। उन्हें वेतन मिलता था, कल के निर्वाह की उन्हें चिन्ता नहीं थी। उनका काम था सिर्फ रियाज करना, दरबार में गाना और शिष्य तैयार करना। किन्तु अब ऐसी परिस्थिति नहीं है। पूँजीवादी युग में सामन्ती काल की संरक्षण-व्यवस्था समाप्त हो गयी है। कलाकारों को सरकार अपने आश्रय में मरते दम तक कायम नहीं रख सकती। अधिक से अधिक वह उन्हें “भारत रत्न” जैसा सर्वोच्च खिताब दे सकती है। आज रिकॉर्ड्स, एल.पी., रेडियो, दूरदर्शन, कैसेट व संगीत-मंच-प्रदर्शन आदि के कारण समाज में संगीत-श्रोता-समुदाय का विकास हुआ है। यही श्रोता-समुदाय आज के युग के संगीत का संरक्षक है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लोकप्रिय-संगीत अर्थात् फिल्मी-संगीत, बाजार की वस्तु है, इसलिए आधुनिक समय में संगीत एक ओर बिकाऊ वस्तु है तो दूसरी ओर मानवीय मूल्यों का स्रोत शास्त्रीय-संगीत भी है। इस प्रक्रिया में संगीत की दुनिया में व्यवसाय और संस्कृति का द्वन्द्व उत्पन्न होता है। आधुनिक काल में संगीत-श्रोता-समुदाय के अलावा राज्याश्रय भी संगीत का संरक्षक है। यद्यपि सामन्ती संरक्षण की तुलना में आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य और संगीत-श्रोता-समुदाय के संरक्षण में संगीत-कलाकार अधिक स्वतन्त्र है, लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था और आर्थिक प्रक्रिया से उसकी स्वतन्त्रता प्रभावित भी होती है। एक ओर राजसत्ता के दबाव और दूसरी ओर बाजार के प्रभाव के कारण उसकी स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है। कुल मिलाकर आधुनिक युग का गायक और उसका गायन अपने पूर्वजों की तुलना में अधिक सामाजिक है। इस सामाजिकता के अच्छे-बुरे दोनों पक्ष हैं, लेकिन यह सामाजिकता इतिहास प्रक्रिया की देन है, जिससे आज का मि्तान्त कलावादी गायक भी नहीं बच सकता।

आधुनिक काल में पूँजीवादी उत्पादन-प्रक्रिया का प्रभाव विभिन्न प्रकार के मानसिक उत्पादनों पर भी पड़ता है। कला और संगीत का उत्पादन भी उससे प्रभावित होता है और उत्पादक के रूप में संगीत-कलाकार भी। वह एक तरह का श्रमिक बन जाता है। मार्क्स ने पूँजीवादी समाज में उत्पादन की समग्र प्रक्रिया के भीतर कला के उत्पादन की प्रक्रिया में श्रम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—“एक ही प्रकार का श्रम लक्ष्य की भिन्नता के अनुसार कभी उत्पादक-श्रम होता है और कभी अनुत्पादक-श्रम।” इसको हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं, जैसे—एक गायक जब स्वयं गाकर कुछ कमाता है तो उसका श्रम अनुत्पादक है लेकिन वही गायक जब किसी व्यावसायिक संस्था या व्यक्ति के निर्देश पर बाजार के लिए गाता है तब उत्पादक श्रमिक बन जाता है।

आज के जमाने में गायक और गायन की सामाजिक स्थिति की इससे बेहतर व्यवस्था सम्भव नहीं है। वैसे आजकल गायक का श्रमिक बनना और गायन को बाजार की वस्तु बनाना केवल गायक की मर्जी पर निर्भर नहीं है। यदि गायक की जीविका का आधार उसका गायन है तो वह संगीत को सर्वहारा बनाने के लिए मजबूर है। इसलिए आज के गायक व उसकी संगीत-कला को ठीक ढँग से समझने के लिए गायक-कलाकार की सामाजिक स्थिति को समझना आवश्यक है। क्योंकि संगीत-कलाकार की आर्थिक-सामाजिक स्थिति से उसकी मानसिकता के स्वरूप का गहरा सम्बन्ध होता है। कलाकार की मानसिकता से उसकी कला प्रभावित होती है।

संगीत-कलाकार की सामाजिक स्थिति को समझने के लिए उसके सामाजिक-मूल और पेशे की जानकारी जरूरी है। भारत में संगीत-कलाकार के सामाजिक-मूल की पहचान के लिए वर्ग और संरचना में उसकी स्थिति का विशेष महत्व है। इसके बाद पेशा, परिवेश और सामाजिक संस्थाओं के प्रभाव की भूमिका विचारणीय है। इन सबके साथ ही उसकी आर्थिक दशा का विवेचन भी जरूरी है। यहीं उसकी जीविका और संरक्षण आदि के प्रश्न सामने आते हैं। इस प्रक्रिया में राज्याश्रय से संगीत-कलाकार के सम्बन्ध की बात भी महत्वपूर्ण बन जाती है।

स्वाधीनता के बाद भारत में संगीत-कलाकारों की स्थिति में बहुत परिवर्तन हुआ है। पत्र-पत्रिकाएँ, रेडियो, टी.वी. जैसे जन-संचार के विभिन्न माध्यम, सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएँ, शिक्षण-संस्थाएँ और निजी व्यवसाय आदि से संगीत-कलाकारों को जीविका के साधन मिलने लगे हैं। संगीत-श्रोता-समुदाय के साथ-साथ राज्याश्रय से भी संगीत-कलाकारों को सुविधाएँ मिलती हैं। संगीत-जगत में अधिकांश कलाकार छोटी-बड़ी नौकरियाँ करते हैं। कुछ ऐसे संगीत-कलाकार भी हैं जो अपनी संगीत-कला पर ही निर्भर रहते हैं। गायन या वादन-कला पर निर्भर रहने वाले या तो वे कलाकार हैं जिनके पास किसी तरह का ठोस आर्थिक आधार है या फिर जीवन में संघर्ष का साहस। संगीत-जगत में कलाकार की सामाजिक स्थिति, उनकी आर्थिक दशा और जीविका आदि के सवालों पर विचार की प्रक्रिया बहुत कम दिखाई देती है।

एक सफल कलाकार के लिए राज्याश्रय का एक बुरा पक्ष **नागार्जुन** ने यह बताया है कि युग-निर्माता संगीत-कलाकार जब आज के आराम-तलब और चापलूस आफिसरों के दरम्यान जा पहुँचता है तो उस पर “भई गति साँप छुछुंदर केरि” वाली कहावत लागू हो जाती है। धीरे-धीरे उसके अन्दर का युग-कला-शिल्पी मर जाता है, फिर विमूढ़ और पतित हंस की चोंच का पहला शिकार सरस्वती की खुद वीणा ही होती है।

आधुनिक युग में राज्याश्रय के विभिन्न रूप हैं, जिसके अन्तर्गत राज्य-सभा और विधान-सभा-परिषदों की सदस्यता, सरकारी संस्थाओं में पद, सरकारी उपाधियाँ, सांस्कृतिक शिष्ट-मण्डलों के अन्तर्गत विदेशों की यात्रा, संचार-माध्यमों की सुविधा आदि सब आते हैं।

वास्तव में आधुनिक समाज में संगीत-श्रोता-समुदाय ही संगीत-कलाकारों का सच्चा संरक्षक है। यही जनसाधारण-श्रोता-समुदाय कलाकारों के अन्नदाता हैं। आज अधिकांश जनता संगीत-शिक्षाविहीन है, साधनहीन है। हमारे देश में सभी लोगों को संगीत की थोड़ी बहुत शिक्षा अवश्य लेनी चाहिये, जिससे हमारे देश में श्रोताओं की ऐसी श्रेणी बन जाये जो सहज ही संगीत

की अच्छाई-बुराई को परख सके। जब यही जनता शिक्षित हो जायेगी या तानसेन की जगह कानसेन भी बन जायेगी तो कलाकारों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आयेगा। आज संगीत-संसार में ऐसे बहुत से कलाकार हैं जो नौकरी करते हुए संगीत-साधना में रत हैं। और संगीत-संसार में अच्छे कलाकार माने जाते हैं, जैसे—डॉ. प्रभाअत्रे, डॉ. एन.राजम आदि। मेरे अनुसार एक अच्छे कलाकार को राज्याश्रय से भिन्न जीविका के साधन खोजने चाहिये और जीविका के लिए छोटी-मोटी नौकरी स्वीकार कर लेनी चाहिये। जो कलाकार बहुत बड़ी तनख्वाह व सुविधा पाता है वह वर्ग बदल लेता है। रहन-सहन में ही नहीं, चिन्तन या विचारों में भी लोकोत्तर हो जाता है। प्रमाद-संशय-आत्मरति-दम्भ-मोह आदि दुर्गुणों के पनपने से वह असामाजिक प्राणी बन जाता है। दूसरी ओर आर्थिक रूप से परेशान कलाकार जीविकोपार्जन के लिए मारा-मारा फिरता है। मुसीबतें उसे झूठ, ठगी, बेईमानी, बहानेबाजी, कर्जखोरी, चारसौबीसी की तरफ ठेल देती हैं। आज संगीत-जगत में दोनों तरह के ही कलाकार मिलते हैं—प्रथम, सुविधा-जीवी और दूसरे जीवित-शहीद।

संगीत-कलाकारों के विभिन्न प्रकारों और उनकी जीविकोपार्जन के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित दो तालिकायें इस प्रकार हैं—

संगीत कलाकार—

(1) पूर्णकालीन	(2) अंशकालीन
(क) पार्श्वगायक	(क) अध्यापक : प्राचार्य
(ख) संगीतकार	(ख) रेडियो व दूरदर्शन-कलाकार
(ग) वादक	(ग) अन्य धन्धे में लगे शौकिया संगीतकार
(घ) शास्त्रीय गायक व वादक	(घ) गैर-सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले
(ङ) संगतकार	(ङ) वाग्गेयकार

जीविका—

(1) राज्याश्रय	(2) लोकाश्रय
(क) नौकरी	(क) पार्श्वगायक
(ख) नोमिनेशन सदस्यता	(ख) संगीतकार
(ग) अनुबन्ध	(ग) संगीत-रचना
(घ) पुरस्कार	(घ) संगीत सम्मेलन से प्राप्त राशि
	(ङ) गैर-सरकारी नौकरी
	(च) मित्र वर्ग से सहायता

परम्परा और संगीत

परम्पराएँ भारतीय समाज-व्यवस्था का इतिहास हैं, जिनके द्वारा भारतीय समाज की निरन्तरता बनी रहती है। परम्पराएँ समाज में सन्तुलन व दृढ़ता बनाये रखती हैं। परम्परा का सम्बन्ध साधारणतया समाज के कुछ ऐसे तत्वों से होता है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। परम्परा वह है जो बहुत समय से चले आने वाली किसी परिपाटी की ओर संकेत करती है और इस कारण यह नवीनता की विरोधी है अर्थात् हम उन्हीं मूल्यों को स्वीकार करते हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते हैं अथवा उनका पालन इसलिए किया जाता है कि बीते हुए समय में भी उनका पालन किया जाता रहा है।

समाजशास्त्री डी.पी. मुर्कजी ने 'परम्परा' शब्द की व्याख्या ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते हुए इस शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला है। डी.पी. ने लिखा है कि अंग्रेजी शब्द 'ट्रेडिशन' (Tradition) की उत्पत्ति 'ट्रेडर' (Tradere) शब्द से हुई है। 'ट्रेडर' शब्द का अर्थ है—हस्तांतरण करना। संस्कृत भाषा में अंग्रेजी के ट्रेडिशन का समानार्थक शब्द 'परम्परा' है। 'परम्परा' शब्द का अर्थ है—उत्तराधिकार या 'ऐतिह', जिसका अर्थ 'इतिहास' है। रोमन कानून के अनुसार 'ट्रेडर' शब्द का अर्थ मूल्यवान वस्तुओं को जमा करना तथा सुरक्षित रखना है। उनके अनुसार, नागरिक का यह नैतिक और कानूनी कर्तव्य है कि वह बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखे।

'परम्परा' को परिभाषित करते हुए गिन्सबर्ग ने लिखा है कि "इसका (परम्परा का) अर्थ उन सम्पूर्ण विचारों, आदतों और प्रथाओं के योग से है जो एक समूह की विशेषता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है।"

समाजशास्त्री रॉस ने अति संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित परिभाषा देते हुए लिखा है कि—"परम्परा का अर्थ है चिन्तन तथा विश्वास करने की विधि का हस्तान्तरण।" ड्रेबर के अनुसार "परम्परा को हम कानून, प्रथा, कहानी और पौराणिक कथाओं का वह संग्रह कह सकते हैं जो मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि—

1. परम्पराओं की प्रकृति मौखिक होती है अर्थात् सामाजिक विरासत का उल्लिखित रूप ही परम्परा कहा जाएगा।

2. परम्परा एक भावात्मक विशेषता को इंगित करती है। जिस तत्त्व को हम पीढ़ियों से ग्रहण करते आए हैं, उसे प्रथा अथवा लोक-रीति न कहकर परम्परा ही कहा जाएगा। उदाहरण के लिए संगीत-जगत में संगीत-गुरुओं के प्रति सम्मान एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्त्व है जो सहस्रों वर्षों से हमारे समाज में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता आ रहा है। इसे हम परम्परा ही मानेंगे।

संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणों को परम्पराओं का संरक्षक माना गया है। जाति-प्रथा भी एक प्रकार से परम्परा है जिसके संरक्षक ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण परम्पराओं को धार्मिक पुस्तकों द्वारा सुरक्षित रखते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करते हैं।

समाजशास्त्री डी.पी. मुकर्जी के अनुसार—“ब्राह्मण परम्परा को सामाजिक संरचना के रूप में बनाये रखते हैं।” आपने भारतीय समाज की निरन्तरता का बना रहना भी परम्पराओं के कारण बताया। आपने लिखा है कि परम्पराएँ भारतीय समाज का इतिहास हैं जिनके द्वारा भारतीय समाज की निरन्तरता बनी रहती है। परम्परायें समाज में सन्तुलन व दृढ़ता बनाये रखती हैं।

इसीलिए समाजशास्त्री डी.पी. मुकर्जी ने विस्तार से यह स्थापना की है कि भारतीय समाजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु परम्पराओं का अध्ययन है। आप भारतीय समाजशास्त्रियों का प्रथम कर्तव्य “भारतीय परम्पराओं” का अध्ययन मानते हैं। आपने कहा है कि—“हमारा जन्म भारतीय परम्पराओं में हुआ है, हमारा अस्तित्व भी इन्हीं में निहित है। हम अपनी परम्पराओं से भाग नहीं सकते। भारत की समाज-व्यवस्था में समूह की क्रियाओं को महत्वपूर्ण माना गया है। समूह की क्रियाएँ मत, सम्प्रदाय व जाति आदि के रूप में होती हैं, इसलिए हमें पहले भारतीय होना चाहिये। अपनी समाज-व्यवस्था को समझने के लिए भारतीय समाजशास्त्री को अपनी जनरीतियों, रूढ़ियों, प्रथाओं और परम्पराओं में भाग लेना चाहिये।”

अतः डॉ. डी.पी. मुकर्जी के उपर्युक्त कथन से परम्परा का महत्त्व तथा प्रभाव स्पष्ट होता है कि भारत का समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान तभी हो सकता है जब हम भारत की परम्पराओं का अध्ययन करें।

समाज में प्रत्येक समय नए अन्वेषण एवं विचार उत्पन्न होते रहते हैं, परन्तु भूतकालीन सम्मान प्राप्त होने के कारण परम्पराएँ इन्हें स्वीकृत एवं प्रचलित नहीं होने देतीं। परम्पराओं के विरोध में किये गये व्यवहारों को परम्परागत समाज में अच्छी तथा सम्मानपूर्ण दृष्टि से नहीं देखा जाता है। परम्पराएँ जहाँ समाज के स्थायित्व की निरन्तरता को बनाए रखने में सहायक होती हैं, वहाँ उनकी नवीन प्रगति में ये बाधक भी सिद्ध होती हैं। परम्पराओं के द्वारा समाज में व्यवस्थितता और श्रृंखलाबद्धता आती है। परम्पराओं के द्वारा एक समाज का अपने भूत रूप से सम्बन्ध स्थापित होता है।

समाजशास्त्री विल्स के अनुसार—“सभी नयापन जो कुछ पहले था, का ही रूपान्तरण होता है। प्रत्येक नयी विशेषता जो कुछ पहले थी, से नापी जाती है। इसकी पहिले वाली विशेषता से ही यह माना जाता है कि अब इसमें क्या नयापन आया है।”

परम्परा की विशेषतायें—परम्परा की विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

1. परम्पराओं में विरोध करने की एवं सीखने की महान् शक्ति निहित होती है।
2. ये समाज में सन्तुलन, दृढ़ता एवं संगठन को बनाये रखती हैं।

3. परम्पराएँ कभी मरती नहीं हैं।
4. परम्पराओं में अनुकूलन एवं सामंजस्य करने का गुण निहित होता है, इसलिए ये नवीन परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढाल लेती हैं।
5. परम्पराओं में निरन्तरता का गुण निहित होता है अर्थात् एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक स्थान से दूसरे स्थान और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। इसलिए परम्परा कोई स्थिर वस्तु नहीं है, ये गतिशील होती हैं।
6. परम्परायें समाज के सदस्यों को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक विकल्पों में से उपयुक्त विकल्प को चुनने का अवसर प्रदान करती हैं।
7. परम्पराओं में प्राचीन और नवीन का समन्वय मिलता है।
8. परम्परायें कभी नष्ट नहीं होती हैं, परम्पराएँ केवल तभी नष्ट होती हैं, जब समाज में परम्परा-विरोधी तीव्र आर्थिक परिवर्तन होता है।
9. समाजशास्त्री परम्परा की शक्ति का मूल्यांकन भी कर सकते हैं कि जो परम्परा जितने अधिक विरोधों का सामना करती है व अनुकूलन करती है, पीढ़ी-दर-पीढ़ी बनी रहती है, वह परम्परा उतनी ही शक्तिशाली है।

परम्परा का महत्व एवं प्रभाव—समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परम्परायें काफी प्रभावपूर्ण और शक्तिशाली हैं। इनसे सामाजिक संगठन, सामाजिक एकता और भावात्मक एकीकरण की प्राप्ति की दिशा में बड़ा सहयोग मिलता है। परम्पराओं के माध्यम से सहस्रों वर्षों का ज्ञान स्थाई रूप से बना रहता है। सामाजिक विरासत के रूप में हम उस ज्ञान को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हासिल करते रहते हैं।

स्वस्थ परम्पराएँ समाज में सदस्यों की शक्तियों और क्षमताओं के अपव्यय को रोकती हैं। यदि स्वस्थ परम्पराएँ न हों तो समाज को विभिन्न क्षेत्रों में अनावश्यक रूप से नए-नए परीक्षण करने पड़ेंगे, और इस प्रकार शक्तियों तथा क्षमताओं का अनावश्यक व्यय होगा। दूसरी ओर जब स्वस्थ परम्पराएँ विद्यमान होंगी तो कोई भी कार्य करते समय अतीत के अनुभवों के आधार पर हम आश्वस्त रहेंगे, फलस्वरूप विभिन्न नए परीक्षणों के झंझट से हम बच जाएँगे और हमारी शक्ति का उपयोग अन्य क्षेत्रों में हो सकेगा।

परम्पराएँ इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि वे हमारे हृदय में आत्मविश्वास और दृढ़ता का संचार करती हैं। इनसे व्यक्तियों के व्यवहारों में एकरूपता आती है। जो समाज स्वस्थ परम्पराओं से भरा-पूरा है, वह दूसरे समाजों के लिए उदाहरण बन सकता है। परम्पराओं के रूप में ज्ञान का जो संचित भण्डार हमें प्राप्त होता है, वह मानवता की अमूल्य धरोहर है।

भारतीय संगीत में परम्परा की अवधारणा

हिन्दुस्तानी-संगीत-कला में भी 'परम्परा' का बहुत महत्व है, यह सर्वविदित सत्य है। यह भी सच है कि बिना संगीत की परम्परा को ध्यान में रखे हुए हम हिन्दुस्तानी-संगीत की कल्पना भी नहीं कर सकते। यह बात नहीं है कि इसमें नए प्रयोगों और आविष्कारों की गुंजाइश

नहीं है। यह तो इसमें सदैव होते चले आए हैं। परन्तु ये सब प्राचीन, परम्परागत संगीत की सीमाओं के अन्दर ही थे। संगीत के समाजशास्त्र में हम संगीत-जगत में परम्परा के रूप में विद्यमान गुरु-शिष्य-परम्परा अर्थात् घराना-परम्परा का अध्ययन कर सकते हैं। घरानों के संगीत को जाने बिना हम परम्परागत संगीत को ठीक तरह से नहीं जान सकते।

जैसा कि हम जानते हैं कि गुरु-शिष्य प्रणाली से विद्याध्ययन हमारे संगीत की आदि परम्परा रही है। गुरु-मुख से सुन-समझकर ही किसी भी विद्या का सही ज्ञान सम्भव है। यह तथ्य जितना स्पष्ट तब था, उतना ही अब भी है। संगीत-कला का अध्ययन केवल ग्रन्थ के आश्रय से स्पष्ट नहीं है। स्वर-शास्त्र के प्रायोगिक पक्ष के लिए गुरु-सान्निध्य अत्यावश्यक है। गुरु से पारम्परिक शिक्षा के बिना केवल ग्रन्थ मात्र से स्वर-शास्त्र सीखने वाला व्यक्ति विद्वत्सभा में शोभायमान नहीं हो सकता। विषय के बारम्बार श्रवण से प्रज्ञा जागृत होती है, पाठ्य वस्तु को हृदयंगम करती है। प्रज्ञाबल से पाठ्य विषय के सम्बन्ध में अधिकाधिक मनोयोग उत्पन्न होता है और अविरत मनोयोग से विद्या आत्मसात् होती है। विद्याओं के स्पष्ट अध्ययन के लिए विषय में पारंगत विशेषज्ञों से शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक होता है। संगीत जैसी प्रायोगिक कला के लिए यही उपयुक्त है। यही कारण है कि वैदिक कालीन सामवेद की शिक्षा-प्रणाली में गुरु-सान्निध्य एवं गुरु से विद्या-श्रवण का विशेष महत्त्व है।

विभिन्न विद्याएँ, जो गुरु-कृपा से प्राप्त होती हैं, उनका वास्तविक ज्ञान कराने के लिए गुरु जो ढँग अपनाते हैं, वह उनका अपना विशेष हो सकता है। तात्पर्य यह है कि आवश्यक नहीं, सबका विद्याध्ययन करने का ढँग एक ही जैसा हो। विद्याध्ययन कराने के लिए गुरु का अपना ढँग-विशेष ही अपनी कतिपय विशेषताओं के आधार पर एक अलग अस्तित्व बना लेता है, सांगीतिक भाषा में जिसे 'घराना' कहा गया है। संगीत में घराने का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। घराने का तात्पर्य किसी विशिष्ट गुरु-परम्परा से होता है। घराना गुरु तथा शिष्य के संयोग से बनता है। विद्यादान करनेवाला गुरु और प्रतिभाशाली शिष्य के होने पर ही घराने का जन्म होता है।

संगीत में गुरु-शिष्य परम्परा का महत्त्व है। यदि हम प्राचीन इतिहास की ओर दृष्टिपात करें, तो देखेंगे कि मानव युग-युग से अपने को बचाए रखने के लिए नाना प्रकार के आयोजन करता चला आ रहा है। अन्य कलाओं की भाँति संगीत के क्षेत्र में भी संगीतकारों ने अपनी रचनाओं को शिष्य-परम्परा के बीच बनाए रखना चाहा। संगीत गुरुमुखी विद्या है। गुरु अपने कण्ठ की विशेषताओं को शिष्य के गले में उतारने की कोशिश करता है और शिष्य भी कठोर साधना द्वारा गुरु की पूरी नकल करता है। गुरु के व्यक्तिगत गुणों की झलक शिष्य के गायन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। गुरु का अनुसरण करते समय किसी सीमा तक गुरु के गुण-दोष अकस्मात् ही शिष्य की गायन-शैली को प्रभावित करते हैं। अतः शिष्य के द्वारा एक विशिष्ट गायन-शैली की प्रस्थापना सहज रूप से होती है। यह परम्परा या शैली का प्रकार एक नियमित घराने का रूप धारण करती है।

प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा वास्तव में एक महान् प्रणाली थी। शिष्य नम्र स्वभाव से संगीत की कठोर साधना करते थे। गुरुजन भी शिष्यों की ग्रहण-शक्ति के अनुसार उनसे अभ्यास

करवाते थे। घरानों के माध्यम से रात-दिन का रियाज करते हुए संगीत की साधना का क्रम वास्तव में प्रशंसनीय था।

‘घराना’ शब्द का वास्तविक अर्थ समझने के लिए हम ‘घराना’ शब्द की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं। ‘घराना’ शब्द ‘घर’ से प्राप्त होता है और ‘घर’ शब्द से हमें उस स्थान का बोध होता है जहाँ एक परिवार के सदस्य इकट्ठे रहते हैं। जैसे परिवार में बहुत से प्राणी एकसाथ मिलकर रहते हैं, सबकी विचारधारा एकसी ही होती है, पारम्परिक रस्म-रिवाज, रहन-सहन तथा मेल-मिलाप का ढँग एवं बोलने की शैली इत्यादि का एकसा पालन और विकास सभी करते हैं। इसी प्रकार का संस्कारगत प्रभाव संगीत के घरानों में भी पाया जाता है। वह परिवार ‘घराना’ ही कहलाता है।¹

गायकी या गायन-शैली घराने का प्राणभूत तत्त्व है। गीत की बन्दिश, गाने का ढँग, स्वर लगाने की पद्धति, आलापकारी तथा लयकारी यह सब मिलाकर घराने का निर्धारण करते हैं। ये सभी तत्त्व एक विशिष्ट घराने के गायकों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं क्योंकि गुरु के माध्यम से यह शैली आगे शाश्वत रहती है परन्तु उनका कम-अधिक प्रयोग तथा किसी विशेष तत्त्व को अधिक महत्त्व तथा बल देने में अन्तर आता है। अतः एक ही घराने के गायकों में भी थोड़ा अन्तर दृष्टिगोचर होता है। परन्तु मूलभूत तत्त्व तथा पद्धति एक ही रहती है।

घराने वास्तव में अपने परिवार के श्रेष्ठ और पराक्रमी पुरुषों की परम्परा से अपने को आवद्ध करने की सहज प्रवृत्ति है। घराने के प्रत्येक व्यक्ति में घराने के मूल पुरुष की विशेषताओं का प्रभाव अवश्य देखने को मिलता है। यह बात संगीत के घरानों की उत्पत्ति में दिखाई देती है। घराने के मूल पुरुष का प्रभाव अन्य लोगों पर पड़ा है। इस प्रकार ‘घराने’ का शाब्दिक अर्थ वर्ग, पंथ, परम्परा होते हुए भी ‘घराने’ शब्द की अन्तरनिहित भावना व्यक्त करने की सामर्थ्य इन पृथक्-पृथक् शब्दों में नहीं है। इसलिये मूल पुरुष के असामान्य गुणों की श्रेष्ठ आचार-विचार की परम्परा ही ‘घराना’ शब्द का भावार्थी द्योतक है। संगीत में स्वर ताल के प्राधान्य के कारण गायकी में विभिन्नता आती है। इसी भिन्नता के कारण विभिन्न गायकियों का या गायन-शैलियों का निर्माण हुआ। विभिन्न प्रकार की गायकी गाने वालों की परम्परा को—‘घराना’—यह नामाभिधान हुआ।

विभिन्न संगीत-विद्वानों ने घराना-परम्परा को इस प्रकार परिभाषित किया है—
डॉ. शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे के अनुसार, “घराना रीति या शैली का दूसरा नाम है। कला सौन्दर्य का आविष्कार करती है और इसी के किसी विशिष्ट अंग पर अधिकार प्राप्त हो जाने के कारण ‘घराने’ का जन्म होता है।”

ओ. गोस्वामी के अनुसार—“संगीत-क्षेत्र में गुरु से शिक्षा प्राप्त करके अपने रोज के व्यक्तिगत अभ्यास द्वारा उसमें प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार वह अपनी शिक्षा का विकास करता है, उसको नवीनता प्रदान करता है और उसमें अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित करके

शिष्यों को सिखाता है, बाद में उनके शिष्य अपने शिष्यों को सिखाते हैं, यह गुरु-शिष्य-परम्परा 'घराना' कहलाता है।”

श्री वामनराव देशपाण्डे के अनुसार, “घराना माने निशानी या पहचान के हिसाब से गायकी की विशिष्ट गति बनाये रखने वाली लेकिन उसमें हर गायक के साथ नई बातें समाहित करने वाली और इस प्रकार सिलसिला बनाये रखने वाली एक परम्परा है।”

उपर्युक्त विद्वानों के मत एवं 'घराने' शब्द के भावार्थ का विवेचन करने के बाद यदि 'घराना' शब्द को परिभाषा में आबद्ध करना है तो कहा जा सकता है कि—“संगीत में 'घराना' वह परम्परा है जिसकी स्वर-तालादि अंगों की भिन्नता से विशिष्ट पहचान होती है तथा शैली में मूल विशेषताओं का सिलसिला बना रहता है।”

अनेक पर्यायवाची तथा समानार्थी शब्दों को पीछे छोड़कर 'घराना' शब्द का रूढ़िगत प्रयोग बीसवीं शताब्दी में हुआ है। मध्ययुग में ध्रुपद शैली में 'सम्प्रदाय' शब्द ही 'घराने' के अर्थ का बोध कराता था। परन्तु ध्रुपद शैली के पश्चात् जब ख्याल-गायकी का प्रादुर्भाव हुआ तो इसमें 'वर्ग' या 'घराने' की कल्पना साकार हुई। ख्याल के साथ घरानों का घनिष्ठ सम्बन्ध होने का कारण मुख्य रूप से यह था कि ख्याल-गायकी में गायकों को अपनी कल्पना-शक्ति पर भावों का प्रदर्शन, कण्ठमाधुर्य, चातुर्य, चमत्कार, वैचित्र्य तथा सांगीतिक-सौन्दर्य सृजन करने का पूर्ण अवसर मिलता था। इसी प्रयत्न में कुछ गायकों ने अनेक प्रशंसनीय प्रयोग कर अपनी गायकी की शैली को परिष्कृत कर लोकप्रिय बनाया एवं दीर्घ शिष्य-परम्परा का निर्माण किया। पीढ़ियों तक इस परम्परा की अक्षुण्ण धारा ने 'घरानों' का रूप ले लिया। 'घराना' एक विशिष्ट ढंग की गायन-शैली या वादन-शैली का सूचक होता है। यह शैली या रीति जिस कलाकार द्वारा प्रवर्तित की जाती है वही उसका संस्थापक माना जाता है। उसी के नाम से अथवा उसके निवास-स्थान के नाम से 'घरानों' का नामकरण होता है, जैसे—प्रसिद्ध हददूखाँ और हस्सूखाँ के ग्वालियर निवासी होने के कारण उनकी परम्परा 'ग्वालियर घराना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। लोकप्रिय गायक स्वर्गीय अब्दुल करीम खाँ उत्तर प्रदेश के 'किराना' नामक ग्राम के निवासी थे, इस कारण उनका घराना “किराना घराना” कहलाया। स्वर्गीय अलीबख्श फतेह अली खाँ पटियाला के निवासी थे इसलिए उनकी गायन-परम्परा “पटियाला घराना” बन गई। स्वर्गीय अल्लादिया खाँ का जीवन अधिकतर कोल्हापुर और बम्बई में व्यतीत हुआ परन्तु जयपुर रियासत के मूल निवासी होने के कारण उनकी परम्परा को “जयपुर घराना” नाम से जाना जाता है। इसी तरह मरहूम खाँ साहब घग्गे खुदाबख्श आगरा के रहने वाले थे, यद्यपि वे जीवन भर जयपुर दरबार की सेवा में रहे फिर भी उन्हें “आगरा घराने” का प्रवर्तक माना जाता है।

‘घराना’ शब्द उच्चारण करते ही सर्वप्रथम मन में जो कल्पना उदित होती है वह यह है कि उसमें कुलीनता निहित है, उसका कोई खानदान है, कुछ अनुशासन है और उसकी कुछ परम्परायें हैं।

‘घराना’ परम्परा से जो ख्याति-प्राप्त गायक व शिष्य निकले वे यद्यपि आज के गायकों की भाँति डिग्रीधारी नहीं थे परन्तु वे अपने फन के पूरे उस्ताद थे। उनका अपनी आवाज पर पूर्ण

अधिकार था, उनके स्वरों में चुम्बकीय आकर्षण था। उनकी प्रस्तुति में घरानों की मर्यादा थी और रियाज करने का विशिष्ट ढंग झलकता था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि शास्त्रीय-संगीत के अभिजात स्वरूप का ज्ञान उन्हें इन घराना-परम्परा की छत्रछाया में हो जाता था। इसलिए घरानों की परम्परा को वे निजी व्यक्तित्व से श्रेष्ठ मानकर उनकी रक्षा बड़े यत्नपूर्वक करते थे, यही उनका अटल विश्वास था और यही उनका धर्म। इसलिए मिस्टर हॉवर्ड बोट राइट ने लिखा है—“An Indian musician keeps his Gharana or Tradition above himself.”¹

हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि भारतीय संगीत में जो सुघड़ता एवं शास्त्रबद्धता है वह अनुपम है। इस संगीत के सतत् विकास का श्रेय गुरु-शिष्य परम्परा को है। गुरु ने अपनी तपस्या, साधना और प्रयोगों से जितना जाना वह सब उसने अपने शिष्यों में बाँट दिया। शिष्यों ने अपने गुरु द्वारा ग्रहण की हुई इस निधि को सहेजा, सँवारा और उसे अपनी साधना और प्रयोगों द्वारा अधिक पल्लवित और विकसित किया। गुरु-मुख से संगीत प्राप्त होता है, यह निर्विवाद सत्य है, क्योंकि क्रियात्मक शिक्षा की दृष्टि से पुस्तकें और स्वरलिपि आदि व्यर्थ सिद्ध होते हैं। वस्तुतः प्राचीन गुरु-शिष्य परम्परा ने ही संगीत-विद्या को अधिक समृद्ध और सम्पन्न बनाया है। यदि हम आज के उत्कृष्ट कलाकार को देखें तो ज्ञात होगा कि प्रायः सभी किसी-न-किसी घराने के उस्ताद के शिष्य हैं। इसी कारण उनको उच्चकोटि की गायकी सहज रूप से प्राप्त हो सकी।

परम्परा की विशेषतायें एवं घराना-परम्परा—उपर्युक्त परम्परा की विशेषतायें हमें संगीत की घराना-परम्परा में भी दृष्टिगत होती हैं। जो इस प्रकार हैं—

1. **परम्पराओं में निरन्तरता का गुण निहित होता है**—घराना-परम्परा में भी निरन्तरता का गुण विद्यमान है अर्थात् घराने की गायन-परम्परा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। घराना-परम्परा में भी एक घराना ‘घराने’ की प्रतिष्ठा तभी प्राप्त कर सकता है जब कई पीढ़ियों का सिलसिला लगातार चलता रहा हो, क्योंकि जिसे ‘घराना’ कहा जाता है उसमें कुछ आनुवंशिकता होना आवश्यक है। जिस घराने की कम-से-कम तीन पीढ़ियाँ भी न गुजरी हों उसे सामान्यतया ‘घराना’ नहीं कहा जा सकता। तीन पीढ़ियों का अर्थ है कि प्रत्येक पीढ़ी में तीन कृतित्व-सम्पन्न गायक होने ही चाहिये अर्थात् पहला घराने का संस्थापक, उसके बाद एक प्रभावशाली शिष्य और ऐसे शिष्य का कम-से-कम एक कृतित्व-सम्पन्न शार्गिर्द। उदाहरण के लिए भास्कर बुआ बाखले के शार्गिर्द मास्टर कृष्ण राव हुए परन्तु उनके बाद प्रणाली चलाने वाला कोई शिष्य नहीं रहा, इसलिए भास्कर बुआ का घराना ‘घराना’ नहीं कहलाता।

2. **परम्पराएँ कभी मरती नहीं हैं**—घराना-परम्परा का अस्तित्व आज भी विद्यमान है। घराने तो वास्तव में अतीत की साधना का प्रतिफल हैं, उन्हें अशुण्ण रखना चाहिये। संगीत ‘घरानों’ में ही पनपा है। हर ‘घराने’ की अपनी वैयक्तिक शैली होती है। संगीत तो वास्तव में वह कला है, जिसका बिना किसी परम्परा-विशेष के प्राप्त होना मुश्किल है। पुराने समय में

आजकल की तरह रेडियो, संगीत-विद्यालय और टेप-रिकॉर्डर नहीं थे। इसी से 'घराने' की कल्पना अनजाने में दृढ़ हो गयी और संगीत की महान् कला को पुनर्जीवित रखा जा सका। अतः संगीत में 'घरानों' का रहना स्वाभाविक है। अतः यह परम्परा मरी नहीं है।

3. यह परम्परा की विशेषता है कि परम्पराएँ समाज में सदस्यों की शक्तियों और क्षमताओं के अपव्यय को रोकती हैं। व्यक्ति अतीत के अनुभव के आधार पर आगे बढ़ता है। घरानों से शिक्षा प्राप्त करने वाले शिष्य को मात्र गुरु का ही नहीं अपितु समस्त पूर्वजों के अनुभव और उपलब्धियों का लाभ प्राप्त हो जाता है, जो एक जीवन में केवल अपने प्रयास द्वारा प्राप्त कर लेना असम्भव है।

4. परम्परा की यह विशेषता है कि परम्परा में विरोध करने की एवं सीखने की महान् शक्ति होती है। यह विशेषता घराना-परम्परा में दिखाई देती है। घरानों के प्रादुर्भाव से लेकर आज तक यह मान्यता रही है कि शिष्य जब तक घराने की रीति का कठोर अनुशासन के साथ अनुसरण करेगा, तब तक घराने सुरक्षित रह सकते हैं। घराने के वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखने के लिए कोई भी शिष्य घराने की लीक से हटकर अपनी स्वतन्त्र कल्पना या प्रतिभा का उपयोग नहीं कर सकता था। एक घराने के शिष्य को दूसरे घराने का संगीत सुनने की आज्ञा नहीं थी। किसी भी 'घराने' का गुरु यह सहन नहीं कर सकता था कि उसका पुत्र, वंशज और शिष्य किसी दूसरे घराने की गायकी गाये। यह नियम 'घराना' विशेष के अनुशासन और आचार-संहिता के अन्तर्गत माना जाता था। घरानेदार गायक-कलाकारों की यह धारणा है कि शास्त्रीय-संगीत केवल घरानों में सुरक्षित है और उसमें किसी भी प्रकार का नवीन परिवर्तन सम्भव नहीं है। यदि कोई कलाकार अपनी गायकी में कुछ परिवर्तन करना चाहता था या कर देता था तो घरानेदार कलाकार उसको बुजुर्गों के साथ 'बेअदबी' मानते थे। घराने में गायकी-परिवर्तन के विरोध के साथ-साथ गुरु की गायकी को सीखने की शक्ति भी निहित थी। घराना-परम्परा में शिष्य कठोर साधना द्वारा गुरु की गायकी की पूरी नकल करता था। शिष्य नम्र भाव से संगीत की कठोर साधना करते थे, गुरुजन भी शिष्यों की ग्रहण-शक्ति के अनुसार उनसे अभ्यास करवाते थे।

5. परम्परा की यह विशेषता कि, परम्परायें समाज के सदस्यों को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक विकल्पों में से उपयुक्त विकल्प को चुनने का अवसर प्रदान करती हैं, घराना-परम्परा में भी विद्यमान है। जैसा कि हम जानते हैं कि घराने की उपयोगिता गायक की रुचि, रुझान और प्रवृत्ति पर निर्भर है। संगीत-जगत में ऐसे अनेक ख्याति-प्राप्त घरानेदार गायक हुए हैं जिन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा किसी अन्य घराने के गुरु से प्राप्त की और उसके पश्चात् दूसरे घरानों के गुरुओं से भी सीखा। उदाहरणार्थ, मुश्ताक हुसैन खाँ जो सहस्रवान घराने के गायक हैं, बचपन में इन्होंने अपने मामा अतरौली घराने के पुत्तन खाँ तथा महबूब खाँ 'दरस' द्वारा शिक्षा प्राप्त की। इसके पश्चात् इनकी शिक्षा इनायत हुसैन खाँ के सान्निध्य में हुई जो कि मुश्ताक हुसैन खाँ के श्वसुर थे। इन्होंने इनायत हुसैन खाँ के भाई मोहम्मद हुसैन बीनवाले तथा रामपुर के ध्रुवपद-गायक वज़ीर खाँ से भी शिक्षा प्राप्त की। इस प्रकार हम देखते हैं कि घराना-परम्परा में गायक के लिए अनेक विकल्प हैं। उसको जिस गायकी की आवश्यकता महसूस हुई, उसने उसी गुरु से अपनी गायकी को समृद्ध बनाने के लिए शिक्षा ग्रहण की। स्वयं

मुश्ताक हुसैन खाँ का कथन है—“संगीत-विद्या एक घराने में नहीं मिलती। अलग-अलग रंग चाहिये हों तो अलग-अलग गुरुओं से सीखना चाहिये।” मुश्ताक हुसैन खाँ के अतिरिक्त भी अनेक गायक हैं जिन्होंने कई घरानों के गायकों से शिक्षा ग्रहण की है।

अतः यह स्पष्ट है कि घराने-परम्परा के कठोर अनुशासन के बाद भी संगीत-जगत के गायकों को अपनी गायकी की समृद्धि के लिए जिस घराने के उस्ताद से सीखने की आवश्यकता महसूस हुई, उस गुरु से उन्होंने शिक्षा ग्रहण की।

6. परम्पराओं में अनुकूलन एवं सामंजस्य करने का गुण निहित होता है, इसलिये ये नवीन परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढाल लेती हैं। घराना-परम्परा में भी प्राचीन स्थिति की तुलना में उनकी आज की स्थिति अधिक लचीली बन गई है। आज एक मिश्र शैली का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसमें अनेक घरानों की झलक एक साथ पायी जाती है। जहाँ तक गायकी का प्रश्न है, उसकी रंजकता और विविधता में इस युग में वृद्धि हुई है, परन्तु गायक द्वारा किसी एक विशिष्ट घराने का प्रतिनिधित्व अब संदिग्ध हो गया है। इससे पूर्व जहाँ घराना-विशेष की विशेषतायें उससे सम्बद्ध कलाकारों तक ही सीमित रहती थीं, अब आधुनिक श्रवण-दर्शन की सुविधाओं ने ये सीमाएँ पूर्णतः खण्डित कर दी हैं। यदि हम आज के कलाकारों की मनोवृत्ति पर दृष्टिपात करें तो हमें पूर्णतः स्पष्ट हो जायेगा कि आज के युवा और प्रौढ़ संगीतज्ञ रूढ़ियों के प्रति संस्कारवश भले ही आग्रह रखते हों, वैज्ञानिक दृष्टि से तर्क करने पर वे परम्परा के प्रति अपने अकारण लगाव को तोड़ भी सकते हैं तथा नवीन परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको ढाल भी रहे हैं। जैसे, विभिन्न घरानों में आवाज-लगाव का जो एक विशिष्ट ढंग होता था उसे आज माइक्रोफोन के प्रयोग ने आवाज के चरित्र को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया है। कुछ वर्ष पूर्व तक घरानेदार गुरु इस बात पर विशेष ध्यान देते थे कि जब तक उनके युवा शिष्य-वर्ग का संगीत-शिक्षण गुरु की दृष्टि में पूर्णतया सन्तोषजनक न हो जाये तब तक वे उन्हें संगीत-सभाओं में गायन अथवा वादन की अनुमति नहीं देते थे। उदाहरणार्थ, अलाउद्दीन खाँ ने अपने पुत्र अली अकबर खाँ को तब तक मंच पर नहीं आने दिया जब तक गुरु (पिता) स्वयं सन्तुष्ट नहीं हुये। आज की स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। घरानेदार गुरु स्वयं इस बात का इच्छुक रहता है कि उसका पुत्र या शिष्य शीघ्रातिशीघ्र मंच पर आ जाये ताकि उसका नाम हो और प्रचार हो। अब वह युग तथा प्रवृत्ति नहीं रही जब घरानेदार गुरु बिल्कुल नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य किसी अन्य घरानेदार गुरु से मार्ग-दर्शन प्राप्त करें। आज का प्रबुद्ध गुरु अपने जागरूक, समझदार और विवेकी शिष्यों को कभी किसी गुणीजन के गायन सुनने के अवसर से वंचित नहीं करना चाहता। इस सन्दर्भ में जयपुर घराने की प्रसिद्ध कलाकार मोगूबाई कुर्डीकर का उदाहरण हमारे सामने है। मोगूबाई जो किशोरी अमोनकर की माँ और गुरु थीं उन्होंने किशोरी अमोनकर के स्वतन्त्र गायिका के रूप में उभरने के पश्चात् कभी भी अन्धानुकरण न करने के लिए केवल यही सीख दी—“किशोरी ! तुम्हें किसी अन्य की गायकी कभी प्रभावित करे और तुम उसको ग्रहण करना चाहो तो अवश्य करो, किन्तु गम्भीर चिन्तन के पश्चात्।” यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि परम्परा से जुड़े होने पर भी मोगूबाई ने किशोरी अमोनकर को स्वतन्त्र रूप से गायकी पर विचार करने की छूट दी क्योंकि इससे गायकी समृद्ध होती है।

7. परम्पराओं के समान घराना-परम्परा में भी प्राचीन और नवीन का समन्वय मिलता है। क्योंकि जब हमारी चिन्तन-प्रणाली सीमाबद्ध होती है तो हमारे विचार एकदम रुढ़ हो जाते हैं। स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव में गायकी की रंजकता समाप्त होती जाती है। यदि एक गायक दूसरे गायक की गायकी का उदार हृदय से सम्मान करे तथा उसकी गायकी के प्रभावशाली अंग व तौर-तरीकों को अपनाकर अपनी गायकी में नवीनता लाने का प्रयत्न करे तो उसकी गायकी कहीं अधिक समृद्ध हो सकती है। गायकी में प्रत्येक गायक की व्यक्तिगत विशेषता का बहुत महत्त्व है, क्योंकि हर गायक का आवाज लगाने का अपना व्यक्तिगत ढँग होता है, तथा उसके कण्ठ की अपनी एक विशेषता होती है। साथ-साथ उसकी अपनी कुछ सीमायें भी होती हैं। वह चाहे किसी भी घराने में पैदा हुआ हो उसकी स्वयं की रुचि व रुझान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता, क्योंकि गुरु का अनुकरण करते समय भी वैयक्तिक तत्त्व का प्राधान्य होता है। फिर अनेक पीढ़ियों तक घराने की गायकी का हूबहू अपने मूल रूप में बने रहना कैसे सम्भव है। आज एक घराने के गायकों की गायकी में भी विभिन्नता दिखाई देती है। इसका प्रमुख कारण प्राचीन और नवीन का समन्वय है। गायकी के क्षेत्र में नव-सृजन की उपलब्धियाँ, घरानेदार गायकी के विषय में चिन्तन, मनन एवं आत्म-संशोधन द्वारा ही सम्भव है क्योंकि प्रत्येक युग में उद्भासित होने वाली नवीन रचनात्मक कल्पनाएँ सदा हमारे पूर्वकालिक अनुभवों पर आधारित रही हैं। जयपुर घराने की प्रसिद्ध गायिका किशोरी अमोनकर का कहना है, “मैं अपने शिष्यों को अन्य घरानों को सुनने की अनुमति ही नहीं देती बल्कि उनसे यह भी कहती हूँ कि अपनी गायकी को अन्य गायकी के सीखने योग्य गुणों से सँवरो। केवल एक घराने की लोह-शृंखला में बँधे मत रहो। साथ ही स्वयं अपनी विचार-शक्ति से भी काम लो।”

अतः स्पष्ट है कि गायकी को समृद्ध बनाने के लिए घराना-परम्परा में नवीन विचारों का समन्वय भी करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—‘किराना घराना’ जो कि लगभग साठ-सत्तर वर्ष पुराना है, उसके गायकों की गायकी में समानता की मात्रा कम ही मिलेगी। अब्दुल करीम खाँ ने इस घराने की प्रतिस्थापना की थी। सवाई गन्धर्व ने स्वयं की कलात्मकता से उसमें नये और अलग प्रकार के प्रवाह मिलाकर समृद्ध किया था, उन्होंने उसे अलग-अलग प्रकार का आकार भी प्रदान किया था। इसका कारण यह था कि सवाई गन्धर्व की गायकी पर भास्कर बुआ बाखले एवं वझे बुआ के गुरु निसार हुसैन का बहुत प्रभाव था। इस बात को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं। सवाई-गन्धर्व के शिष्य भीमसेन जोशी ने कुछ अन्य घरानों की विशिष्टताओं को अपनी गायकी में समाविष्ट करके एक अलग रंग भरकर आज उसका एक नया रूप हमारे समक्ष रख दिया है, जैसे—जयपुर घराने की गायकी का लय का अन्दाज, उन्होंने अपनी गायकी में स्वीकार किया है अर्थात् राग-विस्तार को छोड़कर उन्होंने अपनी गायकी का वास्तुशिल्प भी बदल दिया है। इस पर भी वे ‘किराना घराने’ के प्रख्यात गायक माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने ‘किराना घराने’ के कुछ चिह्न, जैसे—सुरीलेपन की सम्हाल, स्वरावली तथा घराने की बन्दिश आदि को ज्यों का त्यों आज भी बनाये रखा है। अतः घराना-परम्परा में प्राचीन और नवीन का समन्वय मिलता है।

8. परम्परायें कभी नष्ट नहीं होती हैं। परम्परायें केवल तभी नष्ट होती हैं जब समाज में परम्परा-विरोधी तीव्र आर्थिक परिवर्तन आता है। संगीत-जगत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जनता में एक जागरूकता आई और सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन हो गया। देशी रियासतों के विलय से संगीत-जगत प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुआ क्योंकि दरबारी संरक्षण के अभाव में संगीतकार को अब जीवन-संघर्ष की भूमि पर खड़े होना पड़ा था। वर्तमान समय में गायकों एवं वादकों के धनोपार्जन का साधन केवल संगीत-सभाएँ ही रह गया है। दरबारी गायकों की भाँति उनका जीवन आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित नहीं है। इन कलाकारों का बहुत समय विभिन्न स्थानों पर आयोजित संगीत-सभाओं की यात्रा करने में व्यतीत हो जाता है। परिणामतः इन्हें अपना शिष्य-समूह तैयार करने के लिए पर्याप्त समय ही नहीं मिल पाता। इस मशीनी युग में मनुष्य की प्रतिदिन की आवश्यकतायें इतनी बढ़ती जा रही हैं कि जिनकी पूर्ति के लिए प्रत्येक को परिश्रम करना पड़ता है, साधन जुटाने पड़ते हैं फिर कलाकार भी संघर्ष से अछूता कैसे रह सकता है। संगीतकार और उनका शिष्य-समूह दोनों को ही इसके लिए अपना समय और शक्ति व्यय करनी पड़ती है। समाज में अपनी पहचान बनाये रखने के लिए कलाकारों को आवश्यक प्रयास करने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में गुरु-शिष्य-परम्परा अर्थात् घराना-परम्परा में शिथिलता आ जाना अस्वाभाविक नहीं है।

घराना-परम्परा की उपादेयता—संगीत में घराना-परम्परा एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। घराने की प्रथा संगीत के सभी प्रकारों में पाई जाती है। जिस प्रकार गायन के घराने होते हैं उसी प्रकार वाद्य तथा नृत्य के भी घराने होते हैं। संगीत के क्षेत्र में कई घराने प्रचलित हैं, जैसे—दिल्ली-घराना, लखनऊ-घराना, किराना-घराना, रामपुर-घराना, पटियाला-घराना, ग्वालियर-घराना, आगरा-घराना, जयपुर-घराना, मेवाती-घराना, डागर-घराना, सहसवान-घराना, भिण्डी बाजार-घराना आदि।

प्रत्येक घराने की अपनी विशेषता अथवा वैशिष्ट्य होता है और वह अपनी परम्परा का ही सच्चा अनुयायी होता है। अपनी संगीत-शैली का विशेषज्ञ बनना ही उसका लक्ष्य होता है और उसी में वह प्रवीणता प्राप्त करता है।

वास्तव में संगीत-घराना-परम्परा ही भारतीय संगीत की नींव है, जिसके आधार पर वह अब तक खड़ा है। यदि आधुनिक हिन्दुस्तानी-संगीत को इस घरानेदार संगीत का सहारा न मिलता तो वह वास्तव में निर्जीव बन जाता। इस परम्परागत संगीत को, जिसे प्रतिष्ठित घरानेदार संगीतज्ञों ने बड़े परिश्रम और अपनी निरन्तर साधना से सुरक्षित रखा है, उसे दूसरों तक पहुँचाया है और बड़ी उदारता से अपने संगीत के ज्ञान भण्डार को अपनी शिष्य-परम्परा में बाँटकर जीवित रखा है।

यह सत्य भी है कि जिन संगीत-साधकों ने अपना सम्पूर्ण जीवन इस कला की आराधना में समर्पित कर दिया, उसकी रक्षा करना घरानेदार गायकों का प्रथम कर्तव्य था। घरानेदार गायकी ने हमारे संगीत को अन्य प्रकार के संगीत से अधिक प्रतिष्ठित, समृद्ध और चेतनाशील बना

दिया। संगीत की इस परम्परा के कारण हमारा संगीत वर्षों पुराना होने पर भी आज तक प्रभावित और असरदार है। चाहे जो भी हो, घरानों द्वारा हमारे शास्त्रीय-संगीत के अंग-प्रत्यंग का पूर्ण निखार हुआ है, परिष्कार हुआ है। उससे शास्त्रीय-संगीत की एक परम्परा स्थापित हुई है। श्री देशपाण्डे के शब्दों में—‘घरानेदार गायकी’ और ‘अभिजात संगीत’ ये पर्यायवाची शब्द हैं। यही नहीं, जो भी अभिजात अर्थात् उच्च माना गया है, जिसके कारण हिन्दुस्तानी संगीत उन्नति कर सका, विकसित हुआ, समृद्ध बन सका, वह इन घरानों की छत्र-छाया में रहकर ही हो सका।”

आज भी संगीत में गुरु से शिक्षा प्राप्त करना उतना ही अनिवार्य है जितना पहले था परन्तु परम्परा का निर्वाह करना गौण हो गया है। प्राचीन गुरु-शिष्य-परम्परा का जो स्वरूप था वह इन पच्चीस वर्षों में बदल-सा गया है।

फिर भी प्राचीन गुरु-शिष्य-परम्परा की उपादेयता को आज भी संगीत-विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसीलिए इस परम्परा को पुनःजीवित करने का आई.टी.सी. (इण्डियन टुबैको कम्पनी) द्वारा एक गम्भीर प्रयत्न किया जा रहा है। इस कम्पनी ने कलकत्ता में ‘संगीत रिसर्च अकादमी’ के नाम से एक संस्था प्रारम्भ की है जो विगत कुछ वर्षों से इस दिशा में कार्य कर रही है। जिस प्रकार प्राचीन काल के गुरुकुल हुआ करते थे, उसी प्रकार का वातावरण यहाँ पर बनाने का प्रयास किया गया है। यहाँ विद्यार्थी गुरु के सान्निध्य में रहता है तथा उसकी देखरेख में संगीत शिक्षा ग्रहण करता है।

अन्त में, यह परम्परा हमारी मार्ग-दर्शक है। यदि घराना-परम्परा न होती तो हमारे संगीत की पैतृक सम्पत्ति सुरक्षित न रहती। पिछले कई सौ वर्षों में संगीत के हित में प्रतिष्ठित घरानों की परम्परा ने जो महान् कार्य किया है, वह संसार की कोई बड़ी-से-बड़ी संस्था भी नहीं कर सकती थी।

संस्था और संगीत

संस्थाएँ संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग होती हैं। किसी भी समाज और संस्कृति को समझने के लिए उसकी संस्थाओं को समझना आवश्यक है। संस्थाएँ मानव-आवश्यकताओं और अभिरुचियों की द्योतक होती हैं। मानवीय आवश्यकतायें ही विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को जन्म देती हैं।

संस्था का अर्थ एवं परिभाषा—समाजशास्त्रीय अर्थ में 'संस्था' का सम्बन्ध व्यक्तियों के समूह से नहीं होता बल्कि समाज द्वारा मान्य उन पद्धतियों से होता है जिनके द्वारा हम अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। संस्था के समाजशास्त्रीय अर्थ को बड़े सरल और स्पष्ट रूप से समझाते हुए सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने लिखा है कि मानव समाज के कुछ समान हित होते हैं, और कुछ विशेष हित (Particular Interests) होते हैं। समान हितों को दृष्टि में रखकर जो संगठन बनते हैं वे 'समुदाय' कहलाते हैं; विशेष हितों को दृष्टि में रखकर जो संगठन बनते हैं वे 'समिति' कहलाते हैं। परन्तु इन हितों, इन स्वार्थों, इन उद्देश्यों को पाने के लिए, इन्हें कागज पर ही न रखकर क्रिया में उतारने के लिए, इन्हें मूर्त रूप देने के लिए कुछ साधनों का आश्रय लिया जाता है। कुछ तरीके, कुछ प्रणालियाँ, कुछ रास्ते निकाले जाते हैं। विशेष-विशेष हितों को पूर्ण करने के ये तरीके, ये साधन, ये प्रणालियाँ ही संस्थाएँ (Institutions) कहलाती हैं।

बोगार्डस (Bogardus) के शब्दों में "एक सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना है जिसको सुस्थापित कार्यविधियों द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।"¹

इस परिभाषा में संस्थाओं को ऐसी बहुत-सी कार्य-विधियों का संग्रह माना गया है जिनका कार्य कुछ व्यक्तियों की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करना है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार—"संस्थाओं का अर्थ सामूहिक क्रिया की विशिष्ट प्रकृति से युक्त कार्य-प्रणाली के स्थापित रूपों अथवा स्थितियों (Established form of procedures) से है।"² इस परिभाषा से प्रकट होता है कि संस्था सामूहिक-क्रिया अथवा जीवन

1. E.S. Bogardus : Sociology, P. 35.

2. मैकाइवर एवं पेज : समाज, पृष्ठ 13.

का परिणाम है। संस्था व्यक्तियों का समूह नहीं होता वरन् उस समूह द्वारा स्थापित संगठन के द्वारा किए जाने वाले कार्य के ढंग या प्रणाली का एक स्वरूप है।

गोल्डनर तथा गोल्डनर के अनुसार, “एक संस्था विभेदीकृत व्यवहार की समाज द्वारा निश्चित की गई एक प्रणाली है जिसकी सहायता से समाज में बराबर बनी रहने वाली समस्याओं का समाधान किया जाता है।”¹ आपने अपनी परिभाषा में स्पष्ट किया है कि समाज द्वारा स्वीकृत अथवा मान्य व्यवहार करने की एक निश्चित प्रणाली या व्यवस्था ही संस्था है जिसकी सहायता से विभिन्न समस्याएँ हल की जाती हैं और अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है।

गिलिन और गिलिन के अनुसार, “एक सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमानों (जिनमें क्रियाएँ, विचार, मनोवृत्तियाँ तथा सांस्कृतिक उपकरण आदि सम्मिलित हैं) का वह क्रियात्मक स्वरूप है जिनमें कुछ स्थायित्व होता है तथा जिसका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना है।”² इस परिभाषा में तीन तत्त्वों की ओर मुख्य रूप से संकेत किया गया है—संस्था एक क्रियात्मक इकाई है, यह तुलनात्मक रूप से अधिक स्थायी होती है, संस्था का निर्माण अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलतापूर्वक और मान्यता प्राप्त तरीकों से करने के लिए होता है।

आगवर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, “कुछ आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु संगठित एवं स्थापित प्रणालियाँ सामाजिक संस्थाएँ हैं।”³ इस परिभाषा में भी यह माना गया है कि व्यक्ति की कुछ मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्मित विधि-विधानों तथा प्रणालियों की व्यवस्था ही सामाजिक संस्था है।

किंग्सले डेविस ने लिखा है, “संस्था को परस्पर सम्बन्धित लोकरीतियों, लोकाचारों तथा वैधानिक नियमों की समग्रता कहकर परिभाषित किया जा सकता है, जो एक अथवा अधिक कार्यों के लिए बनाई गई हो।”⁴

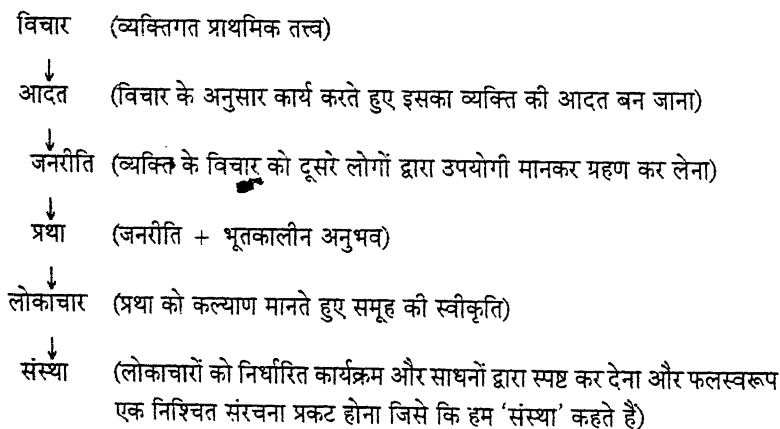
रॉस का कथन है, “सामाजिक संस्थाएँ संगठित मानवीय सम्बन्धों का एक समूह है जिनकी स्थापना अथवा स्वीकृति सामान्य इच्छा द्वारा की गई हो।”⁵ इस परिभाषा से भी यही स्पष्ट होता है कि संस्था का निर्माण एक या दो व्यक्तियों द्वारा नहीं होता बल्कि जब अनेक व्यक्ति मिलकर किसी कार्य-प्रणाली को स्वीकार करते हैं तो यही कार्य-प्रणाली ‘संस्था’ बन जाती है।

मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार, “ये (संस्थाएँ) व्यक्तियों या समूह के बीच सम्बन्धों को निर्देशित करने वाली मान्य तथा स्थापित कार्यप्रणालियों के रूप में परिभाषित की जा सकती हैं।”⁶ इस परिभाषा में व्यक्तियों या समूहों के सम्बन्धों को संचालित करने वाली मान्य या स्वीकृत कार्य-प्रणालियों को ही “संस्थाओं” का नाम दिया गया है।

1. Gouldner & Gouldner : Modern Sociology
2. J.L. Gellin & J.P. Gillin : Cultural Sociology, P. 315.
3. Ogburn & Nimkoff : A Handbook of Sociology
4. किंग्सले डेविस : मानव समाज, पृष्ठ 59.
5. Ross : Principles of Sociology, P. 689.
6. Morris Ginsburg : Sociology, P. 42.

पूर्वोक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि मानव-व्यवहार को नियन्त्रित करने वाली वे सभी कार्य-विधियाँ संस्था हैं जो समूह के आदर्श नियमों से निर्मित होकर एक निश्चित ढाँचा प्राप्त कर लेती हैं। संस्था की अवधारणा को हम इस उदाहरण द्वारा अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं, जैसे—कॉलेज या महाविद्यालय व्यक्तियों के समूह के रूप में (प्रधानाचार्य, अध्यापकों, कर्मचारियों आदि के संग्रह के रूप में) एक समिति है लेकिन इसी कॉलेज को यदि हम भाषण, परीक्षा प्रणाली, अनुशासन के नियमों आदि की एक व्यवस्था मान लें तो यही हमारे लिए “संस्था” हो जाती है।

संस्था का उद्‌विकास—संस्था एक उद्‌विकासीय प्रक्रिया के द्वारा विकसित होती है। किसी भी संस्था का निर्माण अकस्मात् रूप से या एकाएक नहीं हो जाता। कुछ स्तरों द्वारा कार्य करने के बाद ही कोई संस्था स्पष्ट रूप धारण करती है। प्रख्यात, अमेरिकी समाजशास्त्री समनर (Sumner) के अनुसार, “एक संस्था में एक संकल्पना (Concept) और एक संरचना (Structure) सम्मिलित होती है।”¹ संकल्पना के अन्तर्गत समनर ने विचारों, उपकल्पनाओं, सिद्धान्तों अथवा हितों को शामिल किया है। इस प्रकार समनर के विचार का खुलासा यह है कि संस्थाओं का प्रारम्भ ‘विचार’ (Idea) से होता है अर्थात् सर्वप्रथम किसी व्यक्ति के मन में “एक विचार” पैदा होता है। यदि यह विचार उपयोगी लगता है तो इसी के अनुसार कार्य करना व्यक्ति की आदत बन जाती है। जब यह उपयोगी विचार अन्य व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किया जाने लगता है तो यह ‘जनरीति’ का रूप धारण कर लेता है। कुछ समय बीत जाने पर यही जनरीतियाँ “प्रथाएँ” बन जाती हैं। जब ये प्रथाएँ समाज या समूह के लिए कल्याणकारी मान ली जाती हैं तो ये ‘लोकाचारों’ (Mores) के रूप में विकसित हो जाती हैं। तत्पश्चात् कुछ नियमों, निर्धारित कार्यक्रमों और साधनों द्वारा इन लोकाचारों को और अधिक स्पष्ट और निश्चित कर दिया जाता है। फलस्वरूप एक ‘निश्चित संरचना’ हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है और उसी को हम “संस्था” कहते हैं। इस प्रकार संस्था का विकास-क्रम निम्न प्रकार है—



संस्था के इन विकास-सोपानों की व्याख्या निम्न प्रकार है—

1. **विचार या धारणा**—यह संस्था का प्राथमिक तत्त्व है। विचार मानव-मस्तिष्क की वह सृज है जिसे यदि क्रियात्मक रूप दिया जाये तो उससे उसकी आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है। व्यक्ति का यही प्राथमिक विचार धीरे-धीरे विभिन्न स्तरों से गुजरकर एक संस्था का रूप ले लेता है।

2. **व्यक्तिगत आदत**—व्यक्ति के मन में प्राथमिक अवस्था में जो 'एक विचार' उत्पन्न होता है वह यदि उपयोगी प्रतीत होता है तो इसी के अनुसार कार्य करना व्यक्ति की आदत बन जाती है।

3. **जनरीति**—उस व्यक्ति की आदत को सफल होते देख जब समाज के दूसरे लोग भी वैसा ही करने लगते हैं अर्थात् उस व्यक्ति के विचार को जब दूसरे व्यक्तियों द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है तो यह जनरीति अथवा सामूहिक आदत के रूप में बदल जाता है।

4. **प्रथा**—जब जनरीति पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है और उसमें भूतकाल का सफल अनुभव जुड़ जाता है तो यह प्रथा बन जाती है।

5. **लोकाचार या रूढ़ि**—जब प्रथा कल्याणकारी मानली जाती है और उसे सामूहिक स्वीकृति मिल जाती है तो वह लोकाचार का रूप ग्रहण कर लेती है।

6. **संस्था**—लोकाचारों और रूढ़ियों की रक्षा के लिए जब कुछ नियमों, निर्धारित कार्यक्रमों, कार्य-विधियों आदि का एक ढाँचा खड़ा कर दिया जाता है तो संस्था का निर्माण होता है। यह स्पष्ट संरचना ही 'संस्था' कहलाती है।

इस प्रकार 'संस्था'—विचार, आदत, जनरीति, प्रथा और लोकाचार से निर्मित एक ऐसी व्यवस्थित संरचना का ढाँचा है जिसका उद्देश्य मानव की महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

संगीत में संस्था के उद्द्विकास की अवधारणा

भारतीय संगीत में संस्था के उद्द्विकास को "घराना-परम्परा" द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। यह तो सर्वविदित है कि संगीत में घराना-परम्परा एक सामाजिक व्यवस्था होने के साथ-साथ एक सफल "शिक्षा-संस्था" भी रही है। प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री **समनर** ने महत्वपूर्ण दो पहलू संस्था के सम्बन्ध में बताये हैं कि एक संस्था में एक संकल्पना और एक संरचना सम्मिलित होती है। वह महत्वपूर्ण पहलू हमें घराना-शिक्षा-संस्था में भी देखने को मिलते हैं। अतः घरानों का उद्द्विकास संस्था के रूप में इस प्रकार है जैसा कि ऊपर हम कह चुके हैं कि संस्थाओं का प्रारम्भ 'विचार' से होता है अर्थात् सर्वप्रथम किसी संगीतज्ञ के मन में 'एक विचार' पैदा हुआ कि वह अपने संगीत को प्रभावी बनाने के लिए, व्यक्तिगत अभ्यास व कल्पना द्वारा उसमें नवीनता प्रदान करे। नवीनता प्रदान करने के लिए उसने अपनी गायकी की रीति, उसकी सौन्दर्य प्रणाली, उसके आन्तरिक कायदे, स्वयं की आवाज की आकृति के अनुसार सृजित किये। उस नवीनता का प्रयोग संगीतज्ञ ने स्वयं अपने गायन में किया तथा अपने परिश्रम, लगन, संगीत-साधना तथा कला-कौशल के बल पर वह संगीत-जगत का एक ख्याति-प्राप्त गायक बन

गया तथा अपने व्यक्तित्व की छाप-अंकित-संगीत को उसने अपने शिष्यों को सिखाया। बाद में उसके शिष्यों ने अपने शिष्यों को सिखाया। इस परम्परा से शिक्षित होने पर शिष्यों को अपने गुरु का अनुभव तथा उपलब्धियों का लाभ भी प्राप्त हुआ तथा यह शिक्षण-परम्परा संगीतज्ञ के नाम से या उसके निवास-स्थान के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस प्रकार एक प्रणाली के संगीतज्ञ की आशातीत सफलता को देखकर अन्य संगीत-समाज के संगीतज्ञों ने भी इस विचार का स्वागत किया तथा उसका अनुसरण किया। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी जब संगीतज्ञ की वह विशिष्ट गायकी हस्तान्तरित हुई तो उसने प्रथा का रूप धारण कर लिया। कुछ समय पश्चात् संगीतज्ञों द्वारा घराना-प्रथा को संगीत के लिए कल्याणकारी माना जाने लगा क्योंकि संगीतज्ञों का विचार था कि भविष्य में अपनी कला को सुरक्षित रखने का सफल साधन घराना-प्रथा है। अतः अब घराना-प्रथा को संगीत-जगत में जब सामूहिक स्वीकृति मिल गई तब उसने लोकाचार का रूप धारण कर लिया। आगे चलकर इस लोकाचार की रक्षा के लिए नियम-कायदे-कानून बना दिये गये जिनसे एक निश्चित संरचना स्पष्ट हो गई तथा घराने ने 'संस्था' का रूप धारण कर लिया। जैसा कि हम जानते हैं कि घराने की अपनी 'रीति' या 'अनुशासन' होता है। हमारे प्रसिद्ध संगीत-शास्त्रज्ञ **देशपाण्डे जी** ने भी लिखा है कि—“‘घराना’ शब्द का उच्चारण करते ही मन में सबसे पहले यदि कोई कल्पना आती है तो यही कि उसमें कोई कुलीनता है या कोई खानदान है। उसी में यह भी बोध होता है कि इन लोगों में कोई तौर-तरीका है, कुछ अनुशासन है और कुछ परम्परायें हैं। कुल मिलाकर आचरण, मर्यादाएँ और सामान्यतः कुछ संयम है।”

अन्त में इस सत्य की कोई अनदेखी नहीं कर सकता कि संगीत-जगत में 'घराना' एक सफल शिक्षण-संस्था रही है।

भारतीय संगीत में संस्थाएँ—लोकतन्त्र में संस्थाओं की अहमियत से कौन वाकिफ नहीं ? इसीलिए आज चारों ओर संस्थाएँ ही संस्थाएँ दीख पड़ती हैं। राजनीति-विज्ञान और साहित्य से लेकर जातियों और धर्मों तक अनेक संस्थाएँ रोज जन्म लेती हैं। कुछ टिकती हैं, कुछ समाप्त हो जाती हैं। संगीत भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहा।

भारत के पास शिक्षण-संस्थाओं का अपना सम्पन्न इतिहास है। यद्यपि आधुनिक युग में, संगीत की संस्थागत शिक्षण की व्यवस्था पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव में बहुत विकसित हुई परन्तु इस विषय के शालेय-शिक्षण का प्रचलन प्राचीन एवं मध्ययुग में भी यत्र-तत्र देखने में आता है।

वैदिक-युग के उत्थान के समय ब्राह्मणों ने जिस गुरुकुल पद्धति की नींव डाली थी, उसने लम्बे समय तक न केवल भारतीय ज्ञान के विकास में ऐतिहासिक योगदान दिया, बल्कि उस ज्ञान को उच्च वर्णों के बीच ज्यादा से ज्यादा फैलाया, जिससे समाज की अभूतपूर्व प्रगति हुई।

संगठित शिक्षण-संस्थाओं की शुरुआत बौद्ध-विहारों से हुई। इन विहारों में भिक्षु-भिक्षुणियाँ रहती थीं। किन्तु बाद में ये विद्या के केन्द्र बनकर उच्च-कोटि की शिक्षण-संस्थाओं के रूप में उभरने लगे। धीरे-धीरे वैष्णव मन्दिरों में भी शिक्षण-कार्य होने लगा। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने मठ स्थापित किए, जो वास्तव में शिक्षा के विशिष्ट केन्द्र ही थे।

बौद्धकाल में तक्षशिला विद्यादान का प्रमुख केन्द्र था, जिसमें वैदिक विद्यालय, अष्टादश विद्यालय, शिल्प-विज्ञान विद्यालय आदि विभिन्न अध्ययन-विभागों में पाँच-पाँच सौ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।¹

तक्षशिला में आज के महाविद्यालय या विश्वविद्यालय जैसी कोई शिक्षण-संस्था नहीं थी। विद्वानों का आवास ही वहाँ संस्था बन गया था, जहाँ आचार्य अपने वरिष्ठ शिष्यों के सहयोग से शिक्षण-कार्य सम्पन्न करते थे। वाराणसी, बौद्धकाल का एक दूसरा विद्या-केन्द्र था, जिसमें संगीताध्यापन का एक स्वतन्त्र विभाग था। नालन्दा, विक्रमशिला तथा तदन्तपुरी जैसे अन्य विश्वविद्यालयों में भी गान्धर्व का स्वतन्त्र निकाय अथवा फैकल्टी थी तथा इसके अधिष्ठाता के रूप में भारत-विख्यात संगीतज्ञ की नियुक्ति हुआ करती थी।²

कौटिल्य के “अर्थशास्त्र के साक्ष्य से स्पष्ट है कि नाट्य तथा संगीत-कला को राजाश्रय प्राप्त था। गणिका, दासी तथा नटों के गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, नृत्त, वैशिक आदि कलाओं की शिक्षा देने वाले व्यक्तियों को शासन की ओर से द्रव्य दिया जाता था। इनके पाठ्यक्रम में वैशिकी कला के अतिरिक्त गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, वीणा, वेणु तथा मृदंग की शिक्षा सम्मिलित थी। ललित कला की इन संस्थाओं का प्रवर्तन राज्य की ओर से होता था। ऐसी संस्थाओं में गणिकाओं के अतिरिक्त उनके वंशज तथा संगीत का व्यवसाय करने के इच्छुक अन्य शिक्षार्थियों को प्रवेश दिया जाता था।”³

वात्स्यायन के कामसूत्र में भी संगीत-शालाओं में संगीत-शिक्षा के प्रबन्ध का उल्लेख मिलता है। इन शालाओं का संचालन समस्त नगर की ओर से अथवा विभिन्न व्यावसायिक गणों की ओर से होता था। “नागरक के पुत्रों तथा गणिकादि वर्गों को संगीत की उच्च शिक्षा दी जाती थी। इन शालाओं का पाठ्यक्रम समाप्त करने पर गणिका तथा अन्य विद्यार्थी न केवल जीविकोपार्जन के लिए योग्य बन जाते, अपितु सुसंस्कृत नागरक कहलाने के लिए पात्र बन जाते थे।”⁴

भास के नाटकों में राजकन्याओं को बाल्यकाल से संगीत-शिक्षा प्रदान करने हेतु संगीत-शालाओं की व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। शूद्रक के “मृच्छकटिक” नाटक में सूत्रधार जब अपनी संगीतशाला को शून्य देखता है तब उसे अपने दारिद्र्य का स्मरण हो आता है।⁵ बाण के ‘हर्षचरित’ में राजभवन के अन्तर्गत ‘संगीतगृह’ का उल्लेख है, जो राजप्रासादों का आवश्यक अंग रहा है। कालिदास की कृतियों में संगीत विषयक जो उल्लेख मिलते हैं उससे यह निःसंकोच कह सकते हैं कि “इस युग में संगीत-कला को यथेष्ट राजसम्मान प्राप्त था।

1. जातक कालीन भारतीय संस्कृति : वियोगी, पृष्ठ 98.

2. एनशियेन्ट इण्डियन एजुकेशन : राजकुमुद मुखोपाध्याय, पृष्ठ 490.

3. भारतीय संगीत का इतिहास : डॉ. परांजपे, पृष्ठ 250.

4. भारतीय संगीत का इतिहास : डॉ. परांजपे, पृष्ठ 250.

5. भारतीय संगीत का इतिहास : डॉ. परांजपे, पृष्ठ 264.

राजगृहों में संगीतशालाओं का संचालन बड़ी सफलतापूर्वक होता था, जिसके फलस्वरूप मालविका, हंसपादिका, शर्मिष्ठा, इरावती तथा इन्दुमती जैसी सुयोग्य एवं प्रतिभासम्पन्न कलाकर्त्रियों का निष्पादन होता था।¹

सामन्तीय युग में संगीत-नृत्य को प्रश्रय देने और उन्हें बढ़ावा देने वाली संस्था के रूप में राजा-रईसों की गोष्ठियाँ और उनके अन्तःपुर की प्रमुख भूमिका रहती थी। अमीरों का यह विलासी वातावरण लगे हाथों उन्हें संगीत आदि कलाओं में शिक्षित भी कर दिया करता था। दूसरी ओर, कलाकार-वर्ग की जातियों में संगीत-नृत्य की तालीम पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आने के कारण उनका घरेलू वातावरण शिक्षण-संस्था का काम करता था। औपचारिक संगीत-शिक्षण-केन्द्र होते अवश्य थे और उनमें गणिका, दासी तथा नटों को गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, नृत्त, वैशिक आदि कलाओं की शिक्षा देने का प्रबन्ध भी शासन की ओर से किया जाता था।

संगीत आदि कलाओं के नर्म को जानने वाला व्यक्ति 'रसिक' कहलाता था। वह 'रसिक' निस्सन्देह उसी विलासितापूर्ण सामन्तीय जीवन-पद्धति की देन होता था। इस प्रकार यह जीवन-पद्धति ही उस युग की असली संगीत-संस्था थी।

19वीं सदी में अँग्रेजों के आगमन के बाद भारतीय समाज में नए आर्थिक सम्बन्धों ने जन्म लिया। राजाशाही को गहरा धक्का लगा। छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हिन्दुस्तान धीरे-धीरे एकताबद्ध होने लगा। ऐसी हालत में साहित्य, संगीत आदि कलाओं का सामन्तीय ढाँचा चरमराने लगा। उद्धार के नए प्रयत्न शुरू हुए। इन प्रयासों में जो गम्भीर थे, वे आखिरकार किसी-न-किसी संस्था में फलीभूत हुए।

रामशंकर भट्टाचार्य के शिष्यों में क्षेत्रमोहन गोस्वामी ने सन् 1871 में, कलकत्ता में एक संगीत-विद्यालय की स्थापना की तथा संगीत को जनसामान्य में प्रचलित करने का स्तुत्य प्रयास किया। पं. भास्करराव बखले द्वारा पूना में सन् 1874 में 'भारत गायन-समाज' नामक संस्था की स्थापना हुई। बम्बई में पारसियों द्वारा सन् 1890 के पूर्व ही 'गायनोत्तेजक मण्डल' नामक संस्था की स्थापना की जा चुकी थी। बड़ौदा के स्वर्गीय मौलाबख्श घिस्से खाँ द्वारा 1886 ई. में सर्वप्रथम संगीत-विद्यालय प्रस्थापित किया गया था जो बाद में "बड़ौदा स्टेट म्यूजिक स्कूल" के नाम से जाना गया।

स्व. पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी द्वारा "गांधर्व महाविद्यालय" नामक संस्था की स्थापना सन् 1901 में लाहौर में हुई। बाद में, मोरिस कॉलेज ऑफ म्यूजिक (लखनऊ) की स्थापना हुई।

स्वतन्त्रता के बाद भारत-सरकार ने भी संगीत में कुछ रुचि दिखानी शुरू की फलस्वरूप सन् 1953 में नृत्य तथा संगीत के लिए अकादमी की स्थापना हुई। 'केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी' की स्थापना के पश्चात् राज्य में भी संगीत-नृत्य आदि की अनेक अकादमियाँ आरम्भ हो गईं। आज देश के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में एक अकादमी है।

डॉ. बी. चैतन्य देव के मतानुसार संक्षेप में संगीत अकादमी का कार्य इस प्रकार है—

1. कला प्रकारों के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए ध्वनि मुद्रण ।
2. लोक-संगीत तथा लोक-नृत्य के ध्वनि मुद्रण की ओर विशेष ध्यान ।
3. वाद्यों का संग्रह एवं वादन का ध्वनि मुद्रण ।
4. शिक्षा संस्थाओं की आर्थिक सहायता और स्वयं अकादमियों के द्वारा ऐसी संस्थाओं का संचालन ।
5. संगीत विषयक ग्रन्थों का प्रकाशन ।
6. संगीत की महफिलों का आयोजन ।
7. व्यक्तिगत कलाकारों को छात्रवृत्तियाँ, पारितोषिक तथा निवृत्ति सेवन ।¹

इन कलाओं का पुनरुत्थान आरम्भ हो जाने के कारण गायन, नृत्य, नाट्य की शिक्षा देने वाले स्कूल, कॉलेजों और पेशेवर संस्थाओं की संख्या बड़ी शीघ्रता से बढ़ने लगी । अकादमी ऐसी संस्थाओं की आर्थिक सहायता करती है ।

कई विश्वविद्यालयों में संगीत-विभाग खुले । स्कूलों में संगीत सिखाया-पढ़ाया जाने लगा । ऑल इण्डिया रेडियो के प्रसारणों में संगीत महत्वपूर्ण हो गया । व्यक्तिगत स्तर पर भी अनेक प्रयास सामने आए । जगह-जगह संगीत-विद्यालय और संगीतोद्धारक मण्डलों का गठन हुआ । अतः अलग-अलग तरह की संगीत-संस्थाओं ने जमाने के इस बदलाव को ठोस जमीन देने की कोशिश की ।

आज पूरे देश में संगीत-सेवी संस्थाओं की एक बड़ी तादाद है । इनमें कुछ कार्यक्रम और समारोह आयोजित करती हैं, कुछ संगीत की परीक्षाएँ चलाती हैं और कुछ पाठ्यक्रम पर आधारित शिक्षा देती हैं । पिछले कुछ सालों से दो-एक ऐसी संस्थाएँ भी सामने आई हैं जो गुरु-शिष्य-परम्परा की पद्धति से चुने हुए विद्यार्थियों को उस्तादों से तालीम दिलवा रही हैं । यह गम्भीर प्रयत्न आई.टी.सी. (इण्डियन टुबैको कम्पनी) द्वारा किया जा रहा है । इस कम्पनी ने कलकत्ता में 'संगीत रिसर्च अकादमी' के नाम से एक संस्था प्रारम्भ की है जो विगत कुछ वर्षों से इस दिशा में कार्य कर रही है । जिस प्रकार प्राचीन काल में गुरुकुल हुआ करते थे, उसी प्रकार का वातावरण यहाँ पर बनाने का प्रयास किया गया है । यहाँ विद्यार्थी गुरु के सान्निध्य में रहता है तथा उसकी देखरेख में संगीत-शिक्षा ग्रहण करता है । प्रशिक्षण के लिए अकादमी ने प्रख्यात घरानेदार गायकों की नियुक्ति की है । इन उस्तादों को वेतन के अतिरिक्त आवास तथा अन्य सुविधायें भी उपलब्ध हैं । संगीत के विकास की दिशा में "अकादमी" का यह प्रयत्न पूर्ण आशाजनक है । अकादमी में क्रियात्मक-संगीत के अतिरिक्त संगीत में शोध की व्यवस्था भी है । अतः आई.टी.सी. जैसी संस्था का यह प्रयत्न सराहनीय है ।

अभी विगत वर्षों में संगीत-जगत में संस्था के रूप में कुछ नवीन प्रयास हुए हैं जो सराहनीय हैं । इनमें एक है "स्पिक मैके" संस्था । स्कूल, कॉलेजों के सामान्य विद्यार्थियों के बीच

बड़े-बड़े उस्तादों और शास्त्रीय-संगीत के महान् कलाकारों को ले जाकर अनौपचारिक ढंग से उनका गायन-वादन सुनवाकर शास्त्रीय-संगीत के प्रति युवा-वर्ग में अभिरुचि उत्पन्न करना इसका लक्ष्य है। अनेक शहरों में यह संस्था कार्य कर रही है।

दूसरा प्रयास, 'संकल्प' नामक संगठन के रूप में है। जो विद्यार्थी, शिक्षक अथवा संगीत-प्रेमी रोजी-रोटी व परिवार की तमाम समस्याओं से संघर्ष करते हुए भी संगीत-साधना करते हैं और अपनी कला को चमकाने की भरपूर कोशिश करते हैं, ऐसे अपरिचित या अल्प-परिचित साधकों की कला को संगीत-जगत् में प्रतिष्ठा दिलवाने के लिए 'संकल्प' ने इस देशव्यापी योजना की शुरुआत की है। इसके अन्तर्गत, योजना में शामिल सभी शहर एक-दूसरे के अपरिचित साधक-कलाकारों को आमन्त्रित करते हैं और मात्र आवागमन-व्यय भेंट करके प्रेम और सम्मान से उनकी कला का आस्वादन करते हैं। इससे देश के हजारों संगीत-साधकों की प्रतिभाओं को सामने आने और सम्मानित होने का मौका मिलता है। इस संस्था की विशेषता यह है कि न केवल यह शास्त्रीय शैली के गायन-वादन के कार्यक्रम आयोजित करती है, बल्कि इसी पद्धति पर अपरिचित संगीत-चिन्तकों को आमन्त्रित करके विचार-गोष्ठियों का भी आयोजन करती है। प्रतिष्ठित कलाकारों अथवा चिन्तकों से इस संस्था की गतिविधियों का सम्बन्ध नहीं।

'इण्डियन म्यूजिक काँग्रेस' की स्थापना भारतीय संगीत-जगत की एक महत्वपूर्ण घटना है। भ्रमन समेत समूचे दक्षिण एशियाई संगीत के प्रयोग और शिक्षण के सृजनात्मक विकास के लिए काम करना इसका मूल उद्देश्य है। संगीत के सौन्दर्यशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने; संगीत-शिक्षण की राष्ट्रीय नीति बनाने के लिए अभियान चलाने; कलाकारों, संगीत-शास्त्रियों, शिक्षकों तथा संगीत से सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों के व्यावसायिक हितों को आगे बढ़ाने; अच्छे संगीत को रिकॉर्डों, कैसिटों और वीडियो-कैसिटों पर उपलब्ध कराने; बहुमूल्य रिकॉर्डिंगों की सुरक्षा इत्यादि बड़े लक्ष्यों को लेकर इस संस्था की स्थापना हुई है।

कुछ सरकारी संस्थाएँ हैं, जो संगीत, नृत्य के प्रचार-प्रसार और संवर्द्धन के लिए काम कर रही हैं।

संगीत के प्रचार-प्रसार एवं संवर्द्धन के अलावा जो संस्था का प्रमुख कार्य है उसके सम्बन्ध में भारत की प्रधानमन्त्री स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी के विचार उल्लेखनीय हैं—

“यह सच है कि सभी व्यक्ति संगीतज्ञ नहीं बन सकते। लेकिन यह नितान्त आवश्यक है कि सब संगीत को अपने जीवन का आवश्यक अंग मानें। संगीत के लिए व्यापक जन-रुचि उत्पन्न करने का और जन-सहयोग से संगीत के स्वस्थ विकास का उत्तरदायित्व संगीत-संस्थाओं पर है।”

अतः शिष्य संस्था का दर्पण है। संस्था समाज की धरोहर। संगीत और शिल्प के संस्कार से युक्त होकर शिष्य समाज के सुख और वैभव की वृद्धि करता है।

सामाजिक परिवर्तन और भारतीय संगीत

परिवर्तन प्रकृति का एक अनिवार्य एवं शाश्वत नियम है। मानव-समाज भी इसी प्रकृति का एक अंग है अतः वह परिवर्तनशील है। किसी भी ऐसे समाज की कल्पना तक नहीं की जा सकती जो कि पूर्णतया स्थैतिक हो। यदि हम सन् 1900 को सन् 2000 से तुलना करें तो हमारे समाज के स्वरूप, संरचना, आदर्शों, मूल्यों, संस्थाओं, रीति-रिवाजों में कितना परिवर्तन हुआ है—यह देखकर हमें स्वयं ही आश्चर्य होगा। पूरे समाज को नहीं, उस समाज की केवल एक इकाई व्यक्ति को ही लीजिए, व्यक्ति का जीवन भी एक स्तर से दूसरे स्तर को परिवर्तित होता रहता है—पहले बचपन, फिर युवावस्था, फिर वृद्धावस्था और अन्त में मृत्यु। इसी प्रकार सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू में भी परिवर्तन होता रहता है। हाँ, इतना अवश्य है कि समाज के किसी पहलू में परिवर्तन तीव्र गति से और स्पष्ट होता है जबकि अन्य पहलुओं में यह परिवर्तन धीमी गति से तथा अस्पष्ट रूप में होता है।

बहुत समय पूर्व प्रसिद्ध विद्वान **हेरेक्लिटस** ने भी कहा था कि सभी वस्तुएँ परिवर्तन के बहाव में हैं। **मैकाइवर** ने लिखा है कि एक हजार वर्ष पहले यूरोप और अमेरिका के समाजों का रूप आज के समाज से बिल्कुल भिन्न था। इन एक हजार वर्षों में अवश्य ही उसमें नए-नए परिवर्तन हुए हैं। आज से दस हजार वर्ष पहले सामाजिक व्यवस्था कैसी थी, उसमें कैसे-कैसे परिवर्तन और पुनर्गठन हुए, परिवार तथा राज्य जैसे मौलिक तत्वों में किस प्रकार परिवर्तन हुए होंगे, आदि बातों को व्यक्त करना आज के व्यक्ति की कल्पना शक्ति के बाहर है।

भारतीय समाज में भी हमें परिवर्तन की गति में विभिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। 1947 के पूर्व भारतवर्ष में सामाजिक प्रगति नाम-मात्र के लिए रही होगी, लेकिन आज हमें समाज का एक नया रूप मिलता है। विकास के सभी लक्षण समाज में दृष्टिगत हो रहे हैं। ग्रामीण और नगरीय दोनों समुदाय प्रगति कर रहे हैं। हमारे रहन-सहन, भाषा, रीति-रिवाज, संस्कृति तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक, राजनैतिक तथा धार्मिक पहलुओं में परिवर्तन हुआ है। अतः स्पष्ट हो गया है कि परिवर्तन सभी कालों तथा स्थानों में होता रहता है, यहाँ तक कि जड़ तथा अचेतन पदार्थों में भी परिवर्तन होता रहता है। यह निर्विवाद तथ्य है कि समाज, अन्य वस्तुओं की भाँति, निरन्तर और निश्चित रूप से परिवर्तित होता रहता है।

परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा—परिवर्तन का सामान्य आशय किसी वस्तु अथवा क्रिया की पूर्व स्थिति में बदलाव का उपस्थित हो जाना है। **फिचर** ने अपनी पुस्तक सोशियोलोजी

में परिवर्तन को परिभाषित करते हुए लिखा है कि—संक्षेप में, परिवर्तन पहले की अवस्था में या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं।

परिवर्तन का सम्बन्ध मूल में तीन तत्त्वों से है—

(1) वस्तु (2) समय (3) भिन्नता।

1. **वस्तु**—परिवर्तन का सम्बन्ध किसी-न-किसी विषय अथवा वस्तु से होता है। जब हम कहते हैं कि परिवर्तन आ रहा है तब हमें यह भी स्पष्ट करना होता है कि परिवर्तन किस वस्तु अथवा विषय में आ रहा है। बिना वस्तु अथवा विषय को बताये हम परिवर्तन का अध्ययन नहीं कर सकते। जैसे—जब एक संगीत-विद्वान यह विचार प्रकट करता है कि संगीत की धराना-परम्परा में परिवर्तन आया है। तब यहाँ वह एक विषय की ओर इंगित करता है, वह है—‘धराना’। अब संगीत-जिज्ञासु यह पता लगायेंगे कि यह परिवर्तन कैसे और क्यों आ रहा है। अतः बिना विषय बताये हम परिवर्तन का अध्ययन कैसे कर सकते हैं।

2. **समय**—परिवर्तन का समय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिवर्तन को प्रकट करने के लिए हमारे पास कम-से-कम दो समय होने चाहिये। एक ही समय में परिवर्तन की चर्चा नहीं की जा सकती है। उदाहरण के लिए—हम कहते हैं कि वैदिक कालीन संगीत की तुलना में वर्तमान समय में संगीत बहुत कुछ बदल गया है। समय के सन्दर्भ में ही परिवर्तन ज्ञात होता है। समय की अवधारणा को सम्मिलित किए बिना कोई भी परिवर्तन के बारे में सोचा नहीं जा सकता।

3. **भिन्नता**—विभिन्न समयों में यदि किसी वस्तु में भिन्नता नहीं आये तो परिवर्तन नहीं कहलायेगा। वस्तु के रूप में यदि समय के साथ अन्तर न आये तो हम यही कहेंगे कि परिवर्तन नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ, यहाँ हम ख्याल-गायन-शैली को ले सकते हैं। ख्याल-शैली की विषय-वस्तु, प्रस्तुति तथा संरचना में समय के साथ अन्तर आया है। अतः वस्तु के रंगरूप, आकार-प्रकार, संरचना, कार्य अथवा अन्य पक्षों में भिन्नता प्रकट होने पर ही हम परिवर्तन का अध्ययन कर सकते हैं।

समाजशास्त्रियों ने ‘सामाजिक परिवर्तन’ के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन में काफी रुचि प्रदर्शित की है। आगस्त कांस्ट (जो समाजशास्त्र के जन्मदाताओं में अग्रणी माने जाते हैं) ने भी सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन को समाजशास्त्र का मुख्य विषय माना है। इन्होंने समाज के अध्ययन को मुख्यतः दो भागों में बाँटा—एक भाग में समाज के स्थिर तथ्यों का अध्ययन तथा दूसरे भाग में समाज में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन। स्पेन्सर, डॉरविन्, मोर्गन्, मेन इत्यादि विद्वानों ने भी समरेखिक सामाजिक क्रम-विकास के रूप में सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। बाद के विद्वानों में परेटो तथा सोरोकिन ने भी सामाजिक परिवर्तन के महत्वपूर्ण सिद्धान्त विकसित किए। प्रारम्भिक काल के अमेरिकन समाजशास्त्रियों में समनर तथा वार्ड का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने सामाजिक परिवर्तन की अवधारणाएँ विकसित कीं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन में समाजशास्त्रियों की रुचि निरन्तर बढ़ती ही रही है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित ठोस

सिद्धान्तों की रचना कर डाली, फिर भी सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न पहलुओं को लेकर अध्ययन की शृंखला निरन्तर चली आ रही है। आगबर्न ने अपनी एक पुस्तक का नाम 'सोशल चेंज' (1922) रखा। 1930 तथा 1972 के बीच लगभग सभी देशों में सामाजिक परिवर्तन के अध्ययनों में रुचि बढ़ी।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद यहाँ भी सामाजिक परिवर्तन के अध्ययनों में तीव्रता से रुचि बढ़ी। भारतीय समाजशास्त्रियों के निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रीनिवास द्वारा रचित 'सोशियल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया', रामाकृष्णा मुकर्जी द्वारा रचित 'सोशियलिस्ट एण्ड सोशियल चेंज इन इण्डिया', देसाई द्वारा रचित 'रूरल इण्डिया इन ट्रांजिशन', दूबे द्वारा रचित 'इण्डियाज चेंजिंग विलेज' इत्यादि।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का भली प्रकार ज्ञान करने के लिए किसी भी एक समाज की उन घटनाओं पर विचार करना चाहिए जो एक निश्चित अवधि में घटित होती हैं। यह परिवर्तन तथा प्रक्रियायें इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि भारतीय समाज की आधारभूत संस्थाओं की परम्परागतता समाप्त हो रही है और उनके स्थान पर एक नया स्वरूप ढल रहा है। यह व्यक्तियों की मनोवृत्तियों, उनके सोचने-विचारने की रीतियों, आचार-व्यवहार के ढंगों, इत्यादि में होने वाले परिवर्तनों की ओर संकेत करती हैं।

सामाजिक परिवर्तन की कोई एक परिभाषा देना सरल कार्य नहीं है। कुछ परिभाषायें इस प्रकार हैं—

किंग्सले डेविस का कहना है कि—“सामाजिक परिवर्तन” से केवल उन्हीं परिवर्तनों का बोध होता है जो 'सामाजिक संगठन' में घटित होते हैं अर्थात् समाज की संरचना तथा प्रकार्यों में घटित होते हैं।

गिलिन-गिलिन के अनुसार सामाजिक परिवर्तन से अभिप्राय समाज के स्वीकृत व्यवहार प्रतिमानों में घटित होने वाला परिवर्तन है।

मोरिस जिन्सबर्ग ने “सामाजिक संरचना” में होने वाले परिवर्तनों से 'सामाजिक परिवर्तन' का अर्थ लगाया है।

फेयरचाइल्ड का कथन है कि सामाजिक परिवर्तनों से अभिप्राय सामाजिक प्रक्रियाओं, प्रतिमानों अथवा स्वरूपों में होने वाले किन्हीं भी परिवर्तनों से है।

लुण्डबर्ग तथा उनके साथियों का मत है कि सामाजिक परिवर्तन किसी भी अवधि तथा सामाजिक प्रघटना में दृष्टिगोचर कोई भी अन्तर है।

बोस्कॉफ के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी बोधगम्य प्रक्रिया है, जिसके द्वारा निश्चित सामाजिक व्यवस्थाओं की संरचना तथा कार्यप्रणाली में होने वाले महत्वपूर्ण अन्तरों का बोध किया जा सकता है।

इस प्रकार की अनेक परिभाषायें सामाजिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जा सकती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दो समयों में दिखायी देने वाली भिन्नता ही परिवर्तन है।

परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो सभी कालों एवं स्थानों में घटित होती रहती है। परिवर्तन के कारण किसी वस्तु के समस्त ढाँचे में परिवर्तन आ सकता है अथवा उसका कोई एक पक्ष ही बदल सकता है। परिवर्तन स्वतः आ सकता है अथवा जान-बूझकर योजनाबद्ध रूप से भी लाया जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन का भारतीय संगीत पर प्रभाव—समाज से अलग कला का कोई अस्तित्व नहीं होता। किसी भी जनसमाज की कला उसकी मानसिकता से निर्धारित होती है। समाज की राजनैतिक व आर्थिक परिस्थितियाँ भी सदैव एक-सी नहीं रहतीं। वह मानव अस्तित्व के व्यापक संघर्ष और मानवीय श्रम के परिणामस्वरूप बदलती रहती हैं और निरन्तर नये युगों का निर्माण करती चलती हैं। समाज की इस प्रगतिशीलता के कारण कला भी स्थिर नहीं रह पाती। वह निरन्तर विकसित और परिवर्तित होती रहती है और भारतवर्ष की संगीत-कला भी सदैव परिवर्तनशील रही है।

यथार्थवादी दृष्टि से विहीन भाववादी विचारक संगीत-कला के इस समाजशास्त्रीय पक्ष की उपेक्षा करते हैं और शाश्वतता की खोज में ऐसे सिद्धान्तों को छाती से चिपकाए रहते हैं, जिनकी प्रासंगिकता आज समाप्त हो गयी है। मिसाल के लिए, हमारे उत्तर भारतीय संगीतज्ञ आज भी रागों की शुद्धता का मोह छोड़ने को तैयार नहीं हैं। वे रागों के वर्तमान स्वरूप को सैकड़ों वर्ष पूर्व के अपने पूर्वजों की देन मानकर ज्यों-का-त्यों गाते-बजाते रहने का जबरदस्त आग्रह करते हैं। वे नहीं जानते कि सामाजिक परिस्थितियों से गत चार-पाँच सौ वर्षों में ही रागों का स्वरूप इतना बदल गया है कि प्राचीनता के नाम पर उस पर गर्व करना कूपमण्डूकता के अलावा और कुछ नहीं।

कालान्तर में मनुष्य के समाज में परिवर्तन होते रहते हैं और इन सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव संगीत पर भी पड़ता है। राग अप्रचलित हो जाते हैं तथा गायन का ढँग भी बदलता रहता है और इसी बदलाव की वजह से आज गायन के अनेक प्रकार प्रचलित हैं, जैसे—ध्रुपद, धमार, ख्याल, होरी, सादरा, टप्पा-ठुमरी, भजन, गजल, कव्वाली आदि। इन सभी गायन-शैलियों का गायन शास्त्रीय रागों में होता है अतः यह सभी शास्त्रीय-संगीत हैं। हमारा संगीतशास्त्र रागों की व्याख्या तो करता है, परन्तु गायन के ढँग पर उसने कुछ भी नहीं कहा है। और यही उचित प्रतीत होता है। हजारों वर्ष पूर्व जब रागों का सृजन हुआ और गायकी का ढँग विकसित हुआ, उस समय आने वाले समय के सामाजिक बदलाव का कैसे अनुमान कर गायन के नए ढँग निर्धारित किए जा सकते थे ? अतः शास्त्रीय संगीत का सम्बन्ध रागों पर ही आधारित है, गायन के ढँग पर नहीं। गायन का ढँग सामाजिक परिस्थिति के अनुसार बदलता रहा है और आगे भी बदलता रहेगा।

सामाजिक परिवर्तन का कुछ अनुमान हम संगीत में प्रयुक्त कविता से भी लगा सकते हैं। गायन में राग रंजकता के लिए और कविता भाव उत्पन्न करने के लिए है। कविता का चयन देश की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार होता है। सामाजिक परिवर्तन के साथ गायन की कविता में जो परिवर्तन आया है, उसे हम कुछ हद तक समझ सकते हैं। इसके लिए हमें गीतों के संग्रह

पर ध्यान देना होगा। भारतीय संगीत में कई गीतों के संग्रह हैं। इन गीत-संग्रहों का अध्ययन, सामाजिक परिवर्तन का संगीत पर प्रभाव जानने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। संगीत-विद्वान जी.सी. उप्रेती ने इन्हीं संकलनों के कुछ गीतों के आधार पर सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में विश्लेषण किया है, जो इस प्रकार है—

राग शंकरा के एक ध्रुपद की बन्दिश के बोल हैं—

“ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रकट भई।

प्रकृति ते महान भयो अहंकार है॥”

उपर्युक्त गीत से स्पष्ट है कि इसका रचना काल बहुत पुराना होगा। उस समय श्रोता सृष्टि-रचना के वैदिक दृष्टिकोण से प्रभावित होंगे और इस ध्रुपद-गायन से आनन्द प्राप्त करते होंगे। आज इस गीत में किसी की रुचि नहीं होगी और इसका गायन निरर्थक तथा उबाऊ प्रतीत होगा।

तानसेन द्वारा रचित सादरा (ध्रुपद-अंग) जिसे भातखण्डे जी ने राग भैरव में लिपिबद्ध किया है, उसके बोल इस प्रकार हैं—

विष्णु चरण जल, ब्रह्मा कमण्डल,

शिव-जटा राजत देवी गंगे।

भागीरथी सकल जगतारिनी, भूमिभार उतारिनी,

अन-धन बेलि कटाच्छन के तारन तरंगे॥

हरिद्वार-प्रयाग-सागर, बेनितिरबेनी,

सरस्वती विद्यादानि करत दुःख भंगे।

‘तानसेन’ के प्रभु रोग दुःख दूर करो,

पाप हरो, निर्मल करो, यही अंगे॥

तानसेन के इस ध्रुपद के आरम्भ में गंगा की उत्पत्ति के बारे में बताया गया है। पौराणिक कथा के अनुसार, विष्णु भगवान ने वामन-अवतार में राजा बलि से तीन पैर भूमि का दान माँगकर प्रथम पग उठाकर स्वर्ग में रखा। उनके पैर के अँगूठे से जल की बूँदें टपकती देख ब्रह्मा ने इस जल को अपने कमण्डल में भर लिया। इसी जल को ब्रह्मा ने पृथ्वी पर शिव की जटा में छोड़ा और इसी को ‘गंगा नदी’ कहते हैं। हिमालय से गंगा नदी हरिद्वार तथा प्रयाग से होती हुई सागर में मिलती है। गंगा के कारण ही उत्तर-भारत का मैदान सम्पन्न है, जिससे हमें अन्न व जल मिलता है। उस समय इस बन्दिश को लोगों ने जिस चाव व श्रद्धा से सुना होगा, आज की सामाजिक परिस्थिति में ऐसा नहीं होगा। यह सब सामाजिक परिवर्तन का लक्षण है।

तानसेन के समय से ही हिन्दू-गायक धर्म-परिवर्तन कर मुसलमान बने और राजा व नवाबों के दरबारी गायक बन गए। इस बात की पुष्टि उस काल की एक ध्रुपद-रचना से होती

है। यह ध्रुपद तोड़ी राग में है और भातखण्डे जी की 'क्रमिक-पुस्तक-मालिका' के द्वितीय भाग में दिया है—

मेरे तो अल्ला नाम को आधार,
जिन रचो संसार ।
काम, क्रोध, लोभ महा जंजाल ॥
जिन रचो अरस-कुरस, जमीं-आसमान ।
निरंजन निराकारे, साँचो क्यों न सेवो
परवरदिगार ॥

दरबारी गायक बनने पर समय-समय पर ऐसे गीतों की रचना करना, जिसमें बादशाह का गुणगान हो, आवश्यक था। एक रचना मुस्लिम काल की है, जिसे भातखण्डे जी ने अपनी पुस्तक में राग आसावारी में लिखा है—

अति प्रताप तेरो जग में हो राव राजे बहादुर ।
नाम सुनति गुनि आवत धाय-धाय,
पावत मन-इच्छा फल, तिनको आधार ॥

इस प्रकार कई ध्रुपदों की रचना राजा मानसिंह तोमर से सम्बन्धित हैं। इसी युग में स्त्री के नख-शिख विवरण के ध्रुपद तथा शृंगार रस के ध्रुपदों की भी रचना की गई। आसावारी राग के एक ध्रुपद के बोल हैं—

लाल अलसाने हो, तुन रैन के जागे ।
नैन उनीदे अति, रत-रती रस पागे ॥
अंजन अधर भाल, नयन तिय अनुरागे ।
साँची कहौ 'हर रंग', काके मुख हंस लागे ॥

इन सभी गीतों की रचना से स्पष्ट होता है कि किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन के अनुसार संगीत के गीतों में भी परिवर्तन होता गया।

ध्रुपद-युग के गायन के बाद ख्याल-गायन का पदार्पण हुआ। गायन के ढँग में परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन के कारण हुआ है। ध्रुपद गायन चौताल में होता है तथा ताल की गति अथवा लय मंथर होती है। गायन की यह विधा गम्भीर भी है। जीवन में क्रियाशीलता तथा गति में तेजी आने से और सामाजिक परिवेश में बदलाव के कारण गतिशील ख्याल-गायन, जो तीन ताल में गाया जाता था, लोगों में शीघ्र प्रचलित हो गया। मुगल काल के अन्त में बादशाह मुहम्मद शाह के दरबारी गायक सदारंग व अदारंग के भावपूर्ण गायन ने ध्रुपद-गायन को फीका कर दिया। प्रथम ख्याल-गायन मध्य व द्रुत लय में गाया जाता था और गायन से पूर्व ध्रुपद गायकों की भाँति आलाप करते थे, परन्तु कुछ समय बाद आलाप को तिलांजलि देकर बड़े ख्याल-गायन का आविष्कार हुआ जिसमें विलम्बित लय में गायन प्रस्तुत किया जाता था।

सामाजिक परिवर्तन तथा ख्याल-गायकों द्वारा बन्दिश के शब्दों के महत्त्व को गायन में नकारने के कारण, ख्याल-गायन में केवल सरगम, बोलतान एवं तरह-तरह की पेचदार तानों के प्रयोग से जनसामान्य ऐसे गायन से भी दूर भागने लगा। तभी भावपूर्ण ठुमरी गायन का आविष्कार हुआ। आज जन-सामान्य में भजन, गज़ल एवं गीत अधिक लोकप्रिय हैं। ठुमरी, भजन, गज़ल एवं गीत सभी शास्त्रीय रागों में प्रस्तुत किए जाते हैं। अतः यह सभी गायन शैलियाँ शास्त्रीय रागों पर आधारित होने के कारण शास्त्रीय-गायन हैं, अन्तर है गायन के ढँग का जो सामाजिक परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। भजन, गज़ल एवं गीतों का भावपूर्ण गायन होने से ही लोगों को आज आकर्षित कर रहा है क्योंकि आज का मनुष्य भी सामाजिक व्यवस्था में अति गतिशील हो गया है।

ख्याल-गायन की बन्दिशों का अध्ययन करने से पता चलता है कि देह-प्रेम का युग काफी आगे बढ़ चुका है। ध्रुपद युग में बन्दिशें प्रकृति एवं ईश्वर प्रेम से जुड़ी थीं परन्तु ख्याल की कविताएँ एक ओर नारी के देह-प्रेम तथा दूसरी ओर नारी के प्रेमी की मनुहार की साक्षी हैं। प्रेमी का पर-स्त्री से प्यार, नायिका की भयंकर कठिनाई है और वह हर गीत में प्रेमी से परस्त्री-सम्बन्ध न रखने के लिए मनुहार करती है। जहाँ प्राचीन भारत में स्त्री की एक मर्यादा परिवार में थी और पुरुषों के सामने भगवान राम का एक-पत्नीव्रत का आदर्श था, वहाँ भारत के मध्यकाल के इतिहास एवं ख्याल के गीतों से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री का किसी प्रकार का परपुरुष से सम्बन्ध बहुत ही संगीन सामाजिक अपराध माना जाता था और ऐसी स्त्री को कुलटा कहते थे, इसके विपरीत पुरुष यदि एक पत्नी के रहते दूसरी स्त्री से सम्बन्ध बनाए तो उसे अच्छा नहीं समझते थे परन्तु ऐसे पुरुष की सामाजिक भर्त्सना कभी नहीं की जाती थी।

स्त्री केवल परस्त्री से सम्बन्ध रखने वाले प्रेमी से मनुहार करती थी। गौड़ मल्हार की एक रचना इस प्रकार है—

जानी जानी तुम्हारे मन की सब जानी,
 बात पियरवा,
 जावो हमें न समझाओ,
 अब बस करो अपनी मेहरबानी।
 औरन के घर रात रहे हो,
 नैन उन्हीं दे रंग में रहे हो,
 पीक कपोल अधर पर अंजन,
 कपट चाल तुम्हरी पहिचानी।

जानी जानी तुम्हारे मन की सब जानी... ॥

ख्याल-गायन की सैकड़ों बन्दिशों को देखने पर यह स्पष्ट होता है कि मध्ययुग में ही समाज पुरुष प्रधानता की चरम सीमा पर पहुँच गया था। इससे भारतीय समाज की पारिवारिक व्यवस्था का भी काफी ज्ञान प्राप्त होता है। भारत में सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का आधार धर्म रहा है। पुरुष प्रधानता प्रकट होने पर भी पुरुष के अमर्यादित व्यवहार को कभी-भी उचित

नहीं कहा गया है। प्रेम-विवाह के अनेक विवरण पौराणिक कथाओं में हैं परन्तु कालान्तर में प्रेम-विवाह को नकार कर विवाह को एक संस्कार की संज्ञा दी गई। जन्म-संस्कार, अक्षरारम्भ-संस्कार, उपनयन-संस्कार की भाँति विवाह को भी एक संस्कार में बाँधा गया। अतः भारत में प्रेम-विवाह (Love Marriage) का कोई स्थान नहीं था और विवाह के बाद तलाक का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव स्त्री पति के परस्त्री प्रेम के लिए रोष व मनुहार करती है, यह बात ख्याल के गीतों से स्पष्ट होती है। इस प्रकार की विषय-वस्तु से ख्याल-गायन भरा है।

भारत में परिवार का अर्थ है माता-पिता, भाई-बहिन, ताऊ-ताई, चाचा व चाची, जबकि पश्चिम में परिवार का अर्थ है पति-पत्नी और उनके आश्रित बच्चे। अतः राग बरवा का यह ख्याल पाश्चात्य सभ्यता वालों की समझ से परे है क्योंकि उसमें जो भाव है, उसका उनकी जीवन पद्धति में कोई स्थान नहीं है—

बाजे मोरि पायलिया झनन-झनन,
कैसे आऊँ तोरे पास मितवा।
सास ननद मोरि जनम की बैरन,
चरचा करे सब घर के लोगवा॥

उपर्युक्त ख्याल के गीत से यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज में जब सम्मिलित परिवार में लोग रहते थे, पत्नी अपने पति से बड़ों के सामने बात भी नहीं कर सकती थी और यदि कभी पति से एकान्त में मिलने का इशारा भी किया तो स्त्री की दशा को ऐसे समय, उपर्युक्त गीत में दर्शाया गया है। अतः ख्याल के गीतों को देखने पर हमें उस समय की सामाजिक व्यवस्था का आभास होता है। अतः यह स्पष्ट हो गया है कि सामाजिक परिवर्तन के साथ ही गायन की कविता में भी बदलाव आता रहा है।

सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव संगीत-जगत में कविता के साथ-साथ लय पर भी दृष्टिगत होता है। लय संगीत का महत्वपूर्ण पक्ष है। पुराने समय में जब जीवन में आज-की-सी भाग-दौड़ नहीं थी, चारताल में ध्रुपद गाया जाता था। ध्रुपद-गायन गम्भीर एवं मंथर गति का गायन है। इसके पश्चात् ध्रुपद के गीतों में स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन तथा राजा-महाराजाओं के गुणों का वर्णन मिलता है। ऐसे ध्रुपद-गायन के लय में कुछ तेजी आ गई और दुगुन, तिगुन एवं आड़-कुआड़ का पुट भी डाला गया। यह बैलगाड़ी युग था। इस काल के बाद लोगों के रहन-सहन में कुछ तेजी आई और इसे हम मोटर, रेलगाड़ी अथवा साइकिल युग कह सकते हैं। इस समय ख्याल मध्य व द्रुत लय की तीन ताल में गाया जाने लगा। अतः मानव-जीवन में तेजी आने पर गायन की लय में भी तेजी आई है। आज गज़ल, ठुमरी, दादरा, भजन, कव्वाली का युग आ गया है, क्योंकि हमारे सामाजिक जीवन में अधिक तेजी आ गई है। लोग भाग-दौड़ में लगे रहते हैं। फलस्वरूप आज के गायन में जो ताल प्रयोग में लाए जाते हैं वह हैं—द्रुत गति का तीनताल, कहरवा एवं दादरा ताल जिसमें अतिगतिशीलता है।

अतः उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत नियम है। सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव संगीत पर भी निस्सन्देह पड़ता है, जिससे संगीत-कला निरन्तर विकसित और परिवर्तित होती रहती है।

नियोजित परिवर्तन और भारतीय संगीत

मानव समाज एक जटिल व्यवस्था है। यह निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। मानव-समाज की संरचना तथा प्रकार्य निरन्तर बदलते रहते हैं।

समाज का परिवर्तन अनेक प्रकार से देखा जा सकता है। क्या परिवर्तन विकास की ओर हो रहा है अथवा हास की ओर ? परिवर्तन संगठनात्मक है अथवा विघटनात्मक ? परिवर्तन की गति धीमी है अथवा तीव्र ? परिवर्तन से समाज में कम निपुणता आ रही है अथवा अधिक ? ऐसे अनेक प्रश्न परिवर्तन से सम्बन्धित सामने आते हैं। प्रारम्भ में समाजशास्त्रियों, मुख्य रूप से ऑगस्ट कॉस्ट आदि ने लिखा था कि समाज स्वतः परिवर्तित होता है। लेकिन बाद में सामाजिक परिवर्तन को समाज के सदस्य अपनी इच्छानुसार नियन्त्रित, निर्देशित तथा संचालित करने में सक्षम हो गये। ऐसे सामाजिक परिवर्तन को सामान्य रूप में समाज का 'नियोजित परिवर्तन' कहा जा सकता है।

नियोजित परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा—नियोजित परिवर्तन की परिभाषा अनेक विद्वानों ने दी है। उनकी परिभाषाओं के आधार पर नियोजन को समझना सरल हो जाएगा। निम्नलिखित कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें ये हैं—

1. **ग्रिफिन तथा इनास** ने कहा है, “नियोजन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक उपयुक्त साधन है तथा मानवीय क्रियाओं की उद्देश्यपूर्ण दिशा है।”

2. **एल.एस. लारविन** के अनुसार, “नियोजन सामान्यतया मानवीय शक्ति को विवेकपूर्ण एवं इच्छित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आदेशित करने का एक प्रयत्न है।”

3. **बी. कुप्पुस्वामी** के अनुसार, “नियोजित परिवर्तन समाज में निश्चित विशिष्ट परिवर्तन को लाने का सुविचारित प्रयास है।”

उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि नियोजित परिवर्तन एक व्यवस्थित और क्रमबद्ध मानव संगठन का प्रयास है जो उपलब्ध साधनों के अधिकतम लक्ष्यों को कम से कम समय में प्राप्त करने का प्रयास करता है।

संगीत में नियोजित परिवर्तन—अब यहाँ प्रश्न उठता है कि संगीत पर जब सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है तथा वह उसके अनुरूप परिवर्तित होता रहता है, तब संगीत में 'नियोजित परिवर्तन' की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर यह है कि, निःसन्देह इसकी आवश्यकता है, क्योंकि शास्त्रीय-संगीत मानव-समाज से सम्बन्धित होने पर भी जनसामान्य की समझ से परे है। बहुजनसमाज इस शास्त्र से वंचित रह गया है। शास्त्रीय-संगीत की प्रगति जितनी गति से होनी चाहिए उतनी हुई नहीं। जबकि आज इसके महत्व को विदेशी श्रोता भी स्वीकार कर रहे हैं। 'जिन्दा जादू' कहा जाने वाला, मानव के मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव करने वाला, पशु-पक्षियों को प्रभावित करने वाला तथा पानी बरसाने एवं हिरण बुलाने जैसी प्राचीन घटनाओं की शक्तिशाली स्मृति दिलानेवाला भारतीय-शास्त्रीय-संगीत आज अपने आपको निर्बल क्यों समझ रहा है ? क्या यह एक विशेष वर्ग (शास्त्रीय-संगीत का वर्ग) का संगीत बनकर रह गया है ? या साधारण श्रोता इसको समझ नहीं पा रहा है या समझने का प्रयत्न नहीं कर रहा है या शास्त्रीय-संगीत एक बहुत कठिन

संगीत-शैली है ? या इन श्रोताओं की श्रवणेन्द्रियाँ शास्त्रीय-संगीत को सुनने की अभ्यस्त नहीं हैं या शास्त्रीय-संगीत को श्रोता समझना ही नहीं चाहते हैं ? ये सभी प्रश्न हमारे समक्ष शास्त्रीय-संगीत की लोकप्रियता कम होने तथा समझ में न आने के कारण के रूप में परिलक्षित होते हैं ।

अतः शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने के लिए कुछ 'नियोजित परिवर्तन' संगीत में अत्यन्त आवश्यक हैं ।

विभिन्न समयों में हमारी सामाजिक परिस्थितियों ने हमारे संगीत को प्रभावित किया है तथा परिणामस्वरूप समय-समय पर विभिन्न संगीत-शैलियों का प्रादुर्भाव भी हमारे संगीत-जगत में हुआ है । यह तो हम सभी जानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के कारण संगीत के ढंग (Style) में बदलाव तो अवश्य आएगा ही, साथ ही साथ संगीत-शास्त्र का मूल ढाँचा यथास्थिति रहते हुए भी रागों के प्रस्तुतिकरण व रागों के रूप में भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन अवश्य आएगा और इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है । संगीत के इतिहास से भी इस कथन की पुष्टि होती है ।

सामाजिक परिवर्तन के कारण गायन के ढंग में तो बदलाव आता ही है तथा कई राग भी अप्रचलित हो जाते हैं । अप्रचलित राग से तात्पर्य है जिन्हें लोग सुनना पसन्द नहीं करते । **भातखण्डे जी** ने भी 'हिन्दुस्तानी संगीत-शास्त्र' में लिखा है कि—

“गायक सदैव समाज-रुचि का अनुसरण करके चलते हैं । समाज को नाद-शास्त्र के तत्त्व विदित होते हों, यह बात नहीं; वह तो केवल यह देखता है कि कानों को प्रिय लगता है कि नहीं । कई गायक राग में बहुत खूबसूरती से विवादी स्वर का प्रयोग कर लोगों को अधिक प्रसन्न करते हैं, अतः ऐसा करना बुरा नहीं है, क्योंकि अच्छा गायन वही है जो जन-चित्त का रंजन करे ।”

इसके विपरीत संगीतज्ञों तथा उस्ताद लोगों को अधिकांशतः यह कहते सुना है कि जिन्हें संगीत सुनना है, यदि उनमें शास्त्रीय-संगीत की अच्छी समझदारी न हो तो यह ऐसा ही है, जैसे—“भैंस के आगे बीन बजाए, भैंस खड़ी पगुराय ।” इन लोगों का मानना है कि जिन्हें शास्त्रीय रागों का पूरा ज्ञान नहीं है वे कैसे शास्त्रीय-संगीत समझेंगे और कैसे संगीत का आनन्द ले सकते हैं ।

मेरी मान्यता यह है कि जनसाधारण को संगीत के ज्ञान की कुछ भी आवश्यकता नहीं है और केवल संगीतज्ञ या संगीत-छात्रों को संगीत के शास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है । प्रसिद्ध विद्वान **भातखण्डे जी** ने भी कहा है—“.....समाज को (अर्थात् जनसाधारण को) नाद-शास्त्र के तत्त्व विदित हों, यह बात नहीं; वह तो केवल यह देखता है कि कानों को प्रिय लगता है कि नहीं ।” आम आदमी को यदि गायन मोह लेता है तो वह उसे अच्छा संगीत कहता है । आम आदमी को संगीत-शास्त्री की तरह कुछ भी नहीं समझना है कि कौन स्वर लगा ? स्वर शुद्ध है, कोमल या तीव्र इत्यादि ? आम आदमी को संगीत से आनन्द या मनोरंजन हो, इतना ही मतलब है । इस बात की पुष्टि संगीतशास्त्र करता है, जब उसने यह बताया है कि 'राग' जन-चित्त का मनोरंजन करता है ।

शास्त्रीय-संगीत भी एक पुराना शास्त्र है तथा वह मानव-समाज से सम्बन्धित है । शास्त्र का यह सम्बन्ध भी प्राचीन है । उसकी एक परम्परा है । आज बहुजनसमाज इस शास्त्र से वंचित

रह गया। शास्त्रीय-संगीत की प्रगति जितनी गति से होनी चाहिये उतनी हुई नहीं। इस कारण यह शास्त्र बहुजनसमाज के पल्ले पड़ा ही नहीं। समाज में इस विषय को लेकर अज्ञानता ही रही। शायद इसी कारण शास्त्रीय-संगीत पसन्द नहीं आता हो।

एक विचारणीय बात यह है कि हमारा शास्त्रीय-संगीत समाज के अधिकांश वर्ग से दूर क्यों हो गया ? विशाल भारत में केवल मुट्ठी भर लोग ही प्रचलित शास्त्रीय-संगीत में रुचि लेते हैं। भारतीय संगीत का आधार 'राग' है और शास्त्र 'राग' के सम्बन्ध में कहता है—

योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्ण विभूषितः।

रंजको जन चित्तानां स राग कथितो बुधैः॥

अतः राग आम लोगों के चित्त का मनोरंजन करता है। आज हमारे संगीत में कौन-से दोष आ गए हैं कि राग में गायन प्रस्तुत करने पर आम आदमी ऐसे शास्त्रीय-गायन से दूर भागता है ? यह स्पष्ट है कि दोष गायन में आया है, लोगों में शायद नहीं।

स्वाद (Taste) के सम्बन्ध में हम जानते हैं कि इसमें जन्मजात संस्कार कार्य नहीं करता, वरन् बचपन से जैसा भोजन बालक को दिया जाता है, उसी के अनुसार उसका स्वाद बन जाता है। भोजन के अलावा भी अन्य खाद्य पदार्थों के लिए भी धीरे-धीरे प्रयोग से उनके खाने का स्वाद बन जाता है। इसी तरह यदि बालकों को बाल्यावस्था से स्कूल में संगीत का सरल ज्ञान कराया जाये तो उनमें संगीत के प्रति एक रुचि उत्पन्न होगी। मुस्लिम काल से यह प्रथा रही है कि बादशाह, राजा, नवाब तथा रईस व जमींदार के यहाँ संगीतज्ञ नौकरी करते थे तथा उनके दरबार और महफिलों में ही नामी संगीतज्ञों के कार्यक्रम होते थे और इन संगीत-सभाओं में दरबारी और मुसाहिब लोग ही संगीत सुनते थे। आम आदमी इस संगीत से दूर ही रहा। यह काल संगीत के दरबारीकरण का समय रहा है। संगीत के दरबारीकरण से संगीतज्ञ भी आम आदमी की रुचि से अनभिज्ञ रहे हैं और जहाँ कुछ क्षेत्र में भारतीय संगीत में उन्नति हुई, वहीं कई क्षेत्रों में संगीत की अवनति भी हुई। अतः उपर्युक्त वर्णित कारण सम्मिलित रूप से इस बात के दोषी हैं कि आज भारत का आम आदमी शास्त्रीय-संगीत से दूर भागता है। आज भारत में संगीत का प्रचार देश के हर भाग में सिने-संगीत की ही देन है और वास्तव में देश के हर कोने में आप ट्रांजिस्टर द्वारा सिने-संगीत का आनन्द लेते हुए जनसाधारण को पाएँगे। भारत के आम आदमी को संगीत-प्रेमी बनाने का श्रेय फिल्म-संगीत को है।

शास्त्रीय-संगीत का अर्थ है, संगीतशास्त्र द्वारा वर्णित रागों में गायन तथा वादन। अतः शास्त्र द्वारा वर्णित राग में जो संगीत प्रस्तुत किया जाए वह शास्त्रीय-संगीत है, भले ही गाने का ढँग (Style) ध्रुपद, होरी, दादरा व ख्याल हो या ठुमरी, गज़ल, भजन या सिनेमा-संगीत। किसी शास्त्र-वर्णित राग में गाया सिने-संगीत उतना ही शास्त्रीय-गायन है, जितना उसी राग में गाया ध्रुपद व ख्याल।

अब प्रश्न है कि हमारे आज के शास्त्रीय-संगीत की महफिलों से यदि आम श्रोता उठकर चले जाते हैं अथवा आम लोग शास्त्रीय-संगीत सुनना नहीं चाहते तो दोष किसका है ? निश्चय ही संगीतज्ञों का। उत्तर कर्णकटु होने पर भी सत्य के निकट है। संगीत में पनपी त्रुटियों को हटाकर ही हम शास्त्रीय-संगीत को आम आदमी तक ले जा सकेंगे।

शास्त्रीय-संगीत में माधुर्य है, पर वह समझ में नहीं आता। वह संगीत भी क्या जो आनन्द न दे, जो मन की गहराई में न उतरे, जिसमें तल्लीनता न हो। वास्तव में इस बात का उत्तर मिलना चाहिये कि संगीत श्रेष्ठ, उच्च श्रेणी का हर तरह से संगठित होने पर भी वह बहुजन समाज में क्यों नहीं उतर आता। चीज अच्छी है, सनातन है, सभी गुणों से सम्पन्न है, पर दुर्लभ है। प्रकृतिसिद्ध है, गंधर्व लोक में भी इसका प्रसार हुआ है, उस पर अनेक विचारकों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। आज भी उसका प्रसार परिश्रम के साथ हुआ दिखाई देता है। इतना होने पर भी, समझ में नहीं आता कि बहुजन-समाज इसकी ओर अन्धेरे में क्यों ?

उत्तर यही हो सकता है कि इस दिशा में प्रयत्न नहीं हुए। संसार में बड़े-बड़े परिवर्तन आ रहे हैं। साधनों के कारण संसार छोटा बनता जा रहा है। विज्ञान आगे बढ़ रहा है फिर शास्त्रीय-संगीत ही पीछे क्यों रहे ?

हमें शास्त्रीय-संगीत में कुछ परिवर्तन अवश्य करने चाहिये जिससे वह बहुजन-समाज का रंजन कर सके। क्योंकि रंजन के लिए अभिरुचि का निर्माण आवश्यक है। शास्त्रीय-संगीत में कुछ नियोजित परिवर्तन जो हो सकते हैं, वह इस प्रकार हैं—

1. यदि शास्त्रीय-संगीत में बड़े ख्याल (विलम्बित लय) की जगह केवल मध्यलय के छोटे ख्याल अधिक सुनाए जाएँ तो इसकी लोकप्रियता कुछ बढ़ाई जा सकती है। इस परिवर्तन से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि विलम्बित लय के ख्यालों को अलग ही कर दिया जाये, बल्कि इससे श्रोताओं की रुचि जाग्रत हो सके। ऐसा इस कारण करना आवश्यक है क्योंकि आजकल मध्यलय के ताल कहरवा, दादरा, रूपक, तीनताल आदि को श्रोता आसानी से समझ कर आनन्द लेता है।

2. शास्त्रीय-संगीत के कलाकारों को अपनी राग-प्रस्तुति को संक्षिप्त भी करना चाहिये। क्योंकि आज के श्रोता के पास बहुत कम समय है। वह घण्टों तक छोटे और बड़े ख्यालों को नहीं सुन सकता। उसे समय की दौड़ में आगे निकलना है तथा साथ चलना है, जबकि शास्त्रीय संगीत में समय की आवश्यकता है।

3. शास्त्रीय-संगीत में बन्दिशों का चयन भी ठीक होना चाहिये। एक अभिनव विरोधाभास जो संगीत में देखने में आ रहा है, वह यह है कि संगीत की जो विधा अधिक लोकप्रिय होती जा रही है, वास्तविक जीवन से उसका उतना ही कम सम्बन्ध है। ख्याल, ठुमरी का रोमांचक साहित्य अब प्रभावशाली नहीं रह गया है। सास-ननद का भय, सौतन के घर पिया का जाना और पत्नी द्वारा उपालंभ आदि बातों का कोई मूल्य नहीं रहा है। लंगर न तो अब काँकरिया मारते हैं और न पनघट पर मुरलिया ही बजाते हैं। सीधे छविगृहों में अपनी 'नार' को ले जाते हैं। परदेस जाकर बालम सुध ले या नहीं, यह प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता क्योंकि पत्नी प्रायः साथ ही रहती है। अतः परम्परागत शास्त्रीय-गीतों की भाषा में सुधार की आवश्यकता तो है ही, साथ ही साथ नई-नई रचनाओं के प्रकाशित होने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

4. पुरुष-गायकों के लिए पृथक् रचनाओं का होना भी आवश्यक है। भक्तिपरक रचनाएँ तो क्या पुरुष, क्या स्त्री सबके लिए एक ही होंगी, किन्तु सर्वाधिक लोकप्रिय शृंगार रस की रचनायें पुरुषों के लिए अलग होनी चाहिए। सदियों से बिचारे पुरुष-गायक नारी या विरहिणी की भूमिका निभाते चले आ रहे हैं। गायन में पुरुषों के मुख से “कौन करत तोरी विनती पियरवा”, “मैका

हरि-हरि चुड़ियाँ देहो मँगाय”, या ठुमरी-गायन-शैली में “सैयाँ-सैयाँ” की रट बड़ी ही भद्दी और असंगत मालूम पड़ती है।

5. आधुनिक समय में कलाकारों को अच्छे साहित्य का चयन, मध्यलय की छोटी-छोटी तालों का चयन, आलाप-तानों की भरमार कम करके, मुख्य उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही गायन-वादन प्रस्तुत करना चाहिये।

6. गायन में बन्दिश की कविता में नियोजित परिवर्तन के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि वह बन्दिश श्रोताओं को गायन द्वारा भी समझ में आये। जब गायक किसी राग में वह बन्दिश गाए तो उसका उच्चारण तथा शब्दों का नियोजन भी उचित होना चाहिये। गायक जो बन्दिश गा रहा है वह जनसामान्य को समझ में आनी चाहिये। क्योंकि शब्द-माधुर्य के बिना संगीत द्वारा पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती है। आज शास्त्रीय-संगीत का महान् कलाकार गायन प्रस्तुत कर जाता है, परन्तु आरम्भ से लेकर अन्त तक बन्दिश के बोल समझ में नहीं आते। विभिन्न संगीत-सभाओं में मैंने जनसामान्य को यह कहते हुए सुना है कि ‘बन्दिश के शब्द ही समझ में नहीं आये।’ इससे हास्यास्पद स्थिति क्या होगी जब संगीत-विद्यार्थी भी इस कठिनाई का सामना करता है। यह समस्या मैंने एम.ए. (उत्तरार्द्ध) के एक प्रायोगिक प्रश्नपत्र जिसका एक भाग है “Critical appreciation of a recorded demonstration”, में महसूस की। अधिकांश विद्यार्थी कई बार रिकॉर्ड सुनने पर भी बन्दिश की कविता नहीं लिख पाते हैं। कई गायकों के रिकॉर्डों में तो संगीत-शिक्षक भी अपने को असहाय महसूस करता है। इस सच्चाई की कोई भी संगीतविज्ञ अवहेलना नहीं कर सकता। आचार्य वृहस्पति ने तो कविता को “गाने की रीढ़” की संज्ञा दी है। अतः गायक को गाते समय शब्दों को महत्त्व देते हुए शुद्ध उच्चारण करना चाहिये। कुछ अहंकारी शास्त्रीयता के पक्षपाती गायकों को यह कहते सुना है कि “शास्त्रीय संगीत साधारण जनता का संगीत नहीं है। स्वयं ध्वनि की समझ में एक असाधारण अनुभूति का सुख है। कविता का आनन्द ढूँढने वालों के लिए गीत, भजन, गज़ल आदि देशी गायन क्या कम है ?” इस कथन के विपक्ष में इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि क्या जरूरी है कि शास्त्रीय-संगीत को साधारण जनता से दूर रखा जाए। जो लोग शास्त्रीय-संगीत जानते हैं और विद्वान गायक या समझदार श्रोता हैं, यदि उनके प्रयत्नों से साधारण जनता की भी रुचि शास्त्रीय-संगीत में बढ़े तो इससे अच्छी क्या बात हो सकती है। वह जनता जो शास्त्रीय-संगीत को नहीं समझती, केवल शब्दों के बल पर गीत, गज़ल, भजन आदि सरल संगीत को या ठुमरी आदि उपशास्त्रीय-संगीत या भाव-संगीत की ही प्रशंसक है, यदि शब्दों के थोड़े-से प्रयोग से शास्त्रीय-संगीत की भी प्रशंसक हो जाए तो इसमें शास्त्रीय-संगीतज्ञों को कुछ भी हानि नहीं है। बल्कि यह तो संगीत की उन्नति के पक्ष में ही होगा। संक्षिप्त में यही कहना उचित होगा कि गीत-रचना के शब्द सुबोध, सुन्दर, आकर्षक व मधुर भावों से युक्त व सरल हो, जो जनसाधारण को सरलता से समझ में आ सकें।

अतः सार यह है कि शास्त्रीय-संगीत में उपर्युक्त नियोजित परिवर्तन लाकर उसे बहुजन-समाज में उतारना चाहिये। उसके लिए विधिवत् प्रयत्न कर, प्रस्तुतिकरण आसान कर ऐसा परिवर्तन करना चाहिए जो आसानी से जनसाधारण को समझ में आ सके, जिसके परिणामस्वरूप शास्त्रीय-संगीत का आनन्द सभी लोग समान रूप से उठा सकें।

संगीत-शिक्षा का समाजशास्त्र

संगीत-शिक्षण प्राचीन काल से ही भारतीय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। इसके सामाजिक महत्व को समझने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम संगीत-शिक्षा के समाजशास्त्र का भी अध्ययन करें। स्वाभाविक रूप में यहाँ संगीत-विद्यार्थियों या संगीत-जिज्ञासुओं के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि “शिक्षा का समाजशास्त्र” क्या है ? वे कौन-कौन-से मुख्य पहलू हैं, जो इस विषय अर्थात् ‘शिक्षा के समाजशास्त्र’ को स्पष्ट करते हैं ? इसीलिए संगीत-शिक्षा के समाजशास्त्र को समझने के लिए हमें “शिक्षा के समाजशास्त्र” का भी अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अब हम यहाँ ‘शिक्षा के समाजशास्त्र’ का अध्ययन करेंगे।

‘शिक्षा’ मानवीय जीवन की एक प्रमुख आवश्यकता है। प्रसिद्ध समाजवेत्ता ‘इमाइल दुर्खीम’ का कथन है कि, शिक्षा का उद्देश्य शिशु में उन भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक दशाओं की जागृति एवं विकास करना है, जो उसके सम्पूर्ण समाज एवं पर्यावरण के लिए आवश्यक हैं।

एक व्यक्ति अपने आप बहुत ही कम सीख सकता है। उसके सीखने में दूसरों का बहुत ही महत्वपूर्ण योग होता है। यदि किसी व्यक्ति को बिना किसी पुस्तक या बिना किसी दूसरे व्यक्तियों के साथ के बिल्कुल अकेला छोड़ दिया जाए, तो उसकी शिक्षा बिल्कुल ही नहीं हो पाएगी। अतएव शिक्षा के लिए दूसरे व्यक्तियों का होना और पुस्तकों के रूप में उनके ज्ञान का संचित होना परमावश्यक है। शिक्षा इस रूप में ही एक सामाजिक-क्रिया (Social Action) कही जाती है।

शिक्षा का समाजशास्त्र : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य—यह समाजशास्त्र की एक प्रभावशाली शाखा है। यह समाजशास्त्र के उद्देश्यों को शैक्षिक क्रिया द्वारा, जो व्यक्ति तथा समाज के मध्य होती है, प्राप्त करने की चेष्टा करती है। इस विषय का विकास भी आधुनिक काल में बड़ी शीघ्रता से हुआ है। इस विकास के सम्बन्ध में कुछ मुख्य शिक्षाशास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय हैं—जॉर्ज पेयन, जॉन डीवी, डेविड स्नेडेन, सी.सी. पीटर्स, फ्रैंडरिक ई. बोल्टन, लायड एलैन कुक, विलार्ड वॉलर, चार्ज काउन्ट्स, एलसीन डेविस, हिन्डाटाबा, डोलार्ड, स्यालसन, हेलेन जेनिंग्स अमेरिका के; दुर्खीम फ्रांस के; मैक्स वेबर जर्मनी के; कार्ल मानहेम तथा कार्लमोहन इंग्लैण्ड के हैं। शिक्षा के समाजशास्त्र की इस महान् प्रगति का श्रेय जॉन डी.वी. तथा पेयन महोदय को है।

जॉर्ज पेयन (George Payne) ने 1928 ई. में “The Principles of Educational Sociology” नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने सामूहिक जीवन पर शिक्षा का प्रभाव तथा शिक्षा पर सामूहिक जीवन के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रकाश डाला। उन्होंने सामाजिक प्रतिक्रिया के ज्ञान को शिक्षा द्वारा अध्ययन करना सामाजिक प्रगति का एक आवश्यक अंग माना। उन्होंने प्रतिपादित किया कि शिक्षा का मूल उद्देश्य—व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास—तभी सफलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है, जब मानव के ऊपर सामाजिक शक्तियों के प्रभाव का गहन अध्ययन किया जाये। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास सामाजिक वातावरण के प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया पर ही आधारित है।

जॉन डी.वी. (John Dwey) ने भी सामाजिक प्रवृत्तियों का शिक्षा में बहुत महत्वपूर्ण स्थान माना है। उन्होंने अपनी पुस्तकों “The School and Society” तथा “Democracy and Education” द्वारा शिक्षा में व्यक्ति की सामाजिकता के महत्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने कहा है कि “व्यक्ति द्वारा जाति की सामाजिक चेतना में भाग लेने से शिक्षा का पूर्ण विकास होता है।” तात्पर्य यह है कि शिक्षा की क्रिया एक सामाजिक क्रिया है। यह प्रक्रिया पाठशाला द्वारा अपने गन्तव्य को पहुँचती है। अतः पाठशाला एक सामाजिक संस्था है जो समाज को शुद्ध तथा प्रगतिशील बनाती है तथा व्यक्ति को सामाजिकता से परिचित कराती है।

शिक्षा के समाजशास्त्र का व्यवस्थित एवं औपचारिक प्रारम्भ, वास्तव में आधुनिक समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों ने ही किया। फ्रान्स के समाजशास्त्री **इमाइल दुर्खीम** इनमें अग्रणी थे। आपने अपने शिक्षा के समाजशास्त्र सम्बन्धी विचारों को “Education and Sociology” नामक पुस्तक में रखा है।

समाजशास्त्रियों की सबसे बड़ी संस्था ‘American Sociological Association’ (ASA) ने 1960 में ‘शिक्षा के समाजशास्त्र’ (Sociology of Education) का एक पृथक् विभाग स्थापित किया। इस विभाग में लगभग 500 सदस्य हैं। 1963 से ASA ने ‘Sociology of Education’ के नाम से एक पत्रिका (Journal) भी प्रकाशित करनी प्रारम्भ कर दी, जो कि मूलतः इसी विषय से सम्बन्धित लेखों के प्रकाशन का कार्य करती है।

भारत के ‘शिक्षा के समाजशास्त्र’ के विकास में **आई.पी. देसाई** (I.P. Desai) का योगदान उल्लेखनीय है। आई.पी. देसाई ने 1952 में ही ‘Sociology and Social-change’ पर एक अध्ययन सम्पादित किया था। **कोरमेक** ने इस सम्बन्ध में प्रथम सम्पूर्ण अध्ययन ‘भारतीय विद्यार्थी एवं सामाजिक परिवर्तन’ के नाम से 1961 में प्रस्तुत किया। 1964 में **शाह** (Shah) ने गुजरात के ‘महाविद्यालयीय छात्रों के सामाजिक परिवर्तन’ का अध्ययन प्रस्तुत किया। **एम.एस. गोरे** ने 1970 में “शिक्षा के समाजशास्त्र” के क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्षेत्रीय कार्य प्रस्तुत किया। इसके बाद शिक्षा के समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेक अध्ययन समय-समय पर प्रस्तुत किये गये।

इस प्रकार भारत में शिक्षा का संगठन आरम्भ से ही सामाजिकता की भावना से पूर्ण रहा है। सामाजिक भावना का प्रभाव शिक्षा पर पड़ा और शिक्षा ने समाज की उन्नति के ध्येय को सामने रखा। शिक्षा के उद्देश्यों में ‘व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्थान’ एक परम उद्देश्य माना गया है।

शिक्षा के समाजशास्त्र पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने के बाद इसका अर्थ भी समझ लेना चाहिये। समाजशास्त्र की तरह शिक्षा के समाजशास्त्र का मूलमन्त्र भी सामाजिक प्रतिक्रिया का अध्ययन करना है। ब्राउन के अनुसार “शिक्षा व्यक्ति की, जाति की सामाजिक चेतना में भाग लेने के द्वारा संचालित होती है।” ओटावे (Ottway) का कथन है कि “शिक्षा के समाजशास्त्र का प्रारम्भ इस दृष्टिकोण को अपनाकर होता है कि शिक्षा एक क्रिया है जो समाज में होती है और उसके उद्देश्य और विधियाँ उस समाज की प्रकृति पर निर्भर होती हैं, जिसमें कि वह क्रिया होती है.....।” शिक्षा का समाजशास्त्र समाज के विभिन्न अंगों की व्यक्ति के साथ होनेवाली प्रतिक्रिया का अध्ययन कर शिक्षा में उनके महत्व पर प्रकाश डालता है। यह शास्त्र समाज की उन्नति को शिक्षा के माध्यम द्वारा प्राप्त करने पर बल देता है। शिक्षा, विद्यालय एवं शिक्षण की सीमाएँ विशेष रूप से समाज की समस्याओं के रूप में ही देखी जाती हैं। उदाहरण के लिए—किस प्रकार की शिक्षा बालकों को दी जाए ? उस शिक्षा का पाठ्यक्रम क्या हो ? कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ाई जाएँ ? इन सब प्रश्नों के उत्तर समाज की प्रकृति तथा उसके स्वरूप के अध्ययन द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। शिक्षा का समाजशास्त्र इन समस्याओं का उपयुक्त हल ढूँढकर उनके उपयोग करने की विधि को भी प्रस्तुत करता है। यह विज्ञान जन-समूह एवं उन संस्थाओं आदि पर विचार एवं विश्लेषण प्रस्तुत करता है तथा उन सामाजिक क्रियाओं पर प्रकाश डालता है जो शिक्षण की क्रिया में महत्वपूर्ण हैं। सूक्ष्म रूप में हम कह सकते हैं कि यह विज्ञान सम्पूर्ण शैक्षिक प्रक्रिया का विश्लेषण तथा उपयोग करता है, जो व्यक्तित्व के विकास में योग प्रदान कर व्यक्ति को श्रेष्ठ सामाजिक प्राणी बनाती है।

संगीत-शिक्षा का समाजशास्त्र—संगीत-शिक्षा समाज की उन्नति व विकास में किस प्रकार सहायक है, इसका अध्ययन हम संगीत-शिक्षा के समाजशास्त्र में करेंगे। इसमें संगीत-शिक्षा के विभिन्न पक्ष सम्मिलित हैं अर्थात् सम्पूर्ण संगीत-शिक्षण-प्रक्रिया का विश्लेषण शिक्षा के समाजशास्त्र की भाँति हम इस शास्त्र में करेंगे। मेरे अनुसार संगीत-शिक्षा के समाजशास्त्र के मुख्य पक्ष इस प्रकार हो सकते हैं—

1. संगीत-शिक्षा और सामाजिक उत्तरदायित्व।
2. संगीत-शिक्षा : वैयक्तिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विकास में सहायक।
3. संगीत-शिक्षण प्रणाली का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन।
4. संगीत-शिक्षण-विधियाँ : सामूहिक योजनाओं व प्रतिक्रियाओं को समझने में सहायक।
5. वर्तमान संगीत-शिक्षण की सीमाएँ : सामाजिक समस्या के रूप में।

1. संगीत-शिक्षा और सामाजिक उत्तरदायित्व—प्रसिद्ध शिक्षाविद् हरबर्ट स्पेंसर ने शिक्षा के ठोस सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को सामाजिक स्तर पर लाभकारी सहभागिता के लिए तैयार करना है। इसके उपरान्त अन्य कई विद्वानों ने भी सामाजिक उद्देश्यों को संगीत-शिक्षा के सन्दर्भ में व्यक्त किया। संगीत-शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों को चार वर्गों में वर्णित किया गया है—

- (i) आत्मावलोकन की क्षमता

- (ii) मानवीय सम्बन्धों का बोध
- (iii) आर्थिक स्वावलम्बन की योग्यता
- (iv) सामाजिक उत्तरदायित्व का ज्ञान।

(i) अवलोकन की क्षमता के अन्तर्गत संगीत-शिक्षा से युक्त व्यक्ति में जिज्ञासा, ज्ञान-प्राप्ति के लिए उत्सुकता, मातृभाषा का ज्ञान तथा उसमें प्रवीणता, गणना सम्बन्धी श्रवण तथा अवलोकन की क्रिया में प्रवीणता, स्वास्थ्य सम्बन्धी मूलभूत तथ्यों का ज्ञान, खेलकूद तथा मनोरंजन के कार्यक्रमों में भागीदारी, खाली समय का सदुपयोग, बौद्धिक रुचि, सौन्दर्य-बोध का ज्ञान, चरित्रवान, नैतिक मूल्यों के प्रति उत्तरदायित्व का बोध, तथा जीवन की दिशा-निर्धारण करने की योग्यता आदि गुणों का होना आवश्यक है।

(ii) सामाजिक उद्देश्यों में मानवीय सम्बन्धों का बोध दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य है जिसके अन्तर्गत मानवीय मूल्यों को प्राथमिकता; मैत्री, सहृदयता, सहयोग, नम्रता, पारिवारिक आदर्शों की मान्यता, समृद्धि, विविधतापूर्ण सामाजिक जीवनयापन की क्षमता, प्रजातान्त्रिक विचारों का आदान-प्रदान तथा परिपालन, परिवार को सामाजिक संस्था के रूप में स्वीकृति तथा मान्यता प्रदान करने के गुणों का समावेश होता है।

(iii) आर्थिक स्वावलम्बन की योग्यता के अन्तर्गत संगीत-शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति में अपने कार्य-क्षेत्र में कार्यकुशलता की सन्तुष्टि, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्यों की अर्हताएँ तथा अवसरों की जानकारी, रुचि के अनुसार व्यवसाय का चुनाव, व्यवसाय सम्बन्धी सामाजिक महत्व की अभिशंसा, अपने जीवनयापन की आर्थिक व्यवस्था, जीवनयापन का स्तर-निर्धारण, क्रय-विक्रय में योग्यता तथा उपभोक्ता के हितों का ज्ञान आदि योग्यताएँ होनी आवश्यक हैं।

(iv) सामाजिक उत्तरदायित्व का ज्ञान संगीत में शिक्षित व्यक्ति का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसके अन्तर्गत नागरिकता के गुण, सामाजिक न्याय के प्रति सावधान एवं भावुक होना, सामाजिक कार्यों तथा व्यवस्थाओं के प्रति कार्यशील होना, सामाजिक ढाँचे तथा सामाजिक प्रक्रिया का ज्ञान होना, सामाजिक मतभेदों के प्रति विवेचनापूर्ण दृष्टिकोण, झूठे प्रचारों के प्रति सावधानी एवं सतर्कता, राष्ट्र की सम्पदा एवं सम्पत्ति के प्रति आदर, वैज्ञानिक उन्नति का सर्वसाधारण के लिए उपयोग, विश्व-बन्धुत्व की भावना, कानून का सम्मान, आर्थिक दृष्टि से शिक्षित, नागरिक कर्तव्यों का पालन, प्रजातान्त्रिक विचारधारा के अनुरूप देश के प्रति निष्ठावान् होना आदि तत्त्वों का ज्ञान है।

उपर्युक्त सामाजिक उद्देश्यों का अवलोकन करते हुए निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संगीत-शिक्षा सामाजिक उत्तरदायित्व की ओर एक विस्तृत दिशा प्रदान करती है।

2. संगीत-शिक्षा : वैयक्तिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विकास में सहायक—शिक्षा मानव के सम्यक् विकास का आधार है। सामान्य शिक्षा मानसिक विकास की दृष्टि से तथा ललित कलाओं की शिक्षा मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के परिष्कार की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं से ही मानव चिन्तन, तर्क तथा समस्याओं के समाधान करने की कुशलता

से सम्पन्न होने पर ही जीवन-दृष्टि व जीवन-मूल्यों के गहनतम आदर्शों से परिचित होकर अपने व समाज के लिए एक उपयोगी इकाई सिद्ध होता है। धार्मिक परम्पराओं, सामाजिक मान्यताओं व सांसारिक गतिविधियों को जानने-समझने में मानव की जो आन्तरिक शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं वे अदृश्य हैं; जैसे—कल्पना, भावना, अनुभव, संयम, आत्म-चेतना आदि। इन्हीं के द्वारा विशिष्ट दिशा में विकसित क्रियाओं को तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के संकलन को अलग-अलग नाम दिये गये हैं, जैसे—दर्शनशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान तथा कला आदि।

वैदिक साहित्य में मानव कृतित्व से सम्पन्न होने वाली प्रत्येक रचना को कला कहा गया है व चौंसठ कलाओं का निर्देश दिया गया है, परन्तु यह सभी रसोत्पत्ति में सक्षम नहीं हैं। इस दृष्टि से केवल पाँच कलाओं को विशेष मान्यता देकर उनकी ललित कलाओं में गणना की गई व शेष को उपयोगी कलाएँ माना गया। ललित कलाओं में लालित्य एवं परतत्त्व विषयक सामग्री निहित होने के कारण इन्हें स्वतन्त्र कलाएँ माना गया। संगीत को इन कलाओं में सर्वश्रेष्ठ माना गया।

डॉ. वी.आर. आठवले ने संगीत-शिक्षा के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त किये हैं—“संगीत-शिक्षा का मतलब अनुकरण नहीं बल्कि व्यक्तित्व का मुक्त विकास करना और स्वतन्त्र विचार के लिए उद्यत करना संगीत-शिक्षा का उद्देश्य है।”

व्यक्तित्व का पूर्ण विकास तभी सम्भव है जब व्यक्ति के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक व भावात्मक विकास तीनों का परस्पर सन्तुलन हो। संगीत आदि कलाओं का सम्बन्ध यद्यपि तीनों से है परन्तु प्रमुख रूप से भावात्मक विकास से है। इस सम्बन्ध में मो. अबुल कलाम आज़ाद के विचार उल्लेखनीय हैं। भारतीय शिक्षा मन्त्रालय की ओर से एक अखिल भारतीय सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था कि—

“It is today realised that no education can be complete which does not pay proper attention to the development and refinement of the emotions. This can be done best through the provision of facilities for training the sensibilities by the practice of one of the fine arts. The obvious implication of this is that a society is healthy and well-balanced if training and appreciation of arts are widespread among its members.”¹

स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय सरकार ने शिक्षण में ललित कलाओं के महत्त्व को पूर्णतः स्वीकार किया।

शिक्षा में संगीत-कला का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह एक ऐसा विषय है, जिसमें सन्तुलन, कल्पना, सूझ, स्वाभाविकता, आत्माभिव्यक्ति, आत्मनियन्त्रण, गति, व्यायाम तथा और भी अनेक गुण समाहित हैं।

1. “Indian Educational Documents since Independence”, edited by Arbind Biswas and Suren Arawel. The Academic Publishers (India), New Delhi. P. 385. (संगीत, जून 1988)

संगीत-शिक्षा से शिक्षार्थी में साधना-शक्ति व संयम पल्लवित होता है। कण्ठ-संगीत की पवाहात्मकता दीर्घ श्वास-प्रक्रिया से, वाद्य-संगीत अंग-विशेष के संचालन की प्रक्रिया से तथा नृत्य शारीरिक अंगों व भाव-भंगिमाओं की प्रक्रिया से सीधा सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु भावनात्मक अभिव्यक्ति के लिए यह तीनों ही शिक्षार्थी की वैयक्तिक प्रतिभा व कला-कौशल की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि शारीरिक व मानसिक वृत्तियों का समन्वय ही भावनात्मक व रचनात्मक क्रियाशीलता को परिपक्व कर आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्रदान करता है।

संगीत-शिक्षा न केवल व्यक्तिगत रूप से वरन् सामूहिक रूप से भी महत्त्वपूर्ण है। समूहगान, समूहनृत्य तथा वाद्यवृन्द आदि के माध्यम से उत्पन्न आनन्द परस्पर सहयोग की भावना जागृत करता है, समाज में एक-दूसरे के प्रति प्रेम व सहृदयता की भावना जागृत करता है तथा सामाजिक सम्पर्क के महत्त्व को भी दर्शाता है।

आज के युग में वृन्दगान या समूहगान सामाजिक-चेतना का एक सशक्त माध्यम बनते जा रहे हैं। जहाँ यह लोगों को रंजकता प्रदान करते हैं, वहीं जनमानस में किसी विशेष सन्देश के प्रचार एवं प्रसार का दायित्व भी निभाते हैं। समाज में जनकल्याण तथा देशभक्ति आदि महत्त्वपूर्ण विषयों, राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रमों तथा समाज के उच्च आदर्शों के लिए समूहगान या वृन्दगान का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस दृष्टि से “सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा” “हम होंगे कामयाब एक दिन”, “हिन्द देश के निवासी सभी जन एक हैं” आदि वृन्दगान रचनायें हैं।

वृन्दगान की तो उपयोगिता पर आधारित कई अनुसंधानों के परिणाम भी सामने आये हैं। रूस के शिक्षाविद् सोकोलोव (1970) के अनुसार, “सामूहिक गान अथवा वृन्दगान बच्चों में राष्ट्रीय चेतना, नागरिक कर्तव्यपरायणता, सहयोग एवं एक-दूसरे के प्रति आदर की भावना जागृत करने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री को भी बढ़ावा देते हैं।”

हंगरी के अनुसन्धानकर्ता जाबो (1973) के अध्ययन के परिणामस्वरूप पाया गया कि चरित्र-निर्माण की दिशा में वृन्दगान की एक प्रभावपूर्ण भूमिका है। एक वृन्दगान के सफल प्रदर्शन के उपरान्त प्रस्तुतकर्ताओं में एक ऐसी अद्वितीय प्रसन्नता, उत्साह, मित्रता आदि की भावनाओं का प्रकटीकरण होता है तथा लय, स्वर एवं अन्य सांगीतिक आयामों में उनका सहयोग अवर्णनीय होता है।

हंगरी की संगीत-शिक्षिका अरजेस्बेट (1973) के लम्बे अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप यह बात सिद्ध हुई कि वृन्दगान द्वारा सह-अस्तित्व, सहयोग एवं वर्ग-अनुशासन की भावना प्रबल होती है।

समूहगान की इसी उपयोगिता को भारत के शिक्षाविदों ने भी स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में भारत के प्रसिद्ध शास्त्रीय-संगीतज्ञ एवं शिक्षाविद् विनयचन्द्र मौदगिल्य का मत है कि शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर सामूहिक-गान-शिक्षा को पाठ्यक्रम में समाविष्ट करना अपेक्षित है, क्योंकि बच्चों में स्वभावतः ही सामूहिक-गान के प्रति रुचि होती है। ऐसे कार्यक्रम बच्चों में अनुशासन, एकता, प्रेम, मैत्री, उत्साह आदि व्यक्तित्व के गुणों को विकसित करने का सशक्त

माध्यम हैं। जहाँ एक ओर ऐसी भावनायें दृढ़ होती हैं, वहीं अन्य धर्मों एवं भाषाओं के प्रति आदर तथा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की भावना भी पनपती है।

पन्नालाल मदान ने संगीत-शिक्षा के उद्देश्य की चर्चा करते हुए कहा है—“इससे सौन्दर्यानुभूति की क्षमता का विकास, हृदय की ग्राह्यता का आन्तरिक विकास, अतीन्द्रिय सुख व शान्ति की प्राप्ति, निर्विकार संयम की शक्ति, विचारों से प्रभावोत्पादकता, रचना-शक्ति का प्रकाशन, सभ्यता एवं संस्कृति का संरक्षण, विश्वबन्धुत्व की भावना का विकास आदि होने से बालक का व्यक्तित्व निखरता है।”

व्यक्ति व समाज से ऊपर उठकर संगीत-शिक्षा संस्कृति एवं सभ्यता को भी संरक्षण प्रदान करती है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही अनेकानेक वर्षों की परम्परा में उपलब्ध संगीत का स्वरूप सांगीतिक व सांस्कृतिक परम्पराओं के लिए धरोहरस्वरूप होता है क्योंकि इन्हीं के माध्यम से प्राचीन संस्कृति व सभ्यता का ज्ञान आगे आने वाली पीढ़ियों को उपलब्ध होता है व यही संगीत भविष्य में निर्मित होने वाले संगीत का प्रेरणा-स्रोत बनता है। अन्य कलाओं व मानविकीय विषयों के माध्यम से भी प्राचीन संस्कृति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है परन्तु संगीत एक ऐसा माध्यम है जिसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया में मानवीय भावों का सूक्ष्मता से अनुभव किया जा सकता है। शिक्षा का प्रमुख कार्य संस्कृति एवं सभ्यता को सुरक्षित रखना है। संगीत मानव-समाज की कलात्मक उपलब्धियों और सांगीतिक-सांस्कृतिक परम्पराओं का मूर्तिमान प्रतीक है। संगीत अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है। कला संस्कृति का दर्पण है और संस्कृति कला की प्रेरणा। संगीत व संस्कृति का विकास एक-दूसरे पर निर्भर करता है। लोक-संगीत के माध्यम से किसी देश के अथवा समाज के जीवन-व्यापार, रहन-सहन, खान-पान व सभ्यता का पूर्ण विवरण मिल जाता है। संगीत हमारी समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मनोहर रूप है।

स्वरों में निहित दिव्य शक्ति, सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है। संगीत-कला न केवल संस्कृति के विकास का अंग बल्कि वैज्ञानिक विकास का भी अंग बन चुकी है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि संगीत के प्रभाव से मानसिक ग्रन्थियों पर पड़ने वाले प्रभाव रोगोपचार के लिए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। ध्वनि की विशिष्ट गति व तारता आदि का प्रभाव, विशिष्ट वाद्यों की विशिष्ट ध्वनि तथा लय के सूक्ष्म विभाजनों आदि का प्रभाव मानव की हृदयगति पर पड़ता है। इसी आधार पर संगीत को चिकित्सा-विज्ञान में भी स्थान दिया गया है।

संगीत के माध्यम से बालक में शिक्षा के प्रति रुचि उत्पन्न की जा सकती है। इसी कारण मैडम माण्टेसरी, फ्रॉबेल आदि अनेक शिक्षाविदों ने शिशुओं की शिक्षा में संगीत को अनिवार्य स्थान दिया। शिक्षा भागों में बँटी हुई नहीं होनी चाहिये। तथ्यों को ठूँस-ठूँसकर बच्चों के मस्तिष्क में भरना ही शिक्षा नहीं है। आधुनिक शिक्षाविद् पूरी तरह यह स्वीकार करते हैं कि बुद्धिप्रधान विषय, यथा—अँग्रेजी, गणित आदि के साथ आध्यात्म को बढ़ावा देने वाले और हृदय को प्रशिक्षित करनेवाले विषय भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने आवश्यक हैं।

नोएल वी. हेल ने अपनी पुस्तक “Education for Music” (Oxford University) में इन्हीं भावों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

“It is now seen that education is incomplete unless, by teaching the things of the heart besides those of the head, it leads to spiritual growth as well as to intellectual progress and physical fitness.”

शिक्षालयों में जो संगीत-शिक्षण होता है, उसमें संगीत की शिक्षा केवल संगीत का ज्ञान कराने के लिए ही नहीं वरन् बच्चों के भावों की शिक्षा तथा उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए होती है।

अतः संगीत के अनेकानेक पक्षों को ध्यान में रखकर सौन्दर्यानुभूति की क्षमता का विकास, चित्त को शान्त कर गम्भीर चिन्तन का अभ्यास, निर्विकार संयम का अभ्यास, विचारों की प्रभावोत्पादकता, रचना-शक्ति का विकास तथा उसका प्रकाशन, सभ्यता व संस्कृति का संरक्षण, मानव जाति के प्रति एकात्मकता की भावना, स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण, आत्मिक आनन्द की प्राप्ति से नैतिक उत्थान आदि कुछ ऐसे केन्द्र माने जा सकते हैं जिन्हें व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाए तो कहा जा सकता है कि संगीत मानव-जीवन का संचालक तत्त्व है। अतः मानव के सम्यक् विकास, उत्कृष्ट चरित्र-निर्माण, नियमित व अनुशासित बुद्धि-विकास तथा सामाजिक उत्थान के प्रति जागरूक रहना व प्रेरित करना ही संगीत-शिक्षा का उद्देश्य माना जा सकता है।

संगीत-शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को अपने विचारों और भावनाओं को अधिक गहराई से समझने में मदद करना है, ताकि वह और अधिक स्पष्टता से, और ज्यादा गहराई से सोचने में सक्षम हो सके। संगीत-कला के द्वारा मनुष्य में उत्पन्न यह क्षमता दूसरे इन्सानों के विचारों और भावनाओं को समझने में ताकत देती है; उसमें सामाजिकता की प्रवृत्ति को विकसित करती है। फिर वह अपने को इस समाज में अकेला अनुभव नहीं करता, बल्कि एक बड़े मानव-समुदाय का स्वयं को अंग बना लेता है। क्या मानव को और अधिक मानवीय बनाने से भी कोई दूसरा महान् कार्य हमारे सामने इस दुनिया में हो सकता है ?

3. संगीत-शिक्षण-प्रणाली का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन—भारत में संगीत की शिक्षा-प्रणाली प्रमुख रूप से दो प्रकार की रही है—पहली, ‘व्यक्तिगत पद्धति’ जिसे ‘गुरुकुल पद्धति’ के रूप में जाना जाता है और दूसरी, ‘संस्थागत पद्धति’ प्रायः 19वीं सदी के अन्त तक संगीत-शिक्षा गुरु-शिष्य-परम्परा से ही दी जाती रही। इस परम्परा में संगीत की प्रतिभा, योग्यता और लगन से युक्त तथा कलाकार बनने का लक्ष्य रखनेवाले व्यक्ति संगीत की शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु के प्रति श्रद्धा रखकर परिश्रम और साधना करते थे, दिन-रात संगीत के वातावरण में रहने से संगीत के संस्कार पुष्ट होते थे और गुरु का पर्याप्त मार्गदर्शन मिलता था। इस पद्धति में आधुनिक अर्थ में विशेष पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें, परीक्षा प्रणाली, विशेष साधन और सुविधाएँ तथा उपाधि आदि में से कुछ नहीं था फिर भी अन्त में व्यक्ति कलाकार बनकर निकलता था।

इस प्रकार भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही संगीत-शिक्षा का विशेष महत्त्व रहा है। सुसंस्कृत समाज को जीवन-दर्शन के लक्ष्य की प्राप्ति शिक्षा, साहित्य व कला के सम्मिलित रूप से ही होती थी। शिक्षा का अर्थ अध्ययन या ज्ञान अर्जित करना है। शिक्षा से ही बालक गुरु के समीप रहकर अध्ययन करता है तथा उसके पश्चात् जीवनपर्यन्त शिक्षा के व्यापक अर्थ में ही मनुष्य कुछ न कुछ सदैव सीखता रहता है और जीवन के विविध अंगों के विकास से समाज में उन्नत व सभ्य बनता जाता है। किन्तु आगे चलकर विकसित 'घराना' पद्धति में इसका दूसरा पक्ष भी था। प्रायः व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाता था तथा कलाकार एकांगी रह जाता था। समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनका विकास न हो पाने से वह समाज से कटा रहता था। व्यक्ति की योग्यता और रुचि होने पर भी कभी-कभी वह गुरु की व्यक्तिगत रुचि, राग-द्वेष और मनोविज्ञान का शिकार बनकर संगीत की शिक्षा से वंचित रह जाता था। इन कारणों से संगीत अन्य विषयों के स्तर का नहीं माना जाता था और संगीतज्ञ को समाज में सम्मान प्राप्त नहीं था। इस परिस्थिति के कारण सन् 1931 में बम्बई में 'संगीत-शिक्षा' विषय पर एक संगोष्ठी हुई, जिसमें अनेक विद्वानों के अलावा उस्ताद अल्लाहदिया खाँ, उस्ताद अब्दुल करीम खाँ, उस्ताद फैयाज हुसैन खाँ आदि दिग्गज संगीतज्ञों ने भाग लिया था। अब्दुल करीम खाँ साहब का मत था कि "अपने नामों से खिताब हटा देना चाहिये।" अल्लाहदियाँ खाँ साहब का कहना था कि "कोई भी 'घराना' गलत नहीं है, स्वतन्त्रता ही सबकी आत्मा है" और फैयाज हुसैन खाँ साहब ने प्रस्ताव किया था कि "अपनी-अपनी बड़ाई करने से कुछ फायदा नहीं, एकता जरूरी है। पाठ्यक्रम मिलकर बनाया जाए। मतभेदवाले अछोप रागों का ढँग सब खानदान और घरानेवालों को बुलाकर तय कर लें।" उन बुजुर्गों के कहने का सार इसके अतिरिक्त और क्या है कि संकीर्णता को त्यागकर, मिल-जुलकर संगीत-शिक्षा के लिए कोई ऐसा रास्ता चुना जाए, जो समाज के सभी लोगों के लिए हितकर हो और सबको भला भी लगे।

संगीत के संस्थागत शिक्षण की शुरुआत लगभग 1880 ई. के आस-पास जामनगर में पं. आदित्यराम, बड़ौदा में मौलाबख्श और कलकत्ता में सुरेन्द्रमोहन टैगोर द्वारा हो चुकी थी। वास्तव में संगीत की शिक्षा-संस्थाओं के युग का सूत्रपात पं. विष्णु दिगम्बर पलुस्कर तथा कुछ आगे चलकर पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के द्वारा हुआ और इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप 25-30 वर्षों में ही पूरे उत्तर भारत में संगीत की शिक्षा-संस्थाओं का जाल बिछ गया।

संगीत का संस्थागत शिक्षण दो प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से होता है—एक तो केवल संगीत की शिक्षा देने वाली और दूसरी अन्य विषयों के साथ संगीत की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ। इनमें से प्रथम में संगीत विद्यालय और विश्वविद्यालय के संगीत विभाग आते हैं और दूसरे वर्ग में सामान्य विद्यालय तथा महाविद्यालय जिनमें दूसरे विषयों के साथ-साथ संगीत की शिक्षा भी दी जाती है। दोनों का क्षेत्र भिन्न होते हुए ये सभी किसी न किसी प्रकार एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं।

संगीत-शिक्षा को 'गुरुकुल पद्धति' के स्थान पर संस्था के माध्यम से देने के मुख्य प्रयोजन ये हैं—

1. अन्य विषयों के समकक्ष लाना
2. अनियमितता तथा मनमौजीपन को दूर करना
3. यथासम्भव अधिक सुलभ बनाना
4. समाज में संगीतज्ञों को पुनः सम्मान दिलाना।

वास्तव में 'गुरुकुल पद्धति' की कमियों को दूर करना ही 'संस्थागत-संगीत-शिक्षण' के जन्म का मूल कारण रहा है। संस्थाओं ने इन प्रयोजनों को पूरा करने में काफी हद तक सफलता पाई है।

संगीत-शिक्षा के चार पक्ष हैं—

1. लक्ष्य का निर्धारण
2. विद्यार्थी में संस्कार परीक्षण
3. उचित शिक्षा पद्धति
4. योग्य शिक्षक।

संगीत-शिक्षा के दो लक्ष्य अथवा प्रयोजन हो सकते हैं। दोनों परस्पर भिन्न और भिन्न प्रकार की योग्यता तथा शिक्षण की अपेक्षा रखते हैं।

1. संगीत के प्रति समझदारी पैदा करना—इस क्षेत्र में संगीत के संस्कार डालना, संगीत का आनन्द उठाने की क्षमता पैदा करना और तदनु रूप आवश्यक जानकारी देना आता है।

2. संगीत की व्यावसायिक शिक्षा देना—आधुनिक युग की परिस्थितियों व सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए संगीत-शिक्षण-प्रणाली को वैज्ञानिक व सुनियोजित रूप देने की आवश्यकता हो गई है। आज समाज में संगीत व्यावसायिक रूप में पनप रहा है। संगीत-व्यवसाय को केवल अपने स्वार्थवश जीवनयापन के लिए ही नहीं बरन् उसे कला व समाज की उन्नति के उद्देश्य से अपनाया जाना ही श्रेयस्कर है। संगीत को व्यवसाय के रूप में अपनाए जाने पर वह अनेक रूपों में फलदायक सिद्ध हो सकता है, जैसे—

1. शिक्षक के रूप में
2. मंच-प्रदर्शक कलाकार के रूप में
3. शास्त्रकार व रचनाकार के रूप में
4. संगीत-आलोचक के रूप में
5. सामूहिक-संगीत के निर्माणकर्ता के रूप में
6. अनुसंधानकर्ता के रूप में।

सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ कला के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है इसलिए संगीत के मंच-प्रदर्शक कलाकारों व संगीत-शिक्षकों का, जिनका जनसाधारण के साथ

सीधा सम्पर्क रहता है, यह कर्तव्य हो जाता है कि वह संगीत को व्यावसायिक रूप से अपनाते हुए भी संगीत की वास्तविक सामाजिक उपादेयता तथा शैक्षणिक-स्तर के प्रति सजग रहें।

संस्थागत-शिक्षण के मुख्य चार अंग हैं—छात्र, शिक्षक, शिक्षण-पद्धति और मूल्यांकन।

1. छात्र—संस्थागत-शिक्षण में छात्र का स्थान उल्लेखनीय एवं महत्वपूर्ण होता है। यह छात्र विभिन्न शिक्षा-संस्थानों में ज्ञान अर्जित करने के लिए प्रवेश लेते हैं। शिक्षोपरान्त इनका जीवन राष्ट्रीय दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होता है क्योंकि रोजगार आदि विभिन्न क्षेत्रों में सेवानिवृत्त होने वाले व्यक्तियों के स्थानों पर एवं अनेक नवीन स्थानों पर इन्हीं छात्रों का चयन किया जाता है। राष्ट्र का वर्तमान एवं भविष्य बहुत बड़ी सीमा तक इनकी कुशलताओं, क्षमताओं, अपेक्षाओं एवं अभिवृत्तियों से भरा होता है। सम्पूर्ण राष्ट्र का सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं आर्थिक विकास भी बहुत कुछ इन्हीं पर निर्भर होता है।

जो छात्र संगीत-विषय सीखना चाहते हैं, उनके लिए आवश्यक है कि उनमें संगीत सीखने की क्षमता होनी चाहिये। क्षमता और पद्धति प्रयोजन के निर्धारण से सीधे जुड़ी हैं। संगीत में क्षमता का निर्धारण शुरू में कहे गये दो प्रयोजनों के आधार पर किया जा सकता है। जिनमें संगीत के दो मूल तत्वों—स्वर और लय—के संस्कार हों उन्हें संगीत की शिक्षा दी जा सकती है। जिनमें यह संस्कार न हों और फलतः जो संगीत नहीं सीख सकते, उनकी श्रवण-संवेदना को विकसित करके उन्हें संगीत का आनन्द उठाने के योग्य बनाया जा सकता है। छात्र में संगीत सीखने की क्षमता की परख करने के लिए निश्चित परीक्षण किये जा सकते हैं।

अतः संगीत के संस्कार से सम्पन्न और सीखने में रुचि रखने वाले छात्रों को ही संगीत-शिक्षा दी जाये। इसके बिना छात्र और शिक्षक के समय और शक्ति के अपव्यय को रोका नहीं जा सकता।

2. शिक्षक—संस्थागत-संगीत-शिक्षण की सफलता अथवा असफलता अधिकांशतः शिक्षक पर निर्भर है क्योंकि वही इस कार्यक्रम की धुरी है। शिक्षक संस्था की आत्मा माना जाता है। बिना शिक्षक के संस्था की कल्पना ही नहीं की जा सकती। संस्था समाज का लघुरूप है, अतः शिक्षक का समाज से बहुत गहरा सम्बन्ध है। इस नाते शिक्षक की समाज में महत्वपूर्ण भूमिका है।

डॉ. जाकिर हुसैन के अनुसार—“वास्तव में शिक्षक हमारे भाग्य निर्माता हैं। समाज अपने ही विनाश पर उनकी उपेक्षा कर सकता है।”

डॉ. राधाकृष्णन ने तो उसे राष्ट्र के भाग्य का मार्गदर्शक ही कह दिया है। “शिक्षक बौद्धिक परम्पराओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण करने में धुरी का कार्य करता है। वह सभ्यता एवं संस्कृति का संरक्षक तथा परिमार्जनकर्ता है। वह विद्यार्थी का ही नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र का मार्गदर्शक है।”

गारफोर्थ के शब्दों में—“शिक्षक के माध्यम से राष्ट्रीय संस्कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती है, किसी भी अन्य माध्यम की अपेक्षा उसके माध्यम से अधिक तीव्रता से, समाज की आकांक्षाएँ नवयुवकों को मित्रवत् तरीके से समझाकर बताई जा सकती हैं, क्योंकि

वह विकास के उस स्थान पर खड़ा है, जहाँ बालकों की शक्तियाँ नवीन एवं सृजनात्मक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने के लिए वह दिशा-निर्देशन दे सकता है।”

अतः शिक्षक का बड़ा उत्तरदायित्व है। इस दृष्टि से शिक्षकों के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। संगीत-शिक्षकों का प्रशिक्षण ऐसी अनिवार्य आवश्यकता है जिस पर संगीत-शिक्षा-प्रणाली की सफलता निर्भर है। संगीत-शिक्षा के लक्ष्य व विभिन्न क्षेत्रों का अभी तक निर्धारण न होने से न तो उपयुक्त शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता ही गम्भीरता से महसूस की गई है और न शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए कोई व्यवस्था हो सकी है। संगीत-शिक्षकों को अत्यन्त विषम परिस्थितियों में कार्य करना पड़ता है। इस कारण वे अपने कार्य के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाते। किन्तु परिस्थितियों का सहारा लेकर कर्तव्यविमुखता भी प्रशंसनीय नहीं है। अतः संगीत-शिक्षक के रूप में शिक्षक का कर्तव्य है कि वह सम्पूर्ण सामर्थ्य से विद्यार्थियों को शिक्षा दें।

3. शिक्षण पद्धति—शिक्षा देने की पद्धति सही और उचित होनी चाहिये। छात्र में सामर्थ्य हो और अच्छे शिक्षक भी उपलब्ध हों तो भी अगर उचित रीति से संगीत की शिक्षा न दी जाये तो सफलता की आशा नहीं की जा सकती। अच्छी पद्धति से तात्पर्य ऐसी रीति से है जो अपने लक्ष्यों को पूरा कर सके।

संगीत विदुषी डॉ. सुभद्रा चौधरी का मानना है कि शास्त्रीय-संगीत की शिक्षा के वर्तमान निराशाजनक स्तर को ध्यान में रखते हुए क्रिया और सिद्धान्त का एक न्यूनतम स्तर स्थापित करना जरूरी है। क्रिया की शिक्षा सिद्धान्त से सम्बद्ध और सुनिश्चित प्रणाली से होनी चाहिये तथा शास्त्र की शिक्षा क्रिया पर आधारित होनी चाहिए। इनकी शिक्षा देने का कार्य ऐसे शिक्षकों के द्वारा होना चाहिए जिनका अपने पक्ष पर पूरा अधिकार तथा दूसरे का भी पर्याप्त ज्ञान अथवा अभ्यास हो।

4. मूल्यांकन—शिक्षा में छात्र का मूल्यांकन सही ढंग से होना चाहिये। वर्तमान समय में संगीत-विषय की मूल्यांकन प्रणाली में जो सबसे बड़ा दोष है, वह है—छात्रों को अत्यधिक उदारता से अंक देने की प्रवृत्ति। इससे छात्रों की परिश्रम करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। संगीत के स्तर में गिरावट भी इसका परिणाम है। इसके लिए मूल्यांकन पद्धति में परिवर्तन करने की जरूरत है। यह सत्य है कि संगीत-शिक्षा अब सर्वजन सुलभ हो गई है। संगीत जो पहले गिने-चुने व्यक्तियों की अमानत समझा जाता था, आज समाज का अभिन्न अंग बन चुका है!

लेकिन सबसे बड़ी मूल समस्या है—शिक्षण-संस्थाओं में संगीत-विभागों का निम्न-स्तर।

संगीत-शिक्षण-विधियाँ : सामूहिक योजनाओं व प्रतिक्रियाओं को समझने में सहायक—शिक्षा के समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से वे ही शिक्षण-विधियाँ अच्छी हैं, जो विद्यार्थियों को इस प्रकार का ज्ञान दें, जो उनको विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यवस्थापन एवं अनुकूलन करने में सहायता प्रदान करें। जो शिक्षण-विधियाँ सामाजिक व्यवहार और सामाजिक मूल्यों को महत्व देंगी, वे सामूहिक योजनाओं, सामूहिक प्रतिक्रियाओं इत्यादि को समझने तथा निर्माण करने

में बालक को दक्ष बना देंगी। वे शिक्षण-विधियाँ अच्छी हैं जो बालकों में जनतन्त्रीय विचारधाराओं का विकास करती हैं। ऐसी शिक्षण-विधियों के उदाहरण हैं—प्रोजेक्ट प्रणाली, सामूहिक वाद-विवाद, सेमिनार इत्यादि।

पेयन के अनुसार, किसी भी शिक्षण-पद्धति का महत्व सामाजिकता के दृष्टिकोण से निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिये—

“1. कोई भी शिक्षण-पद्धति उस सीमा तक प्रभावशाली है जिस सीमा तक ज्ञान तथा कला जो कक्षा में सीखे जाते हैं, व्यक्ति का व्यवस्थापन एवं अनुकूलन सामाजिक स्थितियों में प्राप्त करने में सहायता प्रदान करें।

2. शिक्षण-पद्धति प्राथमिक रूप से कक्षा से बाहर के सामाजिक व्यवहार पर बल दे।

3. शिक्षण-पद्धति उन सामाजिक शक्तियों का, जो सामाजिक जीवन में सक्रिय हैं, उपयोग करें, ताकि व्यक्ति के सामाजिक व्यवस्थापन की योग्यता का विकास हो।”

सामाजिक आधार के अनुसार, संगीत-शिक्षा से तात्पर्य ऐसी शिक्षा से है, जो ऐसे व्यक्तित्व का विकास करे, जिसमें संवेगात्मक व्यवस्थापन हो और सामाजिकता की भावना से पूर्ण हो। संगीत-शिक्षा का पाठ्यक्रम, संगीत-शिक्षण-विधियाँ एवं संगीत-शिक्षा के कार्य इसी उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु निर्मित किये जाने चाहिये। व्यक्ति में जो विधियाँ इस प्रकार के भावों का विकास करती हैं कि व्यक्ति अकेला ही कुछ नहीं, समाज में उसका महत्व है और समाज की प्रगति ही उसका जीवन लक्ष्य है, वे ही अच्छी विधियाँ समझी जाती हैं।

संगीत सीखने-सिखाने तथा पठन-पाठन के लिए मौखिक-श्रव्य-रीति अनेक दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी है। आज पश्चिम में भी यह विचारधारा बलवती होती जा रही है कि लिखित सामग्री का सीमित उपयोग होना चाहिये, मौखिक तथा श्रव्य सामग्री का अधिक। इसलिए “Oral and aural rather than written and visual.” यानी लिखित और दृश्य के बजाय मौखिक और श्रव्य को बहुत महत्व दिया जा रहा है। भारत में तो सभी कलाओं और विधाओं में यही पद्धति रही है। किन्तु पश्चिमी विचारधारा ने सोचने-समझने और अध्ययन-अध्यापन की दिशा में कुछ भिन्न दृष्टियाँ विकसित की हैं और विभिन्न तरीके दिये हैं।

कुछ प्रमुख पद्धतियाँ ये हैं—Lecture, Seminar, Symposium, Written-work, Analysis or Criticism, Assignment, Critique.

इनमें से Lecture, Written-work, Criticism और Assignment में शिक्षक और छात्र में से किसी एक ही ओर की भागीदारी प्रायः रहती है। Lecture में शिक्षक व्याख्यान देता है। व्याख्यान या भाषण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से एक ही समय में अनेक विद्यार्थी लाभान्वित हो सकते हैं क्योंकि इसमें पुनरुच्चारण, पुनरुक्ति जैसी प्रक्रियाओं का कोई प्रयोजन नहीं होता। शिक्षक केवल भाषा तथा आंगिक चेष्टाओं के आश्रय से अपनी बात को स्पष्ट करता जाता है जो विद्यार्थी के लिए मानसिक रूप से ग्राह्य होती है। इसमें आधुनिक यान्त्रिक उपादानों, जैसे—प्रोजेक्टर, टेपरिकॉर्डर, ध्वनि की तारता दर्शाने वाले यन्त्र तथा लय दर्शाने वाले यन्त्रों का प्रयोग भी किया जा सकता है। लेकिन शिक्षण की इस विधि में स्वरचित प्रश्न के अलावा छात्र समूह की कोई विशेष भागीदारी नहीं होती। सामूहिक भागीदारी के

अभाव के कारण शिक्षण की यह विधि समाजशास्त्रीय दृष्टि से व्यक्ति के व्यक्तिगत विकास में सहायक है।

Written Work में छात्र स्वतन्त्र रूप से उस विषय पर लिखते हैं जो शिक्षक द्वारा पढ़ाया गया है। सम्बन्धित विषय पर लिखकर विद्यार्थी अपनी ग्राह्यता का परिचय देता है। Analysis या Criticism में भी छात्र किसी सुने हुए कार्यक्रम के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण या समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। Assignment में शिक्षक द्वारा दिये गये किसी विषय पर अध्ययन करके छात्र लिखते हैं। इन सभी में छात्रों की मौखिक अभिव्यक्ति को कोई अवसर नहीं मिलता किन्तु छात्र की विचार-शक्ति और लेखन-क्षमता तथा अभिव्यक्ति के विकास के लिए पर्याप्त गुंजाइश है। शिक्षा की यह सब विधियाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास उसके सामाजिक अनुभवों पर होता है। विद्यार्थी के अनुभव ही सामाजिक प्रतिक्रिया को जन्म देते हैं।

संगीत-शिक्षा के लिए शिक्षण की अनेक वांछित विधियाँ हो सकती हैं, किन्तु शिक्षा के समाजशास्त्र के अनुसार वांछित संगीत-शिक्षण-पद्धतियाँ इस प्रकार हैं।

1. **सेमिनार**—सेमिनार में मूलतः शिक्षक या किसी छात्र के द्वारा किसी एक विषय की चर्चा का आरम्भ होकर उस पर सभी छात्रों द्वारा चर्चा की जानी अपेक्षित है। आजकल विश्वविद्यालयों में किसी एक निश्चित विषय के विभिन्न पक्षों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विद्वानों द्वारा आलेखों का प्रस्तुतिकरण और फिर चर्चा के रूप में सेमिनार आयोजित किये जाते हैं। इसमें विषय-सम्बन्धी विभिन्न पक्षों पर विद्वच्चर्चा के कारण सबको लाभ होता है। क्रियात्मक या सैद्धान्तिक रूप से इन आयोजनों में विद्यार्थी को मंच-प्रदर्शन का अवसर मिलता है।

2. **सिम्पोज़ियम**—सेमिनार से सिम्पोज़ियम इस रूप में भिन्न है कि सेमिनार में किसी एक ही विषय पर चर्चा होती है जबकि सिम्पोज़ियम में अनेक विषयों पर। इसमें लेख पढ़ने तथा उस लेख पर अन्य विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं को जानने का अवसर प्राप्त होता है। फलस्वरूप उस विशिष्ट विषय (Topic) को विस्तारात्मक दृष्टिकोण से जानने-परखने का अवसर मिलता है। साथ ही साथ विचार-विमर्श के माध्यम से गौण या विस्मृत केन्द्रों को प्रकाशित करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

3. **कार्यशाला की स्थापना**—इसके माध्यम से दो प्रकार से संगीत-शिक्षा दी जा सकती है—

(1) चर्चा के माध्यम से

(2) सांगीतिक यन्त्रों की कार्यप्रणाली के माध्यम से।

किसी विषय को लेकर विद्यार्थी अपने-अपने विचार प्रकट करें और शिक्षक समन्वयात्मक रूप से उन विचारों को नियोजित करते हुए विषय का स्पष्टीकरण करें। इससे विद्यार्थियों में एक ही विषय को अनेक कोणों से समझने की क्षमता का विकास होता है। दूसरे रूप में वाद्यों की बनावट में भौतिकी के प्रयोग, कण्ठ-साधना के लिए आवश्यक प्रक्रियाएँ व व्यायाम आदि तथा सामूहिक रूप से संगीतात्मक स्वरावलियों की गणबद्धता या संरचना सम्बन्धी प्रयोग सम्मिलित करके विद्यार्थियों में स्वयं प्रयोग करने की क्षमता का विकास किया जा सकता है।

4. समीक्षा—समीक्षा में शिक्षक द्वारा कोई एक ही पुस्तक किसी छात्र को दे दी जाती है और वह उसका अध्ययन करके उसकी समीक्षा प्रस्तुत करता है, शेष छात्र उस चर्चा में भाग लेते हैं। इसके लिए भाषा पर अधिकार, विचार शक्ति, जिज्ञासावृत्ति, खण्डन-मण्डन तथा लेखन-क्षमता जरूरी है। स्वस्थ समीक्षा के द्वारा न केवल कलाकार को मार्ग-दर्शन प्राप्त हो जाता है बल्कि संगीत के प्रति सही दृष्टिकोण का निर्माण और श्रोताओं की रुचि का परिष्कार भी किया जा सकता है।

सामूहिक वाद-विवाद—वाद-विवादात्मक विधि में स्वाध्याय पर अधिक बल दिया जाता है। वाद-विवादात्मक विधि का प्रयोग दो प्रकार से होता है—

शिक्षक द्वारा—शिक्षक द्वारा विवाद में शिक्षक विद्यार्थियों के सम्मुख किसी ऐसे विषय को विवाद द्वारा स्पष्ट करता है, जिससे विद्यार्थी पूर्ण रूप से सन्तुष्ट न हो।

विद्यार्थियों द्वारा—विद्यार्थियों द्वारा वाद-विवाद में शिक्षक विद्यार्थियों को दो समूहों में बाँट देता है। उनमें से कुछ उस विषय के पक्ष में विचार प्रकट करते हैं तथा कुछ विपक्ष में। इस विधि द्वारा विद्यार्थियों में स्वाध्याय की व खोज की प्रवृत्ति का विकास होता है।

इस प्रकार सेमिनार, सिम्पोज़ियम और क्रिटीक में व्याख्या, भाषण, चर्चा, उत्तर-प्रत्युत्तर, शंका-समाधान आदि के कारण सोचने-समझने, परस्पर सम्बद्ध करने और मौखिक अभिव्यक्ति—इन सबकी एक साथ परीक्षा हो जाती है।

अतः उपर्युक्त सभी संगीत-शिक्षण-पद्धतियों में शिक्षक और छात्र में से किसी एक ही ओर की भागीदारी न होकर सभी की सामूहिक भागीदारी होती है। मानव एक सामाजिक प्राणी है अतएव उसको लाभदायक अनुभव शिक्षा के क्षेत्र में तभी मिल सकते हैं जब वह क्रिया-प्रतिक्रिया उनके साथ करना सीखता है जो शिक्षण के समय उसके सम्पर्क में आते हैं। शिक्षा को इसी रूप में एक सामाजिक प्रक्रिया कहते हैं।

वर्तमान संगीत-शिक्षण की सीमाएँ

शिक्षा के समाजशास्त्र में शिक्षा, विद्यालय एवं शिक्षण की सीमाएँ विशेष रूप से सामाजिक समस्याओं के रूप में देखी जाती हैं। शिक्षा का समाजशास्त्र इन समस्याओं का अध्ययन कर तथा उनका उपयुक्त हल ढूँढकर उनके उपयोग करने की विधि को भी प्रस्तुत करता है। इसी विचारधारा के अनुसार मैं यहाँ संगीत-शिक्षण-सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डाल रही हूँ।

सर्वप्रथम संगीत-शिक्षकों की समस्याओं को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। सरकारी या मान्यता-प्राप्त विद्यालयों में नियुक्त संगीत-अध्यापकों का विद्यालय में तथा समाज में क्या स्थान है ? इस पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। एक संगीत-शिक्षक या तो फ्रीलांसर गुरु होता है या वह किसी शिक्षण-संस्थान, महाविद्यालय या मान्यता-प्राप्त संगीत-विद्यालय में सेवारत होता है। नाम लैक्चरर, प्रोफेसर या आचार्य कुछ भी दे लें, किन्तु नौकरी तो नौकरी ही होती है। यह दुःख की बात है कि शिक्षण-संस्थाओं में संगीत-शिक्षक का स्थान अन्य प्रमुख विषयों के अध्यापकों से नीचा माना जाता है। सरकारी योजना के अनुसार भी स्कूलों में संगीत-विषय को दूसरा दर्जा प्राप्त है। विज्ञान का अध्यापक अधिक मूल्यवान है। संगीत के अध्यापक का स्थान अपेक्षाकृत गौण है। इस कारण संस्था में वह द्वितीय दर्जे का अध्यापक

दबा-दबा-सा रहता है तथा सारी उम्र 'स्वागत-गीत' गवाने में ही बीत जाती है। अतः अध्यापकों की अपने कार्य के प्रति असन्तुष्टि की भावना है।

द्वितीय प्रमुख समस्या जो सामने आई वह विद्यालय या विश्वविद्यालय के संगीत-विभाग में भौतिक सुविधाओं की कमी है। अधिकांश विद्यालयों में संगीत-शिक्षा के लिए अच्छे कक्ष की व्यवस्था भी नहीं है या आवश्यकतानुसार संगीत-कक्षों की कमी है। संगीत-शिक्षा के लिए आवश्यक वाद्यों की भी कमी है। इससे विद्यार्थियों को बहुत असुविधा का सामना करना पड़ता है। आज के युग में जहाँ हर शिक्षण-संस्था में कम्प्यूटर का प्रयोग आवश्यक हो गया है, वहाँ संगीत-शिक्षा के लिए प्रयोजनीय दृश्य-श्रव्य-सामग्री भी नहीं है। संगीत के विद्यार्थियों के लिए टेपरेकर्डर, रिकॉर्ड प्लेयर की भी वाद्यों के समान ही आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त पुस्तकालय में संगीत-पुस्तकों का पर्याप्त अभाव है तथा तबला-वादकों की भी पर्याप्त मात्रा में नियुक्ति नहीं है जो कि संगीत-कला की एक आवश्यकता है। तबला-वादकों के अभाव में संगीत-शिक्षक विद्यार्थियों को ताल व लय के अनुसार राग सिखलाने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं।

इस प्रकार संगीत-शिक्षण-सम्बन्धी समस्याओं के अध्ययन में हमने पाया कि प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्चतर माध्यमिक स्तर तक अधिकांश समस्याएँ बालकों के चारित्रिक विकास, मानसिक विकास, तथा शारीरिक विकास से सम्बन्धित होने के कारण संगीत-शिक्षक की योग्यता, विद्यालयों के प्रबन्धकों की संगीत-विषय में अनुकूल रुचि न होने तथा विद्यार्थियों की वांछित संख्या के अभाव में नियुक्ति न बने रहने का भय आदि से सम्बन्धित होती है। परन्तु स्नातक या स्नातकोत्तर स्तर पर संगीत-शिक्षण में विशेष कौशल व विशेष योग्यता की दृष्टि से समस्याओं का स्वरूप मूलतः शिक्षण प्रविधियों तथा परीक्षा पद्धति से ही सम्बन्धित होते हुए भी विशेष कौशल से सम्पन्न होने या न होने, संगीत-शिक्षण के पाठ्यक्रम के वांछित रूप से फलदायक होने या न होने, प्रवेश से लेकर परीक्षा-पद्धति तक के नियमों का औचित्य अथवा अनौचित्य, शिक्षण-प्रशिक्षण-सम्बन्धी समस्याएँ तथा संगीत के आन्तरिक पक्ष के विकास में संगीत-शिक्षा का उत्तरदायित्व आदि से सम्बद्ध दिखाई पड़ती हैं।

इन समस्याओं के निदान के लिए कुछ सुझाव इस प्रकार हैं—

1. संगीत-शिक्षा के विकास के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता जनसाधारण में विषय के लिए जागरूकता उत्पन्न करना है। संगीत एक मनोरंजक विषय होने पर भी प्रायः सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित व्यक्ति इस क्षेत्र को अपना नहीं चाहते। उनको यह ज्ञान कराना भी आवश्यक है कि संगीत-शिक्षा मात्र संगीत की शिक्षा ही नहीं, अपितु बाल्यकाल से ही पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन है।

2. संगीत-शिक्षा के लिए उच्च कक्षाओं में विद्यार्थियों का चुनाव विद्यार्थियों की व्यक्तिगत रुचि एवं योग्यता के आधार पर ही होना चाहिए। **पं. रविशंकर जी** का भी कहना है—

“We should also be careful in selecting the right students for music education. They must be sensitive and intelligent. An aptitude test is hence essential.”¹

इसलिए अभिरुचि-परीक्षण द्वारा उन्हीं छात्र-छात्राओं को संगीत में प्रवेश देना चाहिए जो वास्तव में संगीत के प्रति रुचि रखते हों।

3. शास्त्रीय-संगीत की शिक्षा के वर्तमान निराशाजनक स्तर को ध्यान में रखते हुए क्रिया और सिद्धान्त का एक न्यूनतम स्तर स्थापित करना जरूरी है। क्रिया की शिक्षा सिद्धान्त से सम्बद्ध और सुनिश्चित प्रणाली से होनी चाहिए तथा शास्त्र की शिक्षा क्रिया पर आधारित होनी चाहिए। इनकी शिक्षा देने का कार्य ऐसे शिक्षकों के द्वारा होना चाहिए जिनका अपने पक्ष पर पूरा अधिकार तथा दूसरे का भी पर्याप्त ज्ञान अथवा अभ्यास हो।

4. स्नातकोत्तर स्तर पर क्रिया और म्यूज़िकोलॉजी के पाठ्यक्रम चलाए जाने चाहिए। जिससे छात्रों में भावी अनुसंधान के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि और संगीत-समीक्षा की क्षमता विकसित हो सके।

5. विद्यालय तथा विश्वविद्यालयों में संगीत-विषय से सम्बन्धित भौतिक सुविधाओं के लिए उचित धनराशि उपलब्ध होनी चाहिए जिससे इस अभाव की पूर्ति हो सके।

6. यह आम धारणा है कि संस्थाएँ कलाकारों का निर्माण नहीं कर सकतीं। इसमें सत्य का जो अंश है, उसे देखते हुए एकल-गायन और एकल-वादन की शिक्षा में विशेष सावधानी और सुधार की आवश्यकता है। छात्रों की क्षमता का परीक्षण करके अनुकूल धारा में शिक्षण दिया जाय, छात्र के गुण-धर्म तथा रुचि के अनुकूल शिक्षक के पास सीखने की सुविधा प्रदान की जाये, 'गुरुकुल पद्धति' की विशेषताओं का समावेश किया जाये, यानी विद्यार्थी को निरन्तर संगीत का वातावरण दिया जाय तथा शिक्षण और अभ्यास के लिए प्रतिदिन पर्याप्त समय व मार्ग-दर्शन मिले, ऐसी व्यवस्था की जाय।

डॉ. प्रेमलता शर्मा ने शिक्षण सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के निम्नलिखित पहलू बताए हैं—

1. पाठ्यक्रम का निर्धारण।

2. पाठ्यपुस्तकों का उचित मात्रा में उपलब्ध होना।

3. बिना पक्षपात के कठिन परीक्षा होना।

4. योग्य गुरु व मन लगाकर सीखने वाले शिष्य का होना।

5. संगीत-शिक्षण को अन्य विषयों के स्तर पर लाकर सम्मान दिलवाना, यथासम्भव सुलभ बनाना तथा अनियमितता को दूर करना आदि।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन विचारणीय पक्षों के सम्बन्ध में विचारगोष्ठियों के आयोजन के माध्यम से समस्याओं का विशद विश्लेषण किया जाए, तथा उनके समाधान के उपाय रखे जाएँ तथा उनके उपयोग करने की विधि भी बताई जाये। यही संगीत-शिक्षा के समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य होगा।

भारतीय गायन-शैलियों का समाजशास्त्र

भारतीय संगीत का विकास आज या कल की बात नहीं है। भारतीय संगीत का विकास एक लम्बे इतिहास-क्रम को प्रस्तुत करता है। वह अनेक संगीत-शैलियों, युग-प्रवृत्तियों तथा रचयिताओं के एक क्रमिक एवं व्यापक फलक से जुड़ा हुआ है। भारतीय संगीत आज जिस रूप में उपलब्ध है वह अनेक युगों की गायन-शैलियों पर आधारित है। विभिन्न काल की शैलियाँ हमारे भारतीय संगीत को विविध-आयामी विकास प्रदान करती रही हैं। वैदिककाल से लेकर मध्यकाल एवं आधुनिक काल तक भारतीय संगीत न जाने कितने सांगीतिक रूपों से अनुप्रेरित होता रहा है।

कला और उसकी शैली नित नवीन साँचों में उभरती हुई नये-नये रूपों में घटित होती रहती है। भारतीय संगीत के सम्बन्ध में भी यही तथ्य सिद्धान्ततः उजागर होता है। भारतीय संगीत सामगान, स्तुतिगान, ध्रुवागान, गीतिगान, जातिगान, प्रबन्ध-गान, ध्रुपद-धमार, ख्याल, ठुमरी, टप्पा, कव्वाली, भजन, कजरी, चैती, होली, गज़ल गायन से लेकर फिल्मी-गायन तक के विविध सांगीतिक रूपों में विकसित हुआ है।

सांगीतिक रूप का भी एक सामाजिक अर्थ और अभिप्राय होता है। **रेमंड विलियम्स** ने ठीक ही लिखा है कि “कला और साहित्य में रूप सम्बन्धी परिवर्तन व्यापक सामाजिक परिवर्तन के द्योतक होते हैं। रूप सम्बन्धी आविष्कार एक ओर चेतना में परिवर्तन के प्रमाण हैं तो दूसरी ओर परिवर्तन और चेतना के मूर्त रूप भी हैं।” इसलिए कला के रूप की सामाजिकता का विश्लेषण एक विशेष प्रकार के सार्थक सामाजिक व्यवहार का समाजशास्त्रीय विश्लेषण है। ऐसा तभी सम्भव है जब संगीत के समाजशास्त्र के अन्तर्गत सांगीतिक रूपों के समाजशास्त्र का समावेश होगा। इस प्रक्रिया में सांगीतिक कर्म की विशिष्टता स्पष्ट होगी जो कि अनेक प्रकार के ऐतिहासिक-सामाजिक सम्बन्धों से प्रभावित होती है। इससे यह भी स्पष्ट होगा कि संगीतकला के विशिष्ट रूपों में विशेष सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति होती है।

संगीत के रूपों में समाजशास्त्र के सम्बन्ध में मेरी मान्यता यह है कि “संगीत में रूप ही मूलतः सामाजिक होता है। वह सर्जक कलाकार और श्रोता-समुदाय के बीच वास्तविक सम्बन्ध का सच्चा सूत्र है। इस प्रकार संगीत में रूप ही ऐसा तत्त्व है जो सामाजिक और सौंदर्यबोधीय

दोनों होता है। प्रत्येक रूप अनुभव का नया व्याकरण निर्मित करता है। सांगीतिक रूप हमेशा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक होता है। इसलिए यह सामाजिक होता है।”

प्रसिद्ध विद्वान् लुकाच का मानना है कि रूप जीवन के विभिन्न बिखरे हुए तत्वों की सार्थक संरचना का ही दूसरा नाम है। उससे जीवन में संगति और संरचना आती है। उनके अनुसार रूप के दो स्तर हैं। एक स्तर पर रूप सार्थक संगति का पर्याय है जिससे जीवन के अनुभवों में व्यवस्था और अर्थवत्ता का विकास होता है। रूप का दूसरा स्तर सांगीतिक-रचना में मिलता है। सांगीतिक-रचना में रूप के दो प्रकार होते हैं। एक रूप वह है जो अन्तर्वस्तु के परिवर्तन के बावजूद अपेक्षाकृत स्थायी होता है। उसे सांगीतिक विधा कहा जा सकता है। रचना के भीतर दूसरे प्रकार का रूप अन्तर्वस्तु को रूपायित करने का माध्यम और साधन होता है, इसलिए वह अन्तर्वस्तु के साथ परिवर्तनशील और विकासशील होता है। संगीत-कला में रूप के ये विभिन्न रूप न तो केवल परम्परा की देन होते हैं और न केवल कलाकार की सृजनशीलता के परिणाम; वे न तो पूर्णतः सामाजिक होते हैं और न पूर्णतः वैयक्तिक। उनके निर्माण और विकास में परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा, ऐतिहासिकता और समकालीनता का योग होता है।

संगीत का वही समाजशास्त्र प्रामाणिक और विश्वसनीय हो सकता है जो सांगीतिक रूप के—सामाजिक तथा सौन्दर्यबोधीय—इन दोनों पक्षों को उजागर करे। इनमें से किसी एक पक्ष तक सीमित रहनेवाली दृष्टि अन्ततः अधूरी ही कहलायेगी। अतः सांगीतिक रूप के महत्त्व की ठीक ढँग से व्याख्या करके उसके सामाजिक और सौन्दर्यबोधीय पक्षों को उजागर करते हुए संगीत के समाजशास्त्र को अधिक विश्वसनीय बनाया जा सकता है। संगीत के समाजशास्त्रीय विश्लेषण में संगीत-विधा पर ध्यान देने से विचार के केन्द्र में संगीत-कला का उत्पादन, उसका सौन्दर्यबोधीय रूप रहता है और अन्तर्वस्तु का सामाजिक सन्दर्भ तथा ऐतिहासिक आयाम भी रहता है।

सांगीतिक विधा और रूप में किसी काल-विशेष की ऐतिहासिक चेतना रूपायित होती है। विधाओं के निर्माण के दर्शन के मूल में देश और काल की विशिष्ट चेतना भी होती है। ध्रुपद और ठुमरी जैसी संगीत-शैलियों के स्वरूप सम्बन्धी अंतरों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। यह सही है कि रचनाकार का विधा-सम्बन्धी चुनाव अनेक सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों और दबावों से प्रभावित होता है। इस प्रक्रिया में विधाओं का स्वरूप बदलता है, विकसित होता है और कई बार विकृत भी होता है। अगर हम संगीत के विकास को ध्यान से देखें तो स्वीकार करने में बहुत कठिनाई नहीं होगी कि सांगीतिक-विधाएँ व्यापक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवहारों से अनेक स्तरों पर जुड़ी हुई होती हैं। यह सत्य है कि ठुमरी-गायन-शैली प्रारम्भ में इतनी लोकप्रिय नहीं थी जितनी कि आज है। प्रारम्भ में वेश्याओं द्वारा गाई जाने के कारण ख्याल-गायक इसे “बाई जी का गाना”, “छोटी-चीज़” कहते थे। किन्तु आज के युग में ठुमरी-गायन-शैली के प्रति बढ़ती हुई लोकाभिरुचि को देखते हुए प्रत्येक शास्त्रीय-संगीत-कलाकार अपने गायन का समापन ठुमरी से ही करता है। सच्चाई यह है कि सभी कलाएँ अपने-अपने ढँग से अपने समय की वास्तविकताओं से टकराती हैं। इस टकराहट में उस वास्तविकता के बोध, उसकी पुनर्रचना और अभिव्यक्ति की कोशिश होती है। इस प्रक्रिया

में कला-रूपों का विकास होता है। उस विकास पर वास्तविकता की छाप पड़ती है, जिससे कला रूपों का विचारधारात्मक स्वरूप बनता है।

सांगीतिक-विधाओं और रूपों के इतिहास का समाज के इतिहास से गहरा सम्बन्ध होता है। सांगीतिक-विधाओं के इतिहास में उनके उदय, परिवर्तन, विकास, हास, रूपान्तरण और पुनर्नवीनीकरण की व्यापक प्रक्रिया चलती है। कई बार दो विधाओं के मेल से एक नयी विधा विकसित होती है जैसे ख्याल-गायन-शैली, तो कई बार नये सामाजिक विकास के साथ एकदम नयी विधा का उदय होता है जैसे कव्वाली। कुछ विधाएँ लम्बी ऐतिहासिक प्रक्रिया में अनेक परिवर्तनों, और परिष्कारों के साथ जीवित रहती हैं, जैसे ख्याल-गायन-शैली। कभी-कभी एक विधा कुछ समय तक रचना-व्यवहार से अलग-थलग रहने के बाद पुनः सर्जनात्मक हो उठती है जैसे ध्रुपद-गायन-शैली। इस तरह विधाओं के जीवन में निरन्तरता और अंतराल की स्थितियाँ आती रहती हैं। संगीत की विधाओं और रूपों के इतिहास की यह जटिल समग्रता अनेक रूपों में समाज के इतिहास से प्रभावित होती है। समाज के इतिहास से सांगीतिक-विधाओं और रूपों के इतिहास के अनेक स्तरीय सम्बन्धों का विश्लेषण संगीत के समाजशास्त्र का महत्वपूर्ण पक्ष है।

समाज के इतिहास से सांगीतिक-रूपों का इतिहास अनेक स्तरों पर प्रभावित होता है, लेकिन उसे निर्धारण-वादी दृष्टि से देखना गलत है। इतिहास के इन दोनों रूपों और प्रक्रियाओं में परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, लेकिन संगीत की विकास-प्रक्रिया सामाजिक-विकास-प्रक्रिया के भीतर होते हुए भी उससे स्वतन्त्र भी होती है। ऐतिहासिकता सांगीतिक-विधाओं के स्वरूप की एक विशेषता है, लेकिन वही सब कुछ नहीं है। सांगीतिक-रूप विशेष ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भ से पैदा होने के बाद उस सन्दर्भ से मुक्त होकर अपनी स्वतन्त्र पहचान बना लेते हैं और भिन्न ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भों में भी जीवित ही नहीं सर्जनात्मक भी होते हैं। सांगीतिक-रूप सामाजिक-प्रक्रिया से अधिक सांस्कृतिक-प्रक्रिया से प्रभावित होते हैं। इनके साथ ही संगीत कलाकारों की सृजनशीलता की विशेष निर्णायक भूमिका होती है। इसलिए सांगीतिक-रूपों की ऐतिहासिकता के साथ उनकी वस्तुपरकता और समाज के इतिहास से उनके सम्बन्ध की पहचान जरूरी है। यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक अवस्था में उनके रूप की विशिष्टता पर ध्यान दिया जाये, जैसे—प्रारम्भ में ठुमरी-गायन-शैली एक नृत्यगीत भेद था। आरम्भिक समय में तवायफें नृत्य व अभिनय करते हुए एक प्रकार के नखरे के साथ ठुमरियों को प्रस्तुत करती थीं। उनकी इस प्रक्रिया को 'भाव बताना' कहा जाता था। परन्तु बाद में ख्याल-गायकों ने इसे नृत्य व अभिनय के बिना अपनाया। इसका कारण यह था कि प्रारम्भ में दरबारों के संरक्षण में ही ठुमरी-शैली को पनपने का अनुकूल वातावरण मिला। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि तत्कालीन दरबारी समाज से उत्पन्न होने के बाद उस सामाजिक सन्दर्भ से मुक्त होकर ठुमरी-गायन-शैली ने आज अपनी अलग पहचान बना ली है, और आज भिन्न ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भों में वह जीवित ही नहीं अपितु आधुनिक युग की सबसे लोकप्रिय-गायन-शैली बन गयी है।

सांगीतिक-रूपों की ऐतिहासिकता और समाज-सापेक्षता का सबसे प्रामाणिक रूप 'सामगान' के विकास और हास के इतिहास में मिलता है। 'सामगान' प्राचीनतम सांगीतिक-रूपों

में एक है और प्राचीनकाल का सबसे महत्वपूर्ण संगीत-रूप भी है। वैदिक कालीन इतिहास गवाह है कि सामगान का विकास समाज में उच्चवर्ग ने किया। इस काल में संगीत की बागडोर मुख्य रूप से ब्राह्मणों के हाथ में थी। सामगान का मूल रूप तब निर्मित हुआ था जब लेखन की संस्कृति का विकास नहीं हुआ था। तब साहित्य मौखिक ही था। इसलिए ऋचाओं का मूल रूप गेय था। ऋग्वेद की ऋचाओं को स्वरात्मक करके एक वेद का निर्माण कर उसे 'सामवेद' नाम दे दिया गया जो बाद में लिखित रूप में विकसित हुआ। मौखिक और गेय होने के कारण सामगान में विकास की सम्भावनाएँ थीं—इसलिए उसका वैदिक काल में प्रचुरमात्रा में विकास भी हुआ।

विचारणीय सवाल यह है कि वैदिक युग के अंत के साथ सामगान की सम्भावना क्यों समाप्त हो जाती है ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए यह देखना जरूरी होगा कि वैदिकयुगीन समाज की सामाजिक संरचनाओं, संस्थाओं, सम्बन्धों और विचारधारात्मक आधारों से सामगान का क्या सम्बन्ध था। वास्तविकता यही है कि वैदिक युगीन समाज की सामाजिक संरचनाओं, सम्बन्धों और विचारधारात्मक संघटनाओं पर ही सामगान की संरचना आधारित थी, इसीलिए उन आधारों के अंत के साथ सामगान की सम्भावना भी समाप्त हो गई। डॉ. शान्तिकुमार नानूराय व्यास ने वैदिक समाज के बारे में लिखा है कि "वैदिक आर्य मुख्यतः प्रकृति पूजक थे और उनके देव प्रकृति-जगत् के ही रूप-रूपान्तर हैं।" जाज्वल्यमान रश्मिवन्त सूर्य, रात्रि के समय मधुवर्षा करता हुआ सुखद-शीतल चन्द्रमा, यज्ञवेदी पर या पाकशाला में धधकती अग्नि, मेघों में से तीर की तरह निकल पड़ने वाली विद्युत्, दिन का स्वच्छ और चमकता हुआ अथवा रात का नक्षत्र मंडित आकाश, जिसका कोई पारावार नहीं, गरजता-बरसता तूफान और नदियों में प्रभावित होने वाली वेगवती जलधारा—प्रकृति की अचिन्त्य शक्ति के प्रतीक इन चेतन-रूपों में आर्यों की तेजस्वी और अस्पष्ट कल्पना ने देवत्व के दर्शन किये।

वैदिक समाज की यही विशेषताएँ उदात्त रूप में सामगान में व्यक्त हुई हैं। सामगान के मन्त्रों में अनेक देवताओं को प्राकृतिक जगत् के अधिष्ठाता मानकर उनका आवाहन एवं स्तवन किया गया है। कहना न होगा कि वैदिक युग के अंत के साथ उन समाजों के जीवन की इन विशेषताओं का भी अंत हुआ। लेकिन मानव-समाज और मानवीय-चेतना की निरन्तरता के अंग के रूप में इनमें से कुछ विशेषताएँ परिवर्तित रूप में परवर्ती समाजों में भी पायी जाती हैं, जैसे—आज भी यज्ञों के समय सामगान का उपयोग ही विशेष रूप से किया जाता है।

अतः संगीत-कला के कुछ रूप, जैसे—सामगान, गीतगान, प्रबन्धगान आदि अपने पुराने कालजयी और युगप्रवर्तक रूप में अब नहीं रचे जा सकते। सामगान की कल्पना के मूल में प्रकृति के सम्बन्ध में जो मनुष्य की धारणा है और सामाजिक सम्बन्धों का जो रूप है वह क्या आज के युग में सम्भव है ? जबकि सामगान संगीत कला का आधार है।

सांगीतिक रूपों की ऐतिहासिकता का एक प्रमाण संगीत में प्राप्त गाथा-गान में मिल सकता है। गायक अपने आश्रयदाता राजाओं के झूठे-सच्चे चरित्र का अतिरंजित चित्रण और वर्णन अपने गीतों में करता था। ऐसा संगीत केवल सामन्ती युग में प्राप्त होता है। आधुनिक काल में यह परम्परा समाप्त हो गई। भक्तिसंगीत में भी हमें कृष्ण तथा राम आदि देवताओं के

चरित्र का गायन मिलता है। परन्तु आधुनिक काल में आज की राजनीति के नायकों और समाज के छद्म देवताओं के बारे में कोई रचना करके उसका गायन करे तो वह ऐतिहासिक रूप से आधुनिक युग में जीते हुए भी मन से सामन्तीयुग का जीव है। सामन्ती समाज में प्रशस्तिगान के विकास से जाहिर है कि सांगीतिक-रूपों का स्वरूप ऐतिहासिक ही नहीं होता, उनके निर्माण में वर्गीय मूल्यों की भी भूमिका होती है। परिवेश और परिस्थितियों से संगीत का रूप भी प्रभावित होता है। इस प्रसंग में संगीत और संगीतकारों के आश्रय की स्थितियों की निर्णायक भूमिका रही है। सामन्ती समाज में दरबार और धार्मिक संस्थान कला के संरक्षक रहे हैं और कला को प्रभावित भी किया है। आधुनिक युग में संगीत-बाजार से संगीत का स्वरूप प्रभावित होना है।

सांगीतिक-रूपों की संरचनाओं के निर्माण में सामाजिक संरचनाओं, सम्बन्धों और जीवन-मूल्यों का स्पष्ट प्रभाव लोक-संगीत में दिखाई देता है। लोक-संगीत अन्य सांगीतिक-विधाओं की तुलना में अपने सामाजिक सन्दर्भ से अधिक गहराई से जुड़ा होता है, इसलिए उसमें सामाजिक सम्बन्धों की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है।

कुछ सांगीतिक-रूपों में उनका सामाजिक आधार छिपा हुआ होता है जिसे गहरे विश्लेषण से ही जाना जा सकता है, लेकिन कुछ का सामाजिक मूल बहुत स्पष्ट होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण चैती, होरी, कजरी आदि उपशास्त्रीय-गायन-शैलियाँ हैं। चैती एक मौसमी सांगीतिक-रूप है जो चैत के महीने में गाई जाती है। चैती लोक-संगीत का ही एक प्रकार और कृषि-युग की देन माना जाता है। होरी नामक गीत का उत्तर-भारत में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इन गीतों का सम्बन्ध होली पर्व से है, जो बसंत ऋतु के फाल्गुन मास में मनाया जाता है और इसका नामकरण भी इसी आधार पर हुआ है। होरी की भाँति ही कजरी भी लोक-संगीत की एक सुहावनी विधा है। वर्षा ऋतु के आने पर जन-समुदाय के मन में जिस नये उल्लास एवं उमंग का संचार होता है उसको अभिव्यक्त करने के लिए कजरी एक सशक्त माध्यम है। वर्तमान समय में चैती, कजरी तथा होरी आदि उपशास्त्रीय-गायन-प्रकारों के प्रति बढ़ती हुई लोकाभिरुचि को देखते हुए अनेक शास्त्रीय-गायकों ने इसे अपनाया है। सभी घरानों के गायकों द्वारा इन गायन-रूपों का गायन किया जाता है। गायकों की इस प्रवृत्ति से यह प्रमाणित होता है कि कैसे कोई सांगीतिक-रूप अपने ऐतिहासिक-सामाजिक मूल से स्वतन्त्र होकर परवर्ती काल और समाज में अपने परिष्कारों से गुजरता हुआ नये कलात्मक सृजन का माध्यम बनता है।

कभी-कभी संगीत-रूपों का अस्तित्व और उनका स्वरूप एक युग की सांस्कृतिक चेतना के स्वरूप से जुड़ा दिखाई देता है, जैसे—देश-भक्ति गीत। संगीत की यह विधा पुनर्जागरणकालीन सांस्कृतिक चेतना की देन है।

सामाजिक-विकास से संगीत-रूप के विकास के स्पष्ट सम्बन्ध का सबसे बड़ा प्रमाण है आधुनिक युग में लोकप्रिय फिल्म-संगीत का उदय। जैसे सामगान वैदिक कालीन समाज का प्रतिनिधि संगीत-रूप है उसी प्रकार फिल्म-संगीत पूँजीवादी युग का प्रतिनिधि सांगीतिक-रूप है। हेगले की मान्यता है कि प्रत्येक युग की विशिष्ट मानसिकता होती है, एक विशिष्ट विश्वदृष्टि होती है और उस मानसिकता तथा विश्व-दृष्टि के अनुरूप कला-रूप का भी विकास होता है। जैसे, आज का लोकप्रिय फिल्म-संगीत वैज्ञानिक युग का संगीत है, जिसका बड़े पैमाने पर

रिकॉर्डिंग के माध्यम से व्यावसायिक उत्पादन होता है। वह पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की दूसरी वस्तुओं की तरह उत्पादित होकर बाजार के माध्यम से खरीद-बिक्री की वस्तु की तरह जनता तक पहुँचता है। वस्तुतः वह संगीत, संगीत से जीविका चलाने वाले गायकों की मदद से बड़ी-बड़ी रिकॉर्डिंग कम्पनियों द्वारा उत्पादित संगीत है जिसे उपभोग की दूसरी वस्तुओं की तरह जन-श्रोताओं तक पहुँचाया जाता है। पूँजीवादी युग का लोकप्रिय संगीत आर्थिक उद्देश्य से गाया गया संगीत है जिसका मूल्य बाजार में तय होता है। इन वैचारिक और भौतिक आधारों के अभाव में फिल्मी-संगीत अस्तित्व में नहीं आ पाता। इन आधारों के कारण फिल्मी-संगीत का उदय हुआ, फिर उसके रूप में अपार विविधता आई और आज वह आधुनिक युग का प्रतिनिधि सांगीतिक-रूप बन गया है।

सांगीतिक-विधा की सामाजिकता का एक पक्ष यह भी है कि वह कलाकार और श्रोता के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाती है। शास्त्रीय-संगीत, लोक-संगीत, सुगम-संगीत तथा लोकप्रिय-संगीत का कलाकार यह जानता है कि इन विधाओं के बुनियादी रूप से श्रोता परिचित हैं। संगीत-कलाकार यह भी जानता है कि एक संगीत-श्रोता शास्त्रीय-संगीत से जो उम्मीद करता है वह फिल्मी-संगीत से नहीं करता। हर संगीत-विधा से श्रोता की माँग अलग-अलग होती है। विधाओं के स्वरूप से श्रोताओं की आकांक्षा जुड़ी होती है। उस आकांक्षा की पहचान के अभाव में कलाकार और श्रोता के बीच सम्बन्ध का एक आधार समाप्त हो जाता है। संगीत-कलाकार गायन प्रस्तुत करते समय अपनी संगीत-विधा से जुड़ी श्रोता की आकांक्षाओं का ध्यान रखता है जैसे ध्रुपद-गायन-शैली में आलाप तथा लयकारी का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्रुपद-गायन-शैली के इस महत्वपूर्ण अंग का प्रदर्शन गायक अपनी गायन-प्रस्तुति में अवश्य करेगा। क्योंकि ध्रुपद-गायकी का श्रोता ध्रुपद-गायक से यही आकांक्षा रखता है। कोई भी कलाकार अपनी गायन-प्रस्तुति में ख्याल-बंदिश के स्थान पर फिल्मी-गीत तथा फिल्मी-गीत के स्थान पर ख्याल-बंदिश श्रोताओं को नहीं सुना सकता। अतः सांगीतिक-विधा एक संगीत-कलाकार और उसके श्रोता के बीच समझौता या अनुबन्ध की तरह होती है। विधा के स्वरूप से जुड़ी मान्यताएँ उस संगीत-रूप के बोध में सहायक संकेतों की तरह काम करती हैं। लेकिन महान् कलाकार संगीत-विधाओं से जुड़ी मान्यताओं और संकेतों को बदलते रहते हैं। इन सांगीतिक-विधाओं को हम सामाजिक संस्थाएँ भी कह सकते हैं क्योंकि दूसरी सामाजिक संस्थाओं की तरह इन सांगीतिक संस्थाओं में भी परिवर्तन और विकास होता है। ये संस्थाएँ कलाकार और श्रोता को प्रभावित करती हैं और उनसे प्रभावित भी होती हैं।

सांगीतिक-विधाओं का प्रयोजन है—सौन्दर्यबोध। वे कलाकार, श्रोता और संगीत-समीक्षक के बीच क्रियाशील होती हैं। जो श्रोता शास्त्रीय-संगीत तथा सुगम-संगीत का अन्तर नहीं जानता वह छोटे ख्याल की बंदिश तथा भजन में कैसे अन्तर कर पायेगा तथा उसके सौन्दर्यबोध से भी वंचित रहेगा।

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि संगीत में समाज की खोज और पहचान की एक राह विधा भी है।

लोक-संगीत का समाजशास्त्र

लोक-संगीत के समाजशास्त्र की दिशा में आगे बढ़ने से पहले यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि लोक-कला क्या है तथा उसका समाज से क्या सम्बन्ध है ?

कला का लोकपक्ष शास्त्रविहीन है तथा लोक-कला का मनुष्य की जिन्दगी से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। लोक-कला किसी एक व्यक्ति की उपज नहीं है। प्रकृति और समाज के साथ मनुष्य के निरन्तर संघर्ष-क्रम में जिस प्रकार भाषा का रूप स्वयं निर्धारित होता रहता है, ठीक उसी प्रकार लोक-कला भी मनुष्य की सामाजिक व आर्थिक आवश्यकताओं के बीच अपनी प्राण-प्रतिष्ठा का संचरण करती रहती है।

मानव-समाज के आदिम-युग में जब सम्पत्ति का बँटवारा ही सम्भव नहीं था, समाज की प्रत्येक वस्तु पर जब सामूहिक अधिकार के सिवाय कोई चारा ही नहीं था, तब एक ही समाज के भीतर दो वर्गों का अस्तित्व भी कैसे सम्भव होता ? इसलिए आदिम-समाज की सम्पूर्ण कला ही लोक-कला थी। कला की आदिम-समाज में सामूहिक आवश्यकता थी। सामूहिक आवश्यकता के अनुरूप उनका रूप भी पूर्णतया सामूहिक ही था। पर समाज अपनी उसी आदिम स्थिति पर ही हमेशा के लिए स्थिर नहीं रह सका। अनुभव और संघर्ष के दौरान में मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ीं। बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन लाजमी होता गया। उत्पादन-प्रणाली के बदल जाने पर समाज के बीच मनुष्यों के उत्पादन-सम्बन्ध भी अपना रूप बदलते रहे। और इस परिवर्तन के क्रम में आखिर एक ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गई कि समाज को दो वर्गों में विभाजित होना पड़ा। समाज की वह आदिम एकरूपता नष्ट हो गई। समाज के बँट जाने पर कला का वह सामूहिक लोक-रूप भी अपने-अपने वर्गों के स्वार्थ और उनकी आकांक्षाओं के अनुरूप खण्डित हो गया। उत्पादन-कार्य में जुटे रहने के कारण दास-वर्ग की कला का अधारभूत-गुण तो वही रहा, पर उसकी सामूहिकता का क्षेत्र अवश्य कुछ सीमित हो गया। उधर प्रभु-वर्ग में कला की परिधि क्रमशः सिमटती ही गई, और उसके साथ उसका आदिम स्वभाव भी बदलता गया। उत्पादन-कार्यों के लिए अपेक्षित श्रम से सर्वथा अलग हट जाने के कारण उसकी कला का सहज रूप नष्ट होता गया। प्रभु-वर्ग की कला में क्रमशः कृत्रिमता का प्रवेश होता रहा, क्योंकि उसके लिए कला जीवन की आवश्यकताओं से उत्पन्न अनिवार्य परिणाम नहीं रह कर, विलासिता और मनोरंजन का साधनमात्र ही रह गयी थी। परिवर्तन

के इस विकास-चक्र में भाषा का वांछित परिवर्तन तो अवश्य होता रहा पर लोक-कला की तरह उसकी एकरूपता में किसी भी प्रकार का दखल सम्भव नहीं हो सका। क्योंकि वर्ग-समाज में पारस्परिक सम्बन्धों के बदल जाने पर भी शोषक और शोषित के बीच में वर्ग-सम्बन्ध तो बना ही रहता है, इसलिये वर्ग-विभाजित समाज में भाषा की एकरूपता खण्डित नहीं हो पाती। उसके स्वरूप में निरन्तर विकास और नित्य नयी आवश्यकता के कारण उसके शब्दों में निरन्तर वृद्धि होने पर भी उसकी एकरूपता तो सर्वदा अक्षुण्ण बनी रहती है।

संगीत-कला में मानवीय वाणी से मुखरित होता है लोक-साहित्य, जिसने सबसे पहले मनुष्य के गले में ही जन्म लिया था और आज दिन तक वह उसी ताजगी के साथ मनुष्य के गले में ही जिन्दा है। “अपनी माँ-धरती की गोद में, अपनी जीवन-संगिनी और अपने साथियों के साथ मनुष्य ने समाज के बीच रहते हुए युग के युग बिता दिये, पीढ़ियों पर पीढ़ियाँ मिटती गईं पर मानवीय वाणी का अमूल्य और जीवन्त खजाना आने वाली पीढ़ी के गले में अब भी अक्षुण्ण रूप में सुरक्षित चला आ रहा है।”¹

लोक-कला का निर्माण करने वाले लोकजीवन का हर पहलू उसकी अपनी जिन्दगी की आवश्यकता से उत्पन्न हुआ है। लोक-कला एक सामाजिक यथार्थ को अपने संकेत द्वारा व्यक्त करती है। लोक-कला में समाज का कोई न कोई महत्त्वपूर्ण सत्य व्यंजित होता है।

लोक-कला में किसी एक व्यक्ति मात्र की ही आवश्यकता व्यंजित नहीं होती, बल्कि सारे समाज की आवश्यकता मुखरित होती है। इसलिए लोक-कला में उसकी सामाजिक विषय-वस्तु ही को सर्वाधिक महत्ता देनी चाहिये। लोक-जीवन का सीधा सम्बन्ध रहता है दो जगह से—एक प्रकृति, दूसरा समाज। इसलिए लोक-कला में भी ये दोनों वास्तविकताएँ अपने सहज रूप में निहित रहती हैं। पर जनजीवन में केवल भौतिक संसार की विभूतियों को ही पैदा करने की शक्ति नहीं होती। वह आध्यात्मिक विभूतियों को भी जन्म देती है। आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर अपने जीवन के शैशव काल में खाली हाथों ही प्रकृति से लड़ते हुए भय, आश्चर्य और उल्लास से भरकर उसने धर्म को जन्म दिया। यही धर्म उसका काव्य था और इसी में समाहित था—प्रकृति-शक्ति-सम्बन्धी उसका सारा अनुभव, जो बाहर की विरोधी शक्तियों से संघर्ष के द्वारा उसे प्राप्त हुआ था। प्रकृति पर अपनी प्रथम विजय से लोक जब स्वाभिमानी हुआ, उसे अपनी शक्ति का आभास मिला, तदन्तर नई विजय की लालसा पैदा हुई। इसीने फिर उसे वीर-गाथा की सृष्टि के लिए बाध्य किया, जो कि उसके निजी ज्ञान और नीतियों का एक संग्रह बन गया। कालान्तर में दन्तकथा और वीरगाथा मिलकर एक हो गई, क्योंकि जनता ने वीरनायक को अपना सामूहिक ज्ञान देकर कभी उसे देवताओं के समकक्ष और कभी उसके विरोध में खड़ा किया। दन्तकथा और वीरगाथा में, हमें किसी अकेले व्यक्ति के विचार नहीं, बल्कि समस्त जनता की सामूहिक रचना का आभास मिलता है।

लोक-कलाओं में लोक-समाज की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का आत्म-प्रकाश आलोकित रहता है। उस पर किसी के भी बन्धन या अंकुश का जोर नहीं रहता। इसलिए उसमें जन-जीवन

का इतिहास अधिक स्पष्ट, सीधा, निर्विकार और विशुद्ध बना रहता है। इसी सहज और सुगम पथ से प्राचीन समाज तक पहुँचने में उतनी कठिनाई नहीं होती। जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—

“लोकगीतों की सहायता से हम एक पुराने संसार को प्राप्त कर लेंगे जिसे या तो हम भूल चुके हैं या जिसे गलत समझ बैठे हैं। राजनैतिक रूप से तो आर्य लोगों ने हिन्दुस्तान को जीत लिया था, पर उस सभ्यता को जो पहले से यहाँ मौजूद थी और विशाल देश के हर भाग में जरा-जरा फर्क के साथ-साथ साँस ले रही थी, आर्य लोग पराजित न कर सके थे।...आज भी हमारे जन-साधारण के रस्म-रिवाजों में आर्यों से पहले की उस सभ्यता की कुछ न कुछ झलक पाई जाती है। प्राचीन लोकगीत उस सभ्यता पर प्रकाश डाल सकते हैं। पुरातत्व विभाग वालों को यह बात बुरी न लगे तो मैं कहूँगा कि प्राचीन लोकगीतों का महत्व मोहनजोदड़ो सरीखे खण्डहरों से कहीं अधिक है।”

वास्तव में कोई भी कला अपने समाज का प्रतिरूप है, जो स्वयं तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति से प्रभावित होता है। अतः लोक-कला समाज से उत्पन्न होती है जिस प्रकार मोती एक सीप से उत्पन्न होता है।

लोक-संगीत—लोक-संगीत किसी भी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। लोक-संगीत का जन्म व्यक्ति के नैतिक मूल्यों, सामाजिक-उत्सव-त्यौहारों, रीति-रिवाजों एवं सामूहिक कार्यों द्वारा हुआ है। यह मानव मन की अनुभूतियों की सरल, निर्दोष, उन्मुक्त, स्वच्छन्द और सहज अभिव्यक्ति है। यह वस्तुतः जनसामान्य में प्रचलित संगीत है जो परम्परागत रूप से चलता रहता है। “लोक-संगीत तो गीत का वह प्रकार है जिसको किसी व्यक्ति से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। वह लोकमानस से तादात्म्य रखता है और ऐसी व्यक्तिहीन रचना करता है कि समस्त लोक का व्यक्तित्व उसमें उभरता है और लोक उसे अपनी चीज कहने लगता है। वह परम्परा में आ जाता है। समय-समय पर उसमें अनुकूल परिवर्तन होते रहते हैं। उसका दावेदार कोई एक आदमी नहीं होता।”

“विश्वभारती शान्ति-निकेतन” के उड़िया विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ. कुंज बिहारी दास ने लोकगीतों की परिभाषा बताते हुए लिखा है—“लोक-संगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर, कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं। यह साहित्य प्रायः मौखिक होता है और परम्परागत रूप से चला आ रहा है।”

इस प्रकार लोक-संगीत की सृजन-प्रक्रिया सहज, स्वाभाविक एवं स्वयं-स्फूर्त होती है। स्वच्छन्द भावनाओं की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति लोक-संगीत की प्राथमिक विशेषता है। लोकगीतों को आशुरचना कहा जा सकता है। मुख से जब कोई स्वर-लहरी फूट पड़ी तो वह गीत बन गई। लोकगीतों में हृदय-पक्ष प्रधान होता है, यह शास्त्रीयता की परिधि से दूर होते हैं।

लोक-संगीत समाज की एक सहज आवश्यकता है। इसकी उद्भावना जन-समूह में प्रचलित औसत संगीतात्मक धुनों पर होती है। अपनी विविधता और नवीन संदर्भों की कल्पना

का बीज प्रचलित स्वरूपों में अविच्छिन्न रूप से विद्यमान रहता है। यह सही है कि उस बीज को कलात्मक रूप में कोई न कोई व्यक्ति ही पुष्पित करता है, किन्तु वह व्यक्ति कलात्मक सृजन में अत्यन्त गौण रहता है। इतिहास में इस सर्जक का नाम जीवित नहीं रहता। क्योंकि जिस समय अथवा अवसर पर नवीन सांगीतिक उद्भावना व्यक्त होती है, उस समय एक ओर तो कोई सामाजिक कार्य-व्यापार इतना हावी होता है कि आसानी से सृजनशील प्रतिभा का अनुमान नहीं रहता तथा दूसरी ओर यह नवीन उद्भावना अपनी परम्परा से इस प्रकार गुँथी हुई होती है कि सामाजिक व्यक्ति नवीन सृजन को अलग से परख नहीं पाता। लोक-संगीत तो सहज, स्वाभाविक, अचेतन और प्रवृत्तिमय सृजन-क्रिया है, इसलिए उसे पहिचानना सम्भव नहीं होता।

लोक-संगीत के कुछ अध्येता यह स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं कि लोकगीतों में अनेक राग-रागिनियों की छाया है अथवा इनका शुद्ध या छाया स्वरूप इन गीतों में है, यह एक गम्भीर और ऐतिहासिक भूल है। यह सही है कि लोक-संगीत की धुन में प्रयुक्त स्वरावली का ज्यों-का-त्यों प्रयोग किन्हीं-किन्हीं रागों में किया जाता है, किन्तु मात्र स्वरावली के प्रयोग से न उसे राग कहा जा सकता और न शास्त्रीय-संगीत ही।

लोक-संगीत में लय की अत्यन्त सहज प्रकृति का प्राधान्य है। यहाँ लय का तालात्मक शास्त्रीय-विधान नहीं होता। लोक-संगीत में लयात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिए ढोल, ढोलक, मादल, चंग, डफ, नगारा आदि अनेक प्रकार के अवनद्ध वाद्य और मंजीरा, तालझाँझ, चीपिया, रायगिङ्गिड़ी कठताल जैसे घनवाद्य हैं। इनमें से अवनद्ध वाद्य लोक-संगीत में लय की वृत्ति को विशिष्ट मात्राओं के रूप में व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं और घनवाद्य केवल गति को व्यंजित करते हैं। सामूहिक गीतों में स्वरों की सहजता रहती है और केवल तीन या पाँच स्वरों के ही उतार-चढ़ाव में होने के कारण सम्पूर्ण समुदाय सुविधा से गा सकता है।

लोक-संगीत सहज-साधना, प्रचलित-भावधारा और सामाजिक-जीवन में व्यक्त गीत-परम्परा का सौन्दर्यात्मक प्रयोग है।

लोक-संगीत का सामाजिक रूप-पक्ष

लोक-संगीत का एक विशेष सामाजिक रूप है। यह हमारे सामाजिक सम्बन्धों का संगीतमय इतिहास है। इस इतिहास में हमारी पीढ़ियों के मानवीय-सम्बन्ध, रीति-रिवाज, विश्वास व धारणाएँ, जीवन के मार्मिक अनुभव, प्रेम की मधुर कल्पना और समाज को एकसूत्र में पिरोने की लालसा का भावनात्मक प्रतिफलन रहता है। इसीलिए लोक-संगीत के समाजशास्त्र में इसके विभिन्न रूपों के सामाजिक ऐतिहासिक अस्तित्व का विवेचन होना चाहिए, उसकी अन्तर्वस्तु के सामाजिक अभिप्रायों की खोज होनी चाहिये। अब हम यहाँ लोक-संगीत के सामाजिक रूप-पक्ष का विश्लेषण करेंगे—

1. लोकगीतों में परिवार—परिवार हमारे सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। परिवार मानव-समाज के संगठन की प्राथमिक इकाई है। अगर कोई सामाजिक संगठन, संरचना, व्यवस्था, कार्य आदि को समझना चाहता है तो परिवार को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझना अत्यावश्यक है। अनेक समाजों की सामाजिक संरचना की मूल इकाई परिवार है।

आखेटक समाज, चरागाही समाज, गिरिजन समाज, आदिम समाज और ग्रामीण समाज की सामाजिक संरचना की मूलभूत इकाई परिवार होता है।

अंग्रेजी के शब्द 'Family' का हिन्दी रूपान्तर 'परिवार' है। यह शब्द मिडिल इंग्लिश के शब्द "Familie" से बना है जिसका उद्गम लैटिन शब्द 'Familia' से हुआ है। परिवार के कई अर्थ लगाए जाते हैं। परिवार से अर्थ माता-पिता और उनकी सन्तानें जो एक स्थान पर अथवा अलग रहते हों, से है। एक पुरुष की पत्नी और सन्तानें परिवार कहलाता है। व्यक्तियों का समूह जो रक्त से सम्बन्धित हो, जैसे—माता-पिता, सन्तानें, चाचा, मौसी, बुआ तथा चचेरे, ममेरे, मौसरे, फूफेरे भाई-बहिन परिवार में आते हैं। ये परिवार के सामान्य अर्थ हैं। समाजशास्त्र में परिवार अवधारणा का विशिष्ट सुनिश्चित और सीमित अर्थ लगाया जाता है। परिवार की विभिन्न विद्वानों की परिभाषायें निम्नलिखित हैं—

मैकाइवर और पेज की परिभाषा—“परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।”

आपने परिभाषा में तीन लक्षण बताए हैं—

1. परिवार यौन-सम्बन्ध पर आधारित समूह है,
2. बच्चों का जन्म, तथा
3. बच्चों का पालन-पोषण।

परिवार इन लक्षणों के अतिरिक्त और बहुत कुछ है, जैसे—आवास, उत्तरदायित्व, स्नेह, कर्तव्य आदि।

आगबर्न तथा निमकॉफ की परिभाषा—“बच्चों सहित अथवा बच्चों रहित एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही बच्चे सहित एक थोड़े-बहुत स्थायी संग को परिवार कहते हैं।” इन्होंने एक और सरल तथा विस्तृत परिभाषा दी है। यह है—“परिवार लगभग एक स्थायी समिति है जो पति-पत्नी से निर्मित होती है। चाहे उनके सन्तान हो या नहीं हो। परिवार किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले का भी हो सकता है बशर्ते कि उसके अपने बच्चे साथ हों।”

किंग्सले डेविस की परिभाषा—“परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो एक-दूसरे के प्रति सगोत्रता (रक्त) के सम्बन्ध रखते हैं तथा इस प्रकार एक-दूसरे के रक्त-सम्बन्धी होते हैं।”

डी.एन. मजूमदार की परिभाषा—“परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, जो रक्त-सम्बन्धी सूत्रों से सम्बद्ध रहते हैं तथा स्थान, हित तथा पारस्परिक कृतज्ञता के आधार पर समान होने की भावना रखते हैं।”

लूसी मेयर की परिभाषा—“परिवार एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता-पिता और सन्तान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पति और उसकी सन्तान रहती है।”

श्यामचरण दुबे की परिभाषा—“परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त होती है, उनमें से कम-से-कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।”

उपर्युक्त परिवार की परिभाषायें विभिन्न समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई हैं। इन सभी परिभाषाओं का निष्कर्ष यह है कि—

1. परिवार एक समूह है (Family is a Group) — सभी समाजशास्त्रियों ने परिवारों को एक समूह बताया है जिसके सदस्य बन्धुत्व-सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं।

2. सम्बन्ध मान्यता प्राप्त होते हैं (Relations are sanctioned by the Society) — परिवार के सदस्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाह, रक्त और गोद सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं।

3. विवाह सम्बन्ध (Affinal Relation) — परिवार में पति-पत्नी के सम्बन्ध विवाह द्वारा स्थापित होते हैं। स्त्री-पुरुष समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाह के विधि-विधानों से परिवार का निर्माण करते हैं।

4. रक्त सम्बन्ध (Consanguineous Relation) — परिवार में अनेक रक्त-सम्बन्धी होते हैं। परन्तु इन रक्त-सम्बन्धियों का सम्बन्ध समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होना भी अति आवश्यक है, जैसे—अवैध सन्तान रक्त-सम्बन्धी होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से कानूनी नहीं होती।

5. गोद सम्बन्ध (Relation based on Adoption) — समाज में गोद लेने की व्यवस्था भी होती है। जब किसी दम्पति के सन्तान पैदा नहीं होती तो वह किसी अन्य दम्पति की सन्तान समाज द्वारा निर्धारित रीति-रिवाजों के अनुसार गोद ले लेते हैं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार व्यक्तियों का समूह है जो विशिष्ट बन्धुत्व सम्बन्धों (विवाह, रक्त और गोद) से सम्बन्धित होते हैं, जो समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त होते हैं। सदस्यों में परस्पर यौन सम्बन्धों की व्यवस्था, प्रजनन, सामाजीकरण, सामाजिक नियन्त्रण, कर्तव्य और अधिकार भावना एवं सत्ता के प्रतिमान आदि से सम्बन्धित सम्बद्धता होती है।

अतः परिवार हमारे सामाजिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। परिवार में पति-पत्नी का सम्बन्ध विवाह द्वारा स्थापित होता है। लोकगीतों के मुख्य विषयों में पति-पत्नी के कोमलतम और स्नेहपूर्ण सूक्ष्म सम्बन्ध भी हैं। इन गीतों में वस्तुतः उन भावनाओं का काव्यात्मक और संगीतात्मक उल्लेख रहता है जो मनुष्य के एकनिष्ठ प्रेम को औसत रूप से स्वीकार करते हैं। लोकगीतों में विशिष्ट समुदाय की संस्कार-जनित औसत धारणाओं का भावनात्मक व्यक्तिकरण रहता है। अतः जहाँ इन गीतों में एक ओर भावना-प्रबलता एवं कलात्मकता (काव्य और संगीत) रहती है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक चेतना तथा आवश्यकता (समाजशास्त्र) की जिम्मेदारी भी रहती है। लोकगीत, इसलिए कर्तव्य और उपयोगिता की कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। यहाँ इतना कह देना अनुचित नहीं होगा कि लोकगीतों ने एकपत्नीनिष्ठता को स्वीकार करते हुए भी, जड़-रूढ़िवादिता को कहीं प्रश्रय नहीं दिया। लोकगीतों ने वैवाहिक सम्बन्धों की पवित्रता के साथ ही साथ प्रेम की धर्म निरपेक्ष और वैयक्तिक आकांक्षाओं के स्वरूप को ही सराहा है।

लोकगीतों में पति-पत्नी के सम्बन्धों को लेकर अतुलनीय, अलौकिक और अनोखा साहित्य रचा गया है। लोकगीतों में विवाह के पूर्व पति-कामना से लेकर विवाह, विवाह के पश्चात् सीख, सीख के साथ कन्या का पीहर और ससुराल के बीच मोह, विवाह की स्मृति, सहेलियों की चुहलबाजी, पति से रूठना और पति को मनाना, पुत्रोत्पत्ति की कामना, पति के एकान्तिक विरह में कृशकाय हो जाना आदि अनेक मार्मिक विषय चुने गये हैं। पति-पत्नी के पारिवारिक स्थूल सम्बन्धों के बीच में प्रेम की जो लौ जलती है—उसके प्रत्येक मनोहर कण को लोकगीतों ने पहिचानने की कोशिश की है।

हमारे जीवन में विवाह जितना स्वाभाविक है, ठीक उतना ही स्वाभाविक विवाह के बाद अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को निभाने के लिए नौकरी के लिए जाना रहता है। नौकरी नहीं भी हो तो पत्नी से अलग होने का कोई-न-कोई अवसर तो होता ही है। उस छोटे-से विरह में मन की आकुलता को किसने अनुभव नहीं किया होगा ? अर्थात् विरह के कुछ क्षण और उसके उत्पात के अनुभव से कोई वंचित नहीं रह सकता। मनुष्य की यह औसत ही नहीं; सार्वजनीन भावना मानी जा सकती है। इसलिए लोकगीतों का तो यह मुख्य विषय होना ही चाहिए। सभी जगह के लोकगीतों में ऐसे सैकड़ों गीत मिल जाते हैं।

लोकगीतों ने दाम्पत्य सुख और पारिवारिक आह्लाद के विषय में मौलिक प्रयोग भी किये हैं। लोकगीतों ने विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं में इन भावनाओं का आरोपण किया और फिर उन वस्तुओं के विकास, फलने-फूलने में अपनी सारी भावनाओं को व्यक्त कर दिया। दाम्पत्य सुख के प्रतीकों में हमारे यहाँ मुख्यतया कुछ वृक्षों को लिया गया है। ये वृक्ष खूब हरे-भरे दिखने वाले होते हैं। इनकी उपयोगिता भी कम नहीं होती। घने पत्ते, घनी छाया, सुन्दर रंग और खूब फलने वाले वृक्षों को परिवार का प्रतीक माना गया है।

‘एकनिष्ठता’ में जीवन भर एक स्त्री-पुरुष को परस्पर आकर्षण बनाये रखना होता है। अतः अपने वैवाहिक प्रारम्भिक जीवन में अवश्य ही स्त्री के सौन्दर्य और पुरुष की पौरुष शक्ति का भी महत्त्व है। लोकगीतों में दोनों सुन्दरताओं का वर्णन हुआ है। लेकिन वस्तुतः केवल शारीरिक सौन्दर्य ही ‘एकनिष्ठता’ को बनाये रखने में सहायक नहीं हो सकता। एकनिष्ठता एक सामाजिक कर्तव्य और जिम्मेदारी है। उसके पीछे एक ‘ठेके’ या ‘व्यापार’ की भावना न होकर एक पवित्र सम्बन्ध की कल्पना मनुष्य-समाज ने बनाई है। इसलिए लोकगीतों में जब कभी विवाह और उसके मनोहर सम्बन्धों का चित्रण होगा तो संस्कारों की पवित्रता और प्रांजलता पर ही विशेष जोर दिया जायेगा। सारे जीवन भर एक स्त्री का एक ही पुरुष से सन्तोष हो जाना और एक पुरुष का एक ही स्त्री से प्रेम बना रहना कितना असम्भव है। क्योंकि ‘विविधताप्रिय’ मानव-प्रकृति उच्छृंखलता को जगह दे ही देती है। लेकिन यह सभी का अनुभव है कि उच्छृंखलता और अराजकता अपना साम्राज्य समाज पर फैला नहीं सकती। वह कितनी ही ताकतवर क्यों न बनने लगे, उससे अधिक ताकतवर तो समाज का सन्तुलित व्यवहार बना ही रहता है, वरना समाज के आगे पूर्णविराम ही आ गया होता। ‘सद्’ का प्रतिशत कम होने पर भी अन्त में ‘असद्’ पर उसकी विजय होती ही है। और इस ‘सद्’ की जीत ही समाज का विकास है। निःसन्देह हमारे

इन 'सद्' संस्कारों के निर्माण में लोकगीतों ने अपना योग दिया है। ये लोकगीत हमारे लोक-मानस के अचेतन संस्कारों के निर्माता हैं।

पारिवारिक सुख का चित्रण भी लोकगीतों में मिलता है। ससुराल के सभी सम्बन्धों का प्रकाशन लोकगीतों में मिलता है। 'वधू' परिवार का केन्द्र है, क्योंकि उसका पति ही परिवार की जिम्मेदारी को निभाने वाला है। घर में सुखी और भला वातावरण बनाये रखने का जिम्मा केवल वधू का है। यदि 'वधू' का स्वभाव बुरा हुआ तो वह सारे परिवार को तबाह कर देती है। इसीलिए परिवार की सुख-समृद्धि को अच्छा बनाती है तो यह 'वधू' और यदि सुख-समृद्धि में आग लगाती है तो भी यह 'वधू'। इसलिये यदि किसी को भी परिवार में सबसे अधिक सन्तुलन की जरूरत होती है तो इसी 'वधू' को। उसके सम्बन्ध ही परिवार के मुख्य सम्बन्ध बन जाते हैं। 'वधू' तो वधू है ही, उसकी सास भी किसी की 'वधू' है, उसकी ननद भी किसी की 'वधू' है, इसी प्रकार जेठानी, देवरानी भी। इसलिए यह 'वधुओं' का समूह ही परिवार की नींव तक पहुँचता है। लोकगीतों में 'वधू' का सम्बन्ध अपने अन्य रिश्तेदारों से कैसा होता है या होना चाहिये, उसका वर्णन है। परिवार में देवर से भाभी के सम्बन्ध भी बहुत मधुर होते हैं, इसलिए लोकगीतों में 'वधू' से चुहलबाजी करने का अधिकार देवर को मिलता है। पति की बहिन ननद से नववधू को ससुराल में पहुँचते ही सबसे अधिक सहानुभूति, शान्ति और स्नेह मिलता है। लोकगीतों में भी यही भाव चित्रित है।

किन्तु लोकगीतों की यह पुण्य और पवित्र धारा तो एक आदर्श है, एक लक्ष्य है जिसे हर साधारण परिवार निभाने की कोशिश करता है जो न सहज है, न सरल है और न सीधा है। कहना आसान है कि 'वधू' को अच्छा होना चाहिये। घर को प्यार करना चाहिये। लेकिन व्यावहारिक सच्चाई शायद ऐसी नहीं हो सकती। लोकगीतों ने मनुष्य की इस दुर्बलता से भी आँख नहीं मूँदी है। जहाँ लोकगीतों ने जीवन को सकारात्मक तथ्यों से अलंकृत किया है, वहाँ जीवन के इन नकारात्मक पक्षों को भी अवश्य चुना है। किन्तु नकारात्मक परिस्थितियों का चुनाव सफल चित्रण इस नीयत से नहीं किया है कि जिससे परिवार 'नकार' की स्थिति में पड़कर टूटने लगे। वहाँ 'नकार' वर्णन भी 'सकार' का मण्डन करने के लिए हुआ है। जैसे सास और बहू की कलह को लेकर तथा भाभी और ननद के रिश्ते को लेकर।

इसी प्रकार लोकगीतों में ससुराल की विभिन्न परिस्थितियों के बीच से लोकगीतकारों ने मार्मिक स्थलों को चुना और सुन्दर भावाभिव्यंजना उसे प्रदान की। परिवार को संगठित और मजबूत इकाई बनाए रखने में लोकगीतों का अपना महत्व, अपना योग और अपना उपयोग रहा है।

समाज की इकाई व्यक्ति नहीं परिवार है और परिवार का प्रत्येक सदस्य कितने ही सम्बन्धों का केन्द्र होता है। किसी भी व्यक्ति या सदस्य को केन्द्र मानकर सारे परिवार की स्थिति को, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को समझा जा सकता है। लोकगीतों में मुख्यतः 'स्त्री' को ही केन्द्र समझकर उसको 'पीहर' की परिस्थितियों में तथा ससुराल की परिस्थितियों में रखा गया है, जिससे कि सभी पारिवारिक सम्बन्धों पर लोकगीतों की मान्यताएँ स्पष्ट हो सकें। इन पारिवारिक 'सम्बन्धों' के पीछे समाज के विकास का, देश की परिस्थितियों का, आर्थिक मान्यताओं का,

नैतिक एवं वैधानिक धारणाओं का जाल-सा बिछा रहता है। अतः यदि हम लोकगीतों का अध्ययन, परिवार के इन जटिल सम्बन्धों के आधार पर करें तो पता चलेगा कि वस्तुतः सामाजिक, नैतिक एवं वैधानिक मान्यताओं को लोकगीतों ने सरल और सहज भाव से अभिव्यक्त करने की कोशिश की है। यही इन गीतों का प्रयोजन है, उद्देश्य है और महत्त्व है।

एक 'स्त्री' के पीहर सम्बन्धी मुख्य रिश्ते—पिता, माता, बड़ा भाई, बड़ी बहिन, छोटी बहिन, भाभी, भतीजे, भानजे आदि होते हैं। लोकगीतों में इन्हीं सब सम्बन्धों के बीच के स्नेह भाव को व्यक्त किया गया है। 'भावों' को व्यक्त करने के लिए कुछ विशिष्ट मार्मिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि से लोकगीतों ने बहुत लाभ उठाया है।

सामाजिक जीवन के विकास-क्रम के अनुरूप, पारिवारिक सम्बन्धों, जैसे भाई-बहिन के सम्बन्ध पर अनेक लोकगीत मिलते हैं। भारतीय जीवन की पारिवारिक स्थिति में भी पुत्र-पुत्री का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकगीत, मुख्यतया मानवीय सम्बन्धों को उदार से उदार, महान् से महान्, सुन्दर से सुन्दर और सहज बनाने का प्रयत्न करते हैं। लोकगीत, सामाजिक मान्यताओं को प्रश्नवाचक दृष्टि से नहीं देखते अपितु मान्यता को नियमों की कठोरता को, कानूनों की तेज और तीखी धार को सीधे-सीधे समझ लेने के लिए बाध्य करते हैं। लोकगीतों में भाई-बहिन के सम्बन्धों की विवेचना नहीं मिलेगी—क्या होता है, क्यों होता है, होना आवश्यक है या अनावश्यक, होने के पीछे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक या आर्थिक सिद्धान्त हैं या नहीं, इसकी चिन्ता उसको नहीं। वे केवल यह जानते हैं कि समाज के अस्तित्व के लिए यह अनिवार्य है कि भाई एवं बहिन के सम्बन्ध सुघड़ और अच्छे बने रहें। इसलिए लोकगीतों ने, भाई-बहिनों से सम्बन्धित उन्हीं विषयों और परिस्थितियों को चुना है, जहाँ उनका मार्मिक स्नेह-भाव, सबसे उच्चतम स्थिति पर पहुँच सकता हो।

लोकगीतों में भाई-बहिनों की अनेक कथाएँ हैं। विवाह के समय भाई एवं बहिन के सुन्दर वार्तालाप हैं और विवाह के बाद ससुराल में, भाई की प्रतीक्षा के अत्यन्त करुणापूर्ण और वियोग में क्लेश से भरी हुई अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः भाई-बहिनों के स्नेह के विषय में, लोकगीतों में जितना कुछ गाया गया, उतना महत्त्व अन्य शास्त्रीय काव्यों में, इस विषय को नहीं मिला।

भाई-बहिन के सम्बन्धों को लेकर कई महत्वपूर्ण त्यौहार भी मनाये जाते हैं। इन त्यौहारों में, भाइयों के प्रति बहिनों का सारा स्नेह उमड़ कर गीतों में मुखरित हो जाता है। इनमें से मुख्य त्यौहार हैं—राखी, सावन की तीज और भैया दूज। ये त्यौहार मुख्यतया बहिनों के छीने हुए अधिकारों के 'मुआवजे' के रूप में हैं। इस समय बहिन के सुख, खुशहाली, सुहाग, प्रसन्नता भरे सफल जीवन की कामना की जाती है। भाई को बहिन अपने यहाँ आमन्त्रित करके, उसको अपने कर्तव्य के प्रति सजग करती है। लोकगीतों में, इन सम्बन्धों का मूल अर्थ आज भी सुरक्षित है।

यह तो सर्वविदित है कि विवाह के पूर्व और विवाह के बाद की मनोदशाएँ किसी नवयौवना के लिए कितने हर्ष और कितने विषाद का कारण हैं ? जिस घर में लड़की का बचपन बीतता है तथा माता-पिता का स्नेह उसे प्राप्त होता है—उसी घर को छोड़कर जाना, उसके लिए सुख कैसे हो सकता है ? मन उसका पीछे जाता है, लेकिन उसके प्रियतम का सुख, उसका ससुराल के प्रति कर्तव्य, अपने नारीत्व की सार्थकता का प्रश्न सामने खड़ा रहता है। मन के संघर्ष

के बीच वह पीहर से ससुराल जाती है। लोकगीतों ने इस मार्मिक हृदयग्राही परिस्थिति का जितना सुन्दर और मनोहर चित्रण किया है वह अक्षरों में पढ़ने के लिए नहीं है, बल्कि सुनकर आत्म-विस्मृत हो जाने के लिए है।

विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले सभी लोकगीतों में 'पीहर' के अपार स्नेह का चित्रण है। विवाह सम्बन्धी गीतों में नारी के जीवन में सबसे बड़े परिवर्तन-काल की प्रत्येक समस्या आ जाती है और लोकगीतों ने इन अवसरों का लाभ उठाकर 'पीहर' के प्रेम और 'पीहर' के फौलादी एकत्व को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। पीहर और ससुराल का भंगलमय समन्वय ही इन गीतों की विशेषता है।

'पीहर' के प्रति लोकगीतों में एक 'पुत्री' का सहज, स्नेहपूर्ण, कर्तव्यशील, शीलवान और सुन्दर चित्रण हुआ है। यही स्वाभाविक है। परिवार की पुत्री के प्रति सद्भावना और पुत्री की परिवार के प्रति कल्याण-कामना समाज के लिए आवश्यक है।

लोकगीतों में स्त्री के प्रति कहीं अन्याय का भाव नहीं मिलेगा। उनका समाज में जो भी स्थान है, उसका प्रतिफलन या प्रतिबिम्ब लोकगीतों में मिल जायेगा। लोकगीतों में पति और पत्नी अलग-अलग सामाजिक सत्ता नहीं हैं बल्कि एक पारिवारिक 'केन्द्र' है। अतः लोकगीतों का धरातल, केवल सहज मानवता का कल्याणकारी भाव है।

2. लोकगीतों में समाज—लोकगीत साधारणतया जन-जीवन पर आश्रित रहा। समाज के प्रधान अंगों से उसका सम्बन्ध देखा जा सकता है। लोकगीतों में समाज सम्बन्धी गीत भी मिलते हैं। समाज सम्बन्धी गीत सामाजिक उत्सवों को लेकर गाए जाते थे। जैसे होली, सावन, बारामासा और रास आदि के गीत। इनमें भी यथास्थान विविधता प्राप्त होती है। वस्तुतः गीत उत्सवों, पर्वों और त्यौहारों को हर समय अभिनव रूप प्रदान करते हैं एवं गीतों के माध्यम से इनका आकर्षण गुणात्मक हो जाता है।

3. लोकगीतों में संस्कार—भारतीय जीवन में संस्कार संस्कृति से जुड़े हैं, जिसकी अभिव्यक्ति सांस्कृतिक जीवन में ही होती है। संस्कार का समाजशास्त्रीय महत्त्व जानने के लिए हम संस्कार का अर्थ क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? हमारे जीवन में इसकी क्या उपयोगिता है ? आदि पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

संस्कार का अर्थ—संस्कार शब्द संस्कृत के सम् + कृ + धञ् से निष्पन्न है जिसका अर्थ परिष्कार या शुद्धि करना होता है। अतः संस्कार व्यक्ति की शुद्धि से सम्बन्धित है जिसके पूर्ण करने पर वह सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बन जाता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक कुछ कृत्य आवश्यक होते हैं जिनसे व्यक्ति के जीवन की परिष्कृति होती है। ये ही कृत्य संस्कार कहलाते हैं जो व्यक्ति को सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि से पवित्र बनाकर उसकी आत्मा की परिशुद्धि करते हैं। संस्कारों के सम्बन्ध में राजबली पाण्डेय का कथन है कि—संस्कार का अभिप्राय व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले कृत्यों से है जिससे व्यक्ति समाज का पूर्ण सदस्य हो सके।

भारतीय संस्कृति में जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक संस्कारों का विधान है जिनका पूर्ण करना आवश्यक माना गया है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि आत्मा की परिशुद्धि के लिए तथा जीवन को कष्टों से बचाने के लिए संस्कारों को पूर्ण करना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दू-मान्यता के अनुसार ये संस्कार व्यक्ति के जीवन को अनेक विघ्न-बाधाओं से बचाते हैं, व्यक्ति को उन्नति के मार्ग पर ले जाते हैं।

संस्कारों का समाजशास्त्रीय महत्त्व—संस्कार मुख्य रूप से मानव-जीवन के विकास को दर्शाते हैं जो व्यक्ति और समाज के मध्य सन्तुलन बनाए रखने में सक्षम हैं। संस्कारों का महत्त्व वैयक्तिक दृष्टि से तो स्पष्ट है ही लेकिन सामाजिक दृष्टि से भी संस्कार हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है।

जैसा कि हम जानते हैं कि संस्कार कई प्रकार के होते हैं। वेदों में केवल तीन संस्कारों—गर्भाधान, विवाह तथा मृत्यु संस्कार का उल्लेख है। इस प्रकार संस्कारों की संख्या के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में पूर्ण विवाद रहा है। अन्त में सोलह संस्कार माने गये हैं, परन्तु सभी संस्कार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक हैं। व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास व्यक्ति की मानसिक एवं चारित्रिक दृढ़ता पर निर्भर है—संस्कार व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत करते हैं, इससे उसका मनोबल बढ़ता है और शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टि से उसका व्यक्तित्व विकसित होता है।

डॉ. पाण्डेय के अनुसार “संस्कार मानव जीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायता पहुँचाते हैं, व्यक्तित्व के विकास में सुविधा देते हैं, मनुष्य देह को पवित्रता तथा महत्त्व प्रदान करते हैं तथा मनुष्य की समस्त भौतिक व आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाओं को गति देते हैं।”

संस्कार शिक्षा का सर्वोत्तम माध्यम है। केवल एक संस्कार “विद्यारम्भ” प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी संस्कार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यक्ति को शिक्षित करते हैं—ये व्यक्ति के जीवन में अनुशासन लाते हैं, उनके बौद्धिक स्तर में वृद्धि करते हैं तथा उनके सांस्कृतिक स्तर को भी सुदृढ़ बनाए रखते हैं।

संस्कार व्यक्ति के सामाजीकरण में सहायक हैं। संस्कारों द्वारा व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को अनुकूलित कर लेता है और अपने जीवन को संगठित बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। जैसे, उपनयन से विवाह तक सारे संस्कार सामाजिक दृष्टि से महत्त्व के हैं जो हमारी संस्कृति को भी दर्शाते हैं। इस प्रकार सभी संस्कार—सामाजिक और सांस्कृतिक—दोनों ही दृष्टियों से व्यक्ति के नैतिक गुणों के विकास करने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

इसके साथ ही संस्कारों का आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। प्रत्येक संस्कार व्यक्ति के मन में इस धारणा को प्रचलित करता है कि कोई अलौकिक, अदृश्य शक्ति विधि-विधान उसी शक्ति को प्रसन्न करने के लिए है। यही भावना व्यक्ति को संस्कारमय बनाती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जीवन के समुचित विकास के लिए संस्कारों का अत्यधिक महत्त्व है। ये आत्माभिव्यक्ति के भी प्रबल माध्यम हैं—शोक, क्रोध, दया, हर्ष, आनन्द, सहानुभूति आदि मानसिक उद्वेगों का प्रकटन वैयक्तिक व सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से संस्कारों द्वारा विधिवत् किया जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी संस्कारों का महत्त्व स्पष्ट है। क्योंकि सभी संस्कार व्यक्ति को आत्मिक रूप से भी सन्तुष्ट करते हैं क्योंकि उसकी प्रबल धारणा ये है कि संस्कार विपत्ति से रक्षा करते हैं, सांसारिक सुख-समृद्धि में वृद्धि करते हैं, मनोकामनाओं को पूर्ण कर जीवन को सुखमय बनाकर परलोक को भी सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार हिन्दू संस्कार भारतीय सामाजिक जीवन को व्यवस्थित व सुरक्षित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

संस्कार गीत—लोकगीतों में विभिन्न संस्कारों से सम्बन्धित गीत मिलते हैं। यह लोक-संगीत का एक भेद माना जाता है। सभी प्रदेश के लोकगीतों में संस्कार-गीत विद्यमान हैं। जन्म से मृत्यु तक सोलह संस्कार भारतीय जीवन के मेरूदण्ड हैं। इन संस्कारों का कुछ रूप तो स्त्रियों द्वारा और कुछ रूप पुरोहितों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। परन्तु स्त्रियाँ दोनों अवसरों पर गीत गाने बैठ जाती हैं, दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक जीवन गीतों के पालने में ही झूलता है। आज भी ये गीत रह-रहकर सामाजिक जीवन की अन्तश्चेतना को छू जाते हैं। उसमें भावों की गरिमा भर देते हैं।

संस्कार गीतों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

सोहर-गीत—पुत्र-जन्म के समय समाज में गीतों की धूम-सी मच जाती है। इस अवसर पर सोहर-गीत गाये जाते हैं। रचना-कौशल में स्त्री-सुलभ कोमलता रहती है, इसका कारण है स्त्रियाँ ही यह गीत बनाती हैं। इसमें पुत्र की शुभकामना रहती है। सास “चरुए” (जच्चा के लिए गर्म पानी करने वाली हण्डिया पर सास गोबर से स्वास्तिक बना देती है, जिसे समाज की शब्दावली में चरुए रखना कहते हैं।) रखती है और नेग पाकर ‘सोहर’ गाने लगती है। इसी समय दीवारों पर गोबर के ‘सातिये’ रखे जाते हैं। इसके बाद ननद आदि को नेग मिलता है और गीत गाये जाते हैं। लोग ‘बधावा’ लाते हैं और बधावे के गीत गाये जाते हैं।

छठी का गीत—पुत्र उत्पन्न होने के छठे दिन ‘छठी’ मनाई जाती है। कुटुम्बियों को बुलाकर सूर्य, चन्द्र, गंगा-यमुना, गृहदेवता, ग्रामदेवता के चित्र की पूजा करते हैं। लोगों को कच्चा भोजन खिलाकर ‘छठी’ के गीत गाते हैं जिसमें बालक की शुभकामना रहती है।

नामकरण-संस्कार के गीत—नामकरण-संस्कार शिशु के जन्म के दसवें व बारहवें दिन शुभ मुहूर्त नक्षत्रादि देखकर सम्पन्न किया जाता है। इसमें बच्चे का नामकरण किया जाता है। इस संस्कार के समय माता-शिशु को शुद्ध वस्त्र ओढ़ाकर तथा उसके सिर को शुद्ध जल से गीला करके उसे पिता की गोद में दे देती है; तदनन्तर प्रजापति, नक्षत्र तथा उसके देवताओं, अग्नि, सोम को आहुतियाँ देकर पिता बच्चे के कान में उसके नाम का उच्चारण करता है, बालक के लिए मंगल कामनाएँ की जाती हैं। यद्यपि यह संस्कार पौरौहित्य संस्कार होता है परन्तु गीतों की स्वरलहरी उस दिन भी वातावरण को आकर्षक बनाये रखती है।

अन्नप्राशन गीत—यह संस्कार नवजात शिशु को प्रथम बार अन्न खिलाने से सम्बन्धित है, क्योंकि इससे पूर्व बच्चा दुग्ध पर आश्रित रहता है। छः महीने के बाद अन्नप्राशन किया जाता

है। इस समय आहार खिलाते समय यज्ञादि मन्त्रोच्चारण की विशेष व्यवस्था की जाती है। इसमें कुटुम्बियों को बुलाकर पूजा आदि करके गीत गाते हैं।

मुण्डन गीत—चूड़ाकर्म संस्कार बालक के जन्म के विषम वर्षों (एक, तीन, पाँच व सात) में होता है। इन गीतों में बुआ को धन, आभूषण मिलने का वर्णन होता है।

जनेऊ गीत—बालक के थोड़ा बड़ा होने पर उपनयन संस्कार होता है। हिन्दू वर्ण-व्यवस्था में उपनयन संस्कार का बड़ा महत्त्व है। उपनयन संस्कार के बाद ही बालक ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश का अधिकारी माना जाता था। जनेऊ गीतों की लय, ध्वनि और टेक बहुत ही सुन्दर होती है।

विवाह गीत—विवाह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है जिसके द्वारा व्यक्ति को एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति प्रदान की जाती है कि वह समाज व संस्कृति की रक्षा के लिए किन्हीं विशिष्ट नियमों, तरीकों व धार्मिक कृत्यों के द्वारा गुणवती, योग्य कन्या के साथ पारिवारिक जीवन व्यतीत करे। विवाह लोक-संगीत के आयोजन के लिए सबसे सुन्दर अवसर है। इसमें विविध कर्मों में विविध प्रकार के गीत गाये जाते हैं, जैसे—द्वार-पूजन, जयमाल, भाँवर, विदाई, गौना आदि। इसमें शृंगार, हास्य तथा करुण रस के भी गीत होते हैं।

मृत्यु गीत—यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार होता है। इन संस्कार गीतों में मृतक की सुन्दरता व कोमलता का चित्रण होता है। तथा उसके अभाव के कारण घर में हुई आर्थिक संकट की परिस्थितियों का चित्रण होता है (यह गाने की प्रथा नहीं है, लेकिन पुस्तकों में ऐसा दिया है)।

गीतों के प्रयोग से संस्कारों की शोभा गुणात्मक होती है। निश्चय ही गीतों के सहयोग से इनमें चिर नूतनता आ जाती है। समाज में अनादि काल से ही बालक का जन्मोत्सव, वर्षगाँठ, कर्णछेदन एवं बड़े होने पर उसका विवाह सम्पन्न होता रहा है। परन्तु गीतों के साहचर्य से इन संस्कारों में आकर्षण का अभाव आज तक देखने को नहीं मिला। गीतों की कोमलता इन्हें कोमल बनाती रही है एवं गीतों का लोच इन्हें भावशून्य होने से बचाता रहा है। गीतों की निर्झरिणी से निनादित ये संस्कार आज तक चिर प्रेरणा प्रदान करने वाले बने हुए हैं तथा गीतों के समवाय से इनका उल्लास चिर शाश्वत बन गया है।

अतः लोकगीत ही स्त्रियों के लिए वेद हैं, उपनिषद् हैं, संस्कृति हैं, संस्कार हैं, समाज हैं, जीवन हैं, काल हैं और काव्य हैं। इन्हीं गीतों की छाया में उनका सहज मन पलता है।

अतः लोकगीतों में संस्कारों, सामाजिक मान्यताओं, विश्वासों और परम्पराओं का अभिव्यंजन बहुत सुन्दर रीति से हुआ है। इसीलिए यह समाज की धरोहर बन गई है। फलस्वरूप सामाजिक भावना का जितना सफल चित्रण इन गीतों में मिलता है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। क्योंकि सामाजिकता एवं विभिन्न परम्पराओं से अभिभूत लोक-कलाकार अपनी समाजगत सीमाओं में ही कला के स्वरूप को विकसित करता है। लोक-कलाकार सामाजिक जीवन के समुद्र में बूँद की तरह खोया रहता है। अतः लोकगीतों में समाज प्रधान है।

आधुनिक समाज में लोक-संगीत की स्थिति

अब प्रश्न यह है कि आधुनिक समाज की जीवन-प्रणाली की ऊहापोह-भागमभाग में लोक-संगीत की स्थिति और भविष्य क्या है ? इसके लिए यह सर्वविदित है कि लोक-संगीत एक प्राचीन विधा है। वह समाज में मानव-जीवन के साथ ही जन्मा और विकसित हुआ है। निश्चय ही वह शास्त्रीय-संगीत अथवा अन्य परिष्कृत कला-रूपों से अधिक प्राचीन और सनातन है। इसका कारण यह है कि वह सदैव समाज में मानव-जीवन की स्थिति, उसके सुख-दुःख, राग-विराग और दिन-प्रतिदिन के अनुभवों से जुड़ा हुआ है जिस पर कल्पना, कलात्मकता और कृत्रिमता की छाया कम-से-कम पड़ी है और इसी कारण वह समाज में अधिक सहज, स्वाभाविक, मार्मिक एवं लोकग्राह्य रहा है। समाज में लोककथाओं की भाँति वह भी सदैव लोकानुरंजन का एक प्रमुख साधन एवं माध्यम रहा है।

यह प्रायः कहा गया है कि लोक-संगीत का मुख्य आधार वे सामाजिक विश्वास, रीति-रिवाज, उत्सव, त्यौहार एवं अन्य विशिष्ट मूल्य हैं, जो सामाजिक रूप में सामाजिकता से युक्त होते हैं। उसमें सहज-सुलभ मनोरंजन की अनुभूति विशेष रूप से विद्यमान है। उसका जन्म अवश्य ही सामूहिक न होकर व्यक्तिगत है, फिर भी उसमें सम्पूर्ण समाज अथवा किसी विशिष्ट क्षेत्र के समाज की आशा-आकांक्षाओं, सुख-दुःख, राग-विराग आदि का आकलन होता है और इसी दृष्टि से वह व्यक्तिप्रधान न होकर सामूहिक बन जाता है। यह बात सामान्य रूप से सभी लोक-कलाओं के सम्बन्ध में कही जा सकती है। किन्तु संगीत को समाज की कलाओं में एक उत्कृष्ट कला माना गया है। लोक-संगीत शास्त्रीय नियमों से परे समाज द्वारा गाए-बजाए जाने वाले सहज गीतों पर आश्रित होता है। अतः लोक-संगीत मानव-जीवन के अधिक नजदीक होता है।

आधुनिक समाज में लोक-संगीत अभी भी समसामयिक है। आज भी भारतवर्ष में गाँव में रहने वाले लोग शहरी चमक-दमक से दूर अपने जीवन को अपने ढँग से जीते हैं। ये ही अपने गढ़े हुए वाद्यों की सहायता से अपने-अपने तीज-त्यौहारों को लोक-संगीत के माध्यम से मनाया करते हैं। प्रायः प्रत्येक शाम को शादी-विवाह, विदाई, मांगलिक त्यौहार एवं अन्य स्थानीय लोकोत्सवों पर ये जातियाँ इन्हीं के माध्यम से अपना मनोरंजन करती हैं।

शहरी समाज में भी जहाँ हमारी प्राचीन और स्थापित मर्यादाएँ एवं मान्यताएँ सुरक्षित हैं, वहाँ निश्चित रूप से लोक-संगीत का अस्तित्व एवं प्रभाव देखा जा सकता है। सरकारी व गैर-सरकारी अकादमियों के माध्यम से इन लोकगीतों की स्वरलिपियाँ तैयार कराई जा रही हैं। विभिन्न अवसरों, जैसे—स्वतन्त्रता-दिवस, गणतन्त्र-दिवस आदि में लोक-गायकों, लोक-नर्तकों एवं वादकों की कला का प्रदर्शन एवं एक-दूसरे प्रान्त की कलाओं का परिचय कराया जाता है। साथ ही विभिन्न प्रकार से उन्हें आर्थिक सहायता, अनुदान, संरक्षण-वृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं। ये सब इस बात के प्रमाण हैं कि लोक-संगीत को समाज में न केवल मौलिक रूप में सुरक्षित रखा जाए, बल्कि उसमें समयानुकूल परिवर्तन करके उसे विकसित किया जाए।

समाज में विकास कार्यों को लेकर आज जो नए-नए निर्माण हो रहे हैं तथा सामाजिक दिशा में सुधार हो रहा है, उनको लेकर भी लोकगीतों की रचना हो रही है। यह इस बात का

परिचायक है कि लोकगीत केवल परम्परागत बातों को लेकर ही नहीं लिखे जाते, बल्कि उसमें युगानुरूप परिवर्तन भी होते रहते हैं।

आधुनिक युग में संचार के साधनों व अन्य वैज्ञानिक उपकरणों के विकास ने अन्य समस्त कलाओं की भाँति लोक-संगीत के संवर्द्धन में भी अपूर्व योगदान दिया है। उदाहरणार्थ, सिनेमा में प्रयोग किये गये लोकगीत देश के कोने-कोने में प्रचलित व लोकप्रिय बन जाते हैं। फिल्मी संगीत ने अनेक पुराने लोकगीतों का पुनरुद्धार किया है। कभी हमारे घर-आँगनों में जो लोकगीत ढोलक और मंजीरों के साथ बड़े आनन्द और उल्लास के साथ गाए जाते थे, उनमें से अनेक लोकगीतों के शब्दों को लेकर फिल्मी संगीत ने नई धुन व नए स्वर के साथ जनता के सामने उन्हें पेश किया। बहुत से लोकगीत, जो केवल पुस्तकों की धरोहर मात्र रह गए थे, फिल्म के माध्यम से पुनः जीवित हो गए और बच्चे-बच्चे की जवान पर उन गीतों के शब्द गूँजने लगे। “मेरे आँगे में तुम्हारा क्या काम है”, “मार दिया रे रसगुल्ला घुमाय के”, “पैर रपट जड़है तो हम का करिवै”, “गंगा मैया, तोहे पियरी चढ़इवो” आदि गीत पुनः जनता-जनार्दन के सामने मुखरित होने लगे। विभिन्न देशी-विदेशी वाद्यों की संगति से इन गीतों में नया निखार भी आया। हालाँकि कुछ आलोचकों का कहना है कि फिल्म संगीतकारों ने शास्त्रीय-संगीत के साथ-साथ लोकगीतों का ढाँचा भी बदल दिया है। किन्तु फिल्मी-निर्देशकों ने इन गीतों में जान डाल दी है। ‘बैक ग्राउण्ड म्यूजिक’ की संगति ने इन गीतों को एक नवीन दिशा दी है। आधुनिक समाज में इस प्रकार का लोकगीतों में परिवर्तन अपने आप में उल्लेखनीय है।

आज भी समाज में, सुशिक्षित घरों में भी विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले महिला-संगीत के रूप में वे जीवित हैं।

संक्षेप में लोक-संगीत मानव-जीवन का चिर-सहचर रहा है और उसके बाहरी आवरण और रूप-रंग में चाहे कितना ही अन्तर क्यों न आ जाए, उसकी मौलिक संवेदना तब तक बनी रहेगी, जब तक मानव-जीवन शेष है।

लोकप्रिय संगीत का समाजशास्त्र

लोकप्रिय संगीत के समाजशास्त्र की दिशा में आगे बढ़ने से पहले यह समझ लेना जरूरी है कि “लोकप्रिय संगीत क्या है ?” आमतौर पर माना जाता है कि जो संगीत और कला, व्यापक जन-समुदाय के बीच सहज रूप में ग्राह्य और स्वीकार्य हो वह लोकप्रिय है। सरलता, सहजता और सुबोधता आदि लोकप्रिय संगीत के अनिवार्य गुण माने जाते हैं, किन्तु व्यापक जन-समुदाय के बीच कोई संगीत केवल सरलता और सुबोधता के कारण लोकप्रिय नहीं होता अपितु वह संगीत, व्यापक जनता के बीच लोकप्रिय होता है जिसमें जन-जीवन की वास्तविकताएँ और आकांक्षाएँ सहज-सुबोध रूप में व्यक्त होती हैं।

ब्रेस्ट ने लोकप्रियता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—“लोकप्रिय वह है जो व्यापक जनता के लिए सुबोध हो, जिसमें जनता के बीच प्रचलित अभिव्यक्ति के रूपों का उपयोग और विकास हो, जनता के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए उसे सुदृढ़ बनाया गया हो, जनता के सर्वाधिक प्रगतिशील हिस्से को इस रूप में प्रस्तुत किया गया हो कि वह समाज में नेतृत्व का दायित्व सम्हाल सके और उसमें परम्परा का बोध और विकास हो।”

लोकप्रिय संगीत से तात्पर्य है वह संगीत जो व्यापक जन-समुदाय में लोकप्रिय हो। लोकप्रिय संगीत में हम ठुमरी, दादरा, गज़ल, कजरी तथा विशेष रूप से फिल्मों-संगीत को ले सकते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या लोकप्रिय संगीत तथा लोक-संगीत एक ही संगीत-प्रकार हैं ? निश्चय ही ‘नहीं’। जैसा कि सर्वविदित है कि जब से समाज के साथ-साथ संस्कृति का विकास हुआ है, तब से संस्कृति के दो रूप मिलते हैं : अभिजन-संस्कृति और जन-संस्कृति। अभिजन-संस्कृति के समानान्तर जन-संस्कृति का विकास होता है। अभिजन-संस्कृति के विकल्प और विरोध में जन-समुदाय जन-संस्कृति की रचना करता है। जन-संस्कृति की अभिव्यक्ति का एकरूप लोक-संगीत होता है। लोक-संगीत लोकप्रिय भी होता है लेकिन हम जिस लोकप्रिय संगीत के समाजशास्त्र की बात कर रहे हैं वह लोक-संगीत से एकदम भिन्न है। लोक-संगीत और लोकप्रिय संगीत में अनेक अन्तर हैं—

1. पहला अन्तर यह है कि लोक-संगीत समाज में आज तक किसी-न-किसी रूप में निर्मित और विकसित होता आ रहा है जबकि लोकप्रिय संगीत पूँजीवादी युग और समाज की उपज है।

2. दूसरा अन्तर यह है कि लोक-संगीत की रचना जन-समुदाय करता है और वही उसका श्रोता भी होता है। तात्पर्य यह है कि लोक-संगीत जनता के लिए, जनता के बारे में, जनता द्वारा निर्मित संगीत है। लेकिन आज का लोकप्रिय संगीत वैज्ञानिक युग का संगीत है, जिसका बड़े पैमाने पर रिकॉर्डिंग के माध्यम से व्यावसायिक उत्पादन होता है। वह पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की दूसरी वस्तुओं की तरह उत्पादित होकर बाजार के माध्यम से खरीद-विक्री की वस्तु की तरह जनता तक पहुँचता है। विशेषतः वह संगीत से जीविका चलाने वाले गायकों की मदद से बड़ी-बड़ी रिकॉर्डिंग कम्पनियों द्वारा उत्पादित संगीत है, जिसे उपभोग की दूसरी वस्तुओं की तरह जन-श्रोताओं तक पहुँचाया जाता है। पूँजीवादी युग का लोकप्रिय संगीत अर्थोपार्जन के उद्देश्य से गाया गया संगीत है। यही कारण है कि इस लोकप्रिय संगीत के उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग की पूरी व्यवस्था को **अंडेनों** ने संस्कृति का उद्योग कहा है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में इसे 'मास-संगीत' या 'भीड़ का संगीत' भी कहते हैं।

लोकप्रियता महान् कला का अनिवार्य गुण भी है। जैसा कि सर्वविदित है कि लोकप्रिय संगीत के रूप में हम फिल्मी-संगीत को लेते हैं। समाज में फिल्मी-संगीत की लोकप्रियता किससे छुपी हुयी है। फिल्मी-संगीत अपने में कोई अलग संगीत नहीं है। न यह किसी विदेशी परम्परा से जुड़ा हुआ है। यह भी इस देश की प्राचीन शास्त्रीय-संगीत की परम्परा का अंग है। यह संगीत की एक नवीन शैली है जो "टॉकी-युग" की देन है। यदि हम फिल्मी-संगीत को लोकप्रिय संगीत का उत्कृष्ट उदाहरण मानते हैं तो उसका ऐतिहासिक अध्ययन भी यहाँ आवश्यक हो जाता है।

जैसाकि सर्वविदित है पहली टॉकी-फिल्म सन् 1931 में "आलमआरा" बनी थी, तभी से हम फिल्म-संगीत या लोकप्रिय संगीत का जन्म मानेंगे। अगर इसके पूर्व हम नजर डालें तो समाज में जो संगीत की शास्त्रीय विधायें प्रचलित व लोकप्रिय थीं, वे थीं आँचलिक लोक-संगीत, शास्त्रीय-संगीत, रवीन्द्र-संगीत, सुगम-संगीत, नाट्य-संगीत, भावगीत, गज़ल, टप्पा-ठुमरी आदि।

फिल्मों में आरम्भ में शास्त्रीय-संगीतकार ही फिल्म-संगीत की रचना करते थे और प्रत्येक फिल्मी-संगीतकार किसी-न-किसी सांगीतिक घराने का शिष्य हुआ करता था क्योंकि यही लोग संगीत को वैज्ञानिक दृष्टि से समझकर फिल्मों के लिए संगीत दे सकते थे तथा यही विद्वान समाज में संगीतशाला के रूप में पहचाने जाते थे। उदाहरणार्थ बंगाल में **रवीन्द्रनाथ टैगोर** की संगीत परम्परा से, दक्षिण में **त्यागराज** की संगीत परम्परा से, महाराष्ट्र में पण्डित **विष्णु दिगम्बर पलुस्कर** तथा **अल्लादिया खाँ** की संगीत परम्परा से फिल्म-संगीत का सृजन होता था।

इस प्रकार सन् 1931 से लेकर सन् 1941 तक घरानेदार फिल्म-संगीत को समाज ने स्वीकारा। उसके बाद कुछ संगीतकारों ने समाज में प्रचलित लोक-संगीत की धुनों के साथ कुछ फिल्मी गाने बनाकर समाज के सामने प्रस्तुत किये, जिनमें तबले की जगह ढोलक और घड़े तथा क्लारिनेट व हारमोनियम की जगह ट्रंपेट और हवाईन गिटार का प्रयोग होने लगा जो कि मुख्यरूप से पंजाब के लोक-संगीत पर आधारित था। इसी प्रकार राजस्थानी लोकधुनों पर **खेमचन्द्र प्रकाश** ने तथा उत्तरप्रदेश की लोकधुनों पर **नौशाद** ने फिल्म-संगीत की रचना की जिसका आधार समाज में प्रचलित संगीत की एक विधा "लोक-संगीत" था।

इस प्रकार बीस वर्ष से अधिक समय तक शास्त्रीय तथा लोकधुनों पर आधारित फिल्म-संगीत से ऊबे हुए समाज की नब्ज को पहचानते हुए सन् 1957 में कल्याण जी ने कुछ ऐसे फिल्मी गीत बनाये जो कि नये और पुराने संगीत का मिश्रण थे। जिन्हें कि समाज ने सहर्ष स्वीकारा तथा एक नये प्रकार के फिल्मी-संगीत का प्रारम्भ हुआ। आगे चलकर इसी संगीत को 1965 में लक्ष्मीकान्त-प्यारेलाल ने फिर एक मजबूत आधार दिया। यह संगीत भी अपना प्रभाव समाज पर ज्यादा दिन नहीं छोड़ पाया और पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति से अभ्यस्त होते समाज की कल्पना को पहचानकर आर.डी. बर्मन, बप्पी लहरी आदि ने पश्चिम से प्रभावित संगीत समाज को दिया जो कि अपनी लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँचा।

फिल्मी-संगीत के ऐतिहासिक आकलन के बाद यह तथ्य सामने आता है कि फिल्म-संगीत समाज की रुचि के अनुसार समय-समय पर बदलता रहा तथा उसमें संगीतकार की कल्पना समाज की रुचि के ऊपर सदा आधारित रही। इसीलिए हम फिल्म-संगीत को लोकप्रिय संगीत भी कह सकते हैं। सन् 1945 के बाद फिल्म-संगीत ने लोगों को आकर्षित किया और आज भी भारत जैसे विशाल देश में यह हर घर में सुना जाता है।

देखा जाए, तो पचास वर्षीय यह संगीत शास्त्रीय अभिजात-संगीत के समक्ष शिशुवत् है किन्तु अपनी टेक्नीक एवं विभिन्न तरीकों से इस शैली का विकास इस तेजी से हुआ कि इसने संगीत की सारी की सारी शैलियों को काफी पीछे छोड़ दिया है। फिल्म-संगीत की इतनी लोकप्रियता कोई आकाश से उतरकर नहीं आई है अपितु उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं—जैसे इसकी प्रकृति बड़ी लचीली है। यहाँ का गायक वास्तव में श्रोताओं के लिए गाता है और गीत में अन्तर्निहित भावों को स्वाभाविक ढँग से पेश करता है। समय के रुख को पहचानकर, कम-से-कम समय में श्रुति-मधुर संगीत देना, शब्दों के साथ सुरों का सामंजस्य करना, काव्य की भावना को महत्व देना और सबसे अधिक जनरुचि का ध्यान रखना फिल्म-संगीत की विशेषताएँ हैं। इन सभी बातों को अपने संगीत में शामिल करने से इस संगीत की पकड़ जनसाधारण में दृढ़ से दृढ़तर हो गयी है। इसके विपरीत शास्त्रीय-संगीत की पुरानी व सुदृढ़ परम्परा होते हुए भी आज इसकी उपेक्षा-सी होती दिखाई देती है। इसलिए फिल्मी-संगीत का विकास मात्र पचास वर्षों का होते हुए भी शास्त्रीय-संगीत से अधिक लोकप्रिय और जनता के अधिक निकट है।

अब तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि आज का युवा वर्ग पूरी तौर पर इससे प्रभावित है। गाँव हो या नगर, प्रत्येक क्षेत्र में हर उत्सव और समारोह में इस संगीत का व्यापक प्रभाव है। यहाँ तक कि भक्ति-संगीत भी इससे अछूता नहीं रह सका है। फिल्मी गीतों का आधार लेकर भजन-मण्डलियाँ कीर्तन करती दिखाई देती हैं। अधिकांश महफिलें चित्रपटीय-संगीत से भरी रहती हैं। स्पष्ट है कि आज के युग की माँग फिल्मी गीत हैं।

आज संगीत के क्षेत्र में फिल्मी-संगीत ने एक स्वतन्त्र विधा के रूप में अपने पाँव सफलतापूर्वक जमा लिए हैं। फिल्मी-संगीत का दायरा बहुत विस्तृत है। इसने अपने विराट् फलक में भजन, गीत, लोरी, गज़ल, कव्वाली, चैती, ठुमरी, दादरा आदि सुगम-संगीत की विभिन्न गायन-शैलियों को समाविष्ट कर लिया है। सिनेमा की लोकप्रियता का कारण है इसका विशाल

केनवास । इसलिए मनोरंजन के क्षेत्र में साधारणीकरण की सबसे अधिक शक्ति आज सिनेमा के पास है ।

लोकप्रिय फिल्मी-संगीत का रिकॉर्डिंग के माध्यम से व्यावसायिक उत्पादन होता है । इस संगीत का मूल्य बाजार में तय होता है । बहुधा फिल्में पूरी होने के पहले ही गाने रिकॉर्ड कर लिए जाते हैं और वे बाजार में बिकने के लिए आ जाते हैं । पूर्णतः व्यापारिक नजरिए को आधार बनाकर अधिक-से-अधिक लोगों को आकर्षित करने के लिए विभिन्न मसालों और फार्मूलों को भरकर ही फिल्म-संगीत का निर्माण किया जाता है । अगर उनमें से कोई एक भी गाना लोकप्रिय हो जाता है तो फिल्म की माँग बढ़ जाती है और साथ-साथ उसकी कीमत भी । उदाहरणार्थ, एक नृत्य-गीत ने “खलनायक” फिल्म को अमर बना दिया तथा गायिका ‘इला अरुण’ को भी गायिका के रूप में प्रतिष्ठित किया । इसी तरह पुरानी फिल्मों में “ये जिन्दगी उसी की है” गाने ने ‘अनारकली’ को यादगार फिल्मों की कोटि में समाविष्ट कर लिया ।

फिल्मी-संगीत में संगीत का उपयोग कहानी को जीवंत गति प्रदान करने, उसके दृश्यों को ज्यादा ग्राह्य और संवेदनशील बनाने, उसके प्रभाव को ज्यादा तीव्रतर बनाने और फिल्म को कलात्मक लालित्य और रोचकता प्रदान करने के लिए एक हथियार के रूप में किया जाता है । संगीत की शक्ति से फिल्मवाले अपने फिल्म की ‘सेलेबिल वेल्यू’ बढ़ाने की सामर्थ्य जुटाते हैं, इसके अलौकिक स्वरूप के दर्शन की तरफ उनकी तनिक भी रुचि नहीं होती । लाखों की लागत से बनी फिल्मों से करोड़ों कमाने की तमन्ना रखने वाले फिल्म-निर्माताओं ने संगीत को भी नहीं बख्शा और उसे भी अपने व्यापार की पूँजी के अन्तर्गत ही सन्निहित कर रातों-रात मालदार होने के लिए सीढ़ी के रूप में उपयोग किया है ।

लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए फिल्म-संगीत विविध मार्गों से गुजरा है । फिल्म-संगीत को लोकप्रिय बनाने के लिए उसमें हर संगीत विधा का प्रयोग हुआ । यदि एक नजर हम फिल्म-संगीत पर डालते हैं तो हम पाते हैं कि पुरानी फिल्मों का संगीत अवश्य पारम्परिक और शास्त्र-सम्मत था । उस वक्त के गायकों में गोविंदराव टेम्बे, कुमार गंधर्व, केशवराव भोले, सरस्वती राणे, मास्टर कृष्णराव के नाम उल्लेखनीय हैं, जो कि शास्त्रीय-संगीत में निष्णात थे । आर.सी. बोरल ने नवीन और प्राचीन का सम्मिश्रण कर आधुनिक संगीत से सर्वप्रथम परिचय कराया । उनके संगीत निर्देशन में “जवानी की रात” फिल्म में काननदेवी द्वारा गाया गया “लूट लिया मन धीर लल्ला-लल्ला...” पाश्चात्य ढँग के आर्केस्ट्रा के प्रयोग द्वारा उनके परम्परा से हटकर चलने की स्पष्ट गवाही देता है । उन्होंने समझ लिया था कि यदि समाज में लोकप्रिय होना है तो किसी भी एक पद्धति के प्रति प्रतिबद्धता फिल्म-संगीत में नहीं चलेगी । वहाँ तो पूर्णतः स्वतन्त्र होकर ही संगीत का निर्माण सम्भव हो सकता है । उनका यह चिन्तन यथार्थ था । एक संगीत-निर्देशक को हरफनमौला बनना पड़ता है । अगर जापानी या ईरानी पृष्ठभूमि पर कहानी लिखी गई है तो उन्हीं देशों का संगीत फिल्मों में दिया जायेगा । ‘सायोनारा-सायोनारा’ या ‘लव-इन-टोकियो’ जैसे गानों का तभी प्रादुर्भाव होता है । पुरानी फिल्म “रुस्तम सोहराब” में सज्जाद हुसैन ने ईरानी पृष्ठभूमि पर आधारित संगीत की रचना कर अपनी प्रतिभा का सुन्दर परिचय दिया था । भारतीय शास्त्रीय-संगीत को आधार बनाकर “बैजू बावरा”, “मुगल-ए-आजम”,

‘शबाब’, ‘रानी रूपमती’, ‘संगीत-सम्राट तानसेन’ आदि अनेक फिल्मों का निर्माण हुआ है। इसी तरह पाश्चात्य संगीत का भरपूर उपयोग ‘डिस्कोडांसर’, ‘हम किसी से कम नहीं’, ‘जमाने को दिखाना है’ आदि फिल्मों में हुआ है।

पुराने संगीतकारों में स्व. श्री सी. रामचन्द्र व ओ.पी. नैयर पाश्चात्य संगीत के प्रमुख हिमायती रहे। नये संगीतकारों में राहुल देव बर्मन का नाम पाश्चात्य संगीत की संस्थापना करने वालों में अग्रणी है। गाने की धुन और उसकी रिदम (Rythm) दोनों को ही उन्होंने पाश्चात्य रंग में रंगा है। ‘महबूबा’, ‘किनारा’, ‘अमर प्रेम’, ‘नवाब साहब’ आदि उनकी फिल्में अपवादस्वरूप ही ग्रहण की जाएँगी। वर्तमान में बप्पी लहरी हैं जिन्होंने पाश्चात्य संगीत का काफी आधार लिया है।

अतः लोकप्रिय फिल्म-संगीत की सृष्टि, रिकॉर्डों का उत्पादन, गायकों-वादकों के नाम पर विकनेवाली प्रसाधन सामग्री आदि की लागत-विक्री करोड़ों नहीं, अरबों रुपयों का व्यापार बन चुकी है।

लोकप्रिय संगीत का सामाजिक रूप-पक्ष

जिसे लोकप्रिय संगीत कहा जाता है उसकी बाजार और श्रोताओं के बीच लोकप्रियता का मुख्य कारण उसका विशेष सामाजिक रूप है। लोकप्रिय संगीत के विभिन्न रूपों के सामाजिक-ऐतिहासिक अस्तित्व का विवेचन होना चाहिये, उसकी अन्तर्वस्तु के सामाजिक अभिप्रायों की खोज होनी चाहिये और उसके श्रोताओं की संख्या, रुचि, सामाजिक स्थिति आदि का विश्लेषण भी होना चाहिये। लेकिन आश्चर्य की बात है कि उसके सामाजिक रूप-पक्ष की कोई खास चर्चा नहीं हुई है। इसका एक कारण यह है कि संगीत-विद्वान लोकप्रिय कला के रूप के प्रति उदासीन हैं। किसी शास्त्रीय-संगीत के पक्षपाती विद्वान ने लोकप्रिय संगीत के सम्बन्ध में यहाँ तक लिख दिया है कि—“जहाँ तक लोकप्रिय संगीत की बात है, मैं मानने को तैयार हूँ कि वह लोकप्रिय है। मगर वह संगीत नहीं है।” निश्चय ही संगीत-सम्बन्धित यह विचार एकपक्षीय दृष्टिकोण युक्त है। अगर संगीतज्ञ लोग सारे लोकप्रिय संगीत की तीव्र आलोचना करते हैं और संगीत के क्षेत्र में उसे गिरी हुई, निम्न श्रेणी की चीज समझते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में एक प्रकार की भ्रान्ति है और लोगों के मन में बड़े भ्रममूलक विचार हैं।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि आखिर क्या कारण है कि एक ही राग पर आधारित दो रचनाओं में से एक जनसाधारण-श्रोताओं में लोकप्रिय होती है और दूसरी केवल कला मर्मज्ञों या संगीतज्ञों के काम आती है। लोकप्रिय संगीत के रूप की विशेषताओं को समझे बिना उसकी लोकप्रियता के रहस्य को पूरी तरह समझना मुश्किल होगा। रूप केवल अन्तर्वस्तु को रूपायित ही नहीं करता है, उसको रूपान्तरित भी करता है। एक ही राग का शास्त्रीय-संगीत में जो रूप होता है वही लोकप्रिय संगीत में नहीं रहता।

लोकप्रिय संगीत का निर्माता अपना उद्देश्य जानता है और अपने श्रोताओं की आकांक्षाओं को भी पहचानता है। वह अपने श्रोताओं की रुचि, माँग और जरूरत के अनुरूप संगीत का निर्माण करता है। इसी से उसके विषय का चुनाव और संगीत-रचना का रूप निर्धारित होता है। लोकप्रिय संगीतकार ऐसी धुनों को लेता है जो जनमानस में पहले से किसी न किसी

रूप में मौजूद हैं। यही कारण है कि वह या तो लोकधुनों को अपनाता है या फिर तत्कालिक संगीत ट्यूनों को। हाल ही के वर्षों में संगीत में पाश्चात्य संगीत के प्रभाव से डिस्को-संगीत हर फिल्मों में टूँसने की कोशिश की जाती है। रॉक म्यूजिक का चलन आ गया है। इसी प्रकार संगीत के ही एक प्रकार 'नृत्य' में कैबरे का काफी प्रचलन हो गया है। यदि होटलों की व्यवस्था को चुनाव करने पड़े तो वासनात्मक नृत्य को चुनेगी, कलात्मक नृत्य को कोई और दरवाजा देखना पड़ेगा। मनोरंजन में मन का लगना, ताकि मनुष्य अपनी अन्य चिन्ताओं, दुश्चिन्ताओं को थोड़ी देर के लिए भूल सके, यही लोकप्रिय-कला का मुख्य उद्देश्य है।

सरकारी आँकड़ों के हिसाब से बम्बई शहर में 285 और बम्बई उपनगर में 490 लाइसेंसी बार हैं। इनमें नृत्य करने व गाने वाली करीब साढ़े पाँच हजार लड़कियाँ नौकरी करती हैं। नियमानुसार रात साढ़े आठ बजे के बाद किसी भी महिला से काम नहीं लिया जा सकता क्योंकि शॉप एण्ड एस्टेब्लिशमेंट एक्ट, 1948 के सेक्शन 33(3) के तहत यह एक कानूनी अपराध है। आज कोठे, बदनाम मुहल्लों और संकरी गलियों से संगीत निकलकर कोठियों या फिर पंचतारा होटलों या मयखानों में भी पहुँच गया है। आज सारंगी और तबले की थाप पर थिरकने वाले पाँव अब पाश्चात्य धुनों पर थिरकने लगे हैं। इसलिए इससे लोकप्रिय संगीत भी प्रभावित है।

लोकप्रिय संगीत के रूप की दूसरी विशेषता सरलता है। यह सरलता संगीत धुनों में देखने को मिलती है। लेकिन मनोरंजन या समय काटने के लिए संगीत सुनने या नृत्य देखने वाला व्यक्ति सरलीकरण की परवाह नहीं करता। इसी सरलता को बनाये रखने के लिए लोकप्रिय संगीतकार, संगीत-निर्माता गीतों की वैसी ही धुन बनाते हैं जो श्रोताओं की रुचि व माँग के अनुसार है। जनरुचि का ध्यान रखने के कारण लोकप्रिय संगीत का एक रूढ़िबद्ध ढाँचा बन जाता है। संगीतकार का संगीत फार्मूलाबद्ध हो जाता है। लेकिन हम इस सत्य की भी अनदेखी नहीं कर सकते कि अपने संगीत में श्रोताओं की रुचि बनाये रखने के लिए संगीतकार नयी-नयी धुनें भी खोज निकालते हैं। लोकप्रिय संगीत में रिदम का भी बहुत महत्त्व होता है।

लोकप्रिय संगीत में शब्द-रचना यानी कविता (Poetry) का बहुत महत्त्व है। इस संगीत में संगीत-शास्त्रीयता के बन्धन नहीं चलते। राग के स्वरूप को बनाये रखने का कोई बन्धन नहीं होता। राग समय का कोई बन्धन नहीं होता। लोकप्रिय संगीत में शब्द-रचना सरल होनी चाहिये तथा सर्वग्राह्य होनी चाहिये, जैसे—संगीत विधा, गज़ल को तभी लोकप्रियता मिली जब वह गीत के अनुसार सरलता व सहजता से गायी गयी। जबकि उसका एक समय में शास्त्रीय रूप था। प्रारम्भ में खुली गज़ल ही गायी जाती थी। लेकिन उन खुली गज़लों में बहुत ज्यादा कॉमर्शियल एंगल नहीं होता है। गज़ल-गायिका बेगम अख्तर ने जो गज़ल की परम्परा विकसित की थी, वही सचमुच खुली-गज़ल थी। आज वो रूप नहीं है। खुली-गज़ल में आलाप से शेर पढ़ा जाता है, उस समय तबला बन्द हो जाता है और जब मतले पर आते हैं तो तबला शुरू होता है और लग्गी बजती है। ऐसी गज़ल खुली-गज़ल ही कही जा सकती है। एक समय में गज़ल का एक शास्त्रीय रूप था, उसको उपशास्त्रीय-संगीत की श्रेणी में रखा जाता था परन्तु तब वह इतनी लोकप्रिय नहीं हुयी थी।

आज गज़लों की लोकप्रियता से सभी परिचित हैं। इस वक्त गज़लों के रिकॉर्ड और कैसेट बाजारों में धड़ल्ले से बिक रहे हैं। गज़लों के इस उन्मुक्त और उन्मादित दौर में पुगने

गज़ल-गायकों के नामों को भुला दिया गया है क्योंकि के.एल. सहगल, सी.एच. आत्मा, बेगम अख्तर जैसी हस्तियाँ भी गज़लें गाती थीं पर 'नया दौर' उसे पसन्द नहीं करता। हिन्दुस्तान में गज़लों के नए दौर में 'मेहदी हसन', 'गुलाम अली', 'जगजीत सिंह-चित्रासिंह', 'राजेन्द्र मेहता और नीना मेहता', 'मनहर', 'तलत अजीज', 'पंकज उधास', 'अनूप जलोटा' आदि ने धूम-धड़ाके के साथ प्रवेश किया है। इन सभी की गाई गज़लें न सिर्फ़ हर दृष्टि से मधुर, बल्कि समाज में लोकप्रिय भी हो रही हैं।

अतः व्यावसायिक लोकप्रिय संगीत का रूप इतना सरलता लिए हुए है जो व्यापक जन-समुदाय को सहजता से रुचिकर लगता है तथा उनका मनोरंजन करता है।

लोकप्रिय संगीत व शास्त्रीय-संगीत का सम्बन्ध

ऊपरी तौरपर शास्त्रीय-संगीत और लोकप्रिय-संगीत पूर्णतः परस्पर विरोधी लगते हैं। आम धारणा यही है कि वे दोनों संगीत के दो छोर हैं। लेकिन संगीत के इतिहास की छानबीन की जाए तो ऐसी स्थितियाँ भी मिलती हैं, जहाँ शास्त्रीय-संगीत व लोकप्रिय-संगीत के बीच एकता दिखाई देती है, जैसे—फिल्म-संगीत का प्रारम्भिक स्वरूप। फिल्म-संगीत में आरम्भ में शास्त्रीय-रागों को आधार मानकर रचनाएँ हुईं। कभी-कभी ऐसा भी होता है जहाँ लोकप्रिय-संगीत शास्त्रीय-संगीत के निर्माण और विकास में सहायक नहीं होता अपितु वह स्वयं कलात्मक भी हो सकता है, जैसे—भजन-संगीत-शैली। भजन-गायकी की मूल धुन अत्यन्त प्राथमिक एवं एकांगी होती है। परन्तु वही भजन जब कोई महान् शास्त्रीय-गायक गाता है तो उसका रूप अलग हो जाता है। आधुनिक समय में हर शास्त्रीय-गायन की सभा का समापन भजन-गायन से ही होता है।

शास्त्रीय-संगीत से लोकप्रिय-संगीत के सम्बन्ध का दूसरा रूप वहाँ दिखाई देता है जहाँ शास्त्रीय-संगीत को तरह-तरह के तरीकों से लोकप्रिय-संगीत बनाकर सुनाया जाता है। जैसे—प्रसिद्ध सितारवादक पं. रविशंकर ने शास्त्रीय-संगीत को लोकप्रिय बनाने के लिए ही विदेशी संगीत की कई अच्छी तकनीकों को अपने वादन में शामिल करके पश्चिमी और पूर्वी संगीत के मिश्रण से एक नई दिशा खोली है। इस प्रकार उस्ताद अमीर खाँ का संगीत केवल उन लोगों के लिए नहीं था, जो कि संगीत के शास्त्रीय पक्ष के चित्रण तक ही सीमित रह जाते हैं। इसलिए उस्ताद अमीर खाँ ने अनेक फिल्मों में पार्श्व संगीत देकर जनसाधारण को भी अपने संगीत का रसास्वादन कराया। फिल्मी-गायकी में उन्होंने सरलता और सरसता का सामंजस्य किया। "झनक-झनक पायल बाजे" फिल्म का इन्हीं (झनक-झनक पायल बाजे) शब्दों का थीमसॉंग कानडा जैसे कठिन और शुष्क राग पर आधारित है; लेकिन जो रस उस्ताद के स्वरों ने उसमें घोल दिया, उसके कारण वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इसके अतिरिक्त 'बैजू बावरा', 'बसंत बहार', 'तानसेन' जैसी फिल्मों में जिन रागों का उन्होंने चयन किया है, वे हैं—बहार, बसंत व दीपक। जो कि फिल्मी जगत् के सामान्य श्रोताओं में बहुत पसन्द किये गये। जटिल रागों को सुगम शैली में प्रस्तुत कर सामान्य श्रोताओं के लिए रुचिकर व लोकप्रिय बना देना उस्ताद अमीर खाँ की विशेषता थी। लियोल् बेंथल ने हाल के एक लेख में लिखा है कि—"श्रेष्ठ कला को भी उपयोग की वस्तु बनाकर उसे भीड़ की संस्कृति में शामिल कर लिया जा सकता है और समाज को भ्रमित करने की छल-योजना के साधन के रूप में उसका उपयोग हो सकता है।" इस

प्रक्रिया में हम शास्त्रीय-संगीत को सरल रूप में श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। सरल बनाने की प्रक्रिया में कला का सरलीकरण होता है और प्रचार व मनोरंजन उसका लक्ष्य बन जाता है। यह प्रक्रिया संस्कृति के सभी रूपों पर लागू होती है।

टेक्नोलॉजी के अभूतपूर्व विकास के कारण कला को बाजार की वस्तु बनाकर बेचना आज अधिक आसान हो गया है। मशीनी-पुनरुत्पादन के युग में कला को बड़े पैमाने पर पुनरुत्पादन कर उसे सतही बनाना सरल हो गया है। पिछले कुछ वर्षों से भारत में भी यह प्रक्रिया तेज हुई है। भक्त-कवि कबीरदास, सूरदास, मीरा-बाई आदि के कलात्मक प्रगीत फिल्मी गीतों की तरह गाए और रिकॉर्ड में भरकर बेचे जा रहे हैं। कई गायक इन महाकवियों के पदों को अपनी समझ के अनुसार 'कलाबाजी' और 'गलाबाजी' के लिए सुधार और बिगाड़कर गाते हैं। ऐसे गायक जनता की धार्मिक भावना और इन भक्त-कवियों के प्रति श्रद्धा का शोषण करते हुए कमाई करते हैं। ऊपर-ऊपर धार्मिक भावना का नाटक चलता है और भीतर कमाऊ-धंधा। महाजनी सभ्यता में कला की यही दुर्गति होती है।

शास्त्रीय-संगीत से लोकप्रिय-संगीत के सम्बन्ध पर विचार करते समय यह भी याद रखना उचित है कि संगीत की अवधारणा ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज है, इसीलिए इतिहास प्रक्रिया में 'संगीत' की अवधारणा भी बदलती रही है। प्रारम्भ में संगीत के अन्तर्गत—गायन, वादन तथा नृत्य—इन तीनों प्रकारों का समावेश था, परन्तु बाद में—वादन तथा नृत्य—यह कलायें संगीत से बाहर हो गयीं तथा इनका अलग अस्तित्व हो गया। इसके ठीक विपरीत जो कभी शास्त्रीय-संगीत के अन्तर्गत नहीं माना जाता था वह बाद में शास्त्रीय-संगीत की मुख्य गायन-शैली हो गया, जैसे—ख्याल-गायन-शैली प्रारम्भ में समाज में प्रतिष्ठित गायक नहीं गाते थे। वह इस संगीत-शैली को हेय समझते थे। परन्तु बाद में ख्याल-गायन-शैली शास्त्रीय-संगीत की सबसे लोकप्रिय गायन-शैली बनी। जो आज भी अपना प्रमुख स्थान संगीत-जगत में बनाये हुए है।

शास्त्रीय-संगीत-जगत में गायक व वादकों की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। यह सम्भव है कि एक समय कोई गायक बहुत उत्कृष्ट कोटि का गायक-कलाकार माना जाये लेकिन बाद में वह केवल लोकप्रिय गायक ही रह जाये। या एक समय जो गायक या वादक महज लोकप्रिय हो वही बाद में चलकर उत्कृष्ट कलाकार बन जाये।

इन उदाहरणों से यह तथ्य सामने आता है कि संगीत का शास्त्रीयता और लोकप्रियता में विभाजन कोई सार्वभौम या शाश्वत स्थिति नहीं है।

लोकप्रिय संगीत के समाजशास्त्र की आवश्यकता

विगत कुछ वर्षों से संगीत-जगत में शास्त्रीय-संगीत व लोकप्रिय-संगीत में प्रतिस्पर्धा चल रही है। खासतौर से व्यावसायिक संगीत में यह प्रवृत्ति बदलती जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि लोकप्रिय तुमरी संगीत से शास्त्रीय-संगीत की मुख्य विधा 'ख्याल' भी प्रभावित होने लगी है। स्वाभाविक भी है कि संगीत की दुनिया में लोकप्रिय होने के लिए शास्त्रीयता के कुछ बन्धन ढीले करने पड़ेंगे।

यह सर्वविदित है कि शास्त्रीय-संगीत समाज में इसलिए लोकप्रिय नहीं हो सका, क्योंकि आज इसने खासतौर से गायन के क्षेत्र में अपने-आपको केवल ध्रुपद-धमार और ख्याल के घेरे

तक ही सीमित रखा है। हमारे शास्त्रीय-संगीत में न तो नवीनता है और न सरलता है, न ही लोगों की पहुँच के अन्दर है। संगीत भले ही 'प्राइमरी' से विश्वविद्यालय तक पहुँच चुका है, लेकिन उसमें कहीं किसी प्रकार का बदलाव नहीं है। यही कारण है कि लोग फिल्मी गीतों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। हम 'लकीर के फकीर' ही बने हुए हैं। डॉ. प्रभा अत्रे के इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार हैं—“अगर हमें शास्त्रीय-संगीत की परम्परा को समृद्ध बनाना है तो सुगम-संगीत और गज़ल जैसी संगीत विधाओं को अपनी संगीत-शिक्षा में शामिल करना होगा। संगीत को केवल शास्त्रीय मानना अपने आप में भ्रम है।”

यदि शास्त्रीय-संगीत को वर्ग-विशेष का संगीत न बनाकर साधारण जनसामान्य का संगीत बनाना है तो, जब संगीत-कला गुणग्राही श्रोता बनाने के बदले जनरंजन-कला बनना चाहे तथा ज्यादा से ज्यादा श्रोता बनाने का लक्ष्य लेकर चलती है तब उसका यही स्वरूप होता है। जब संगीत-कला श्रोताओं को प्रबुद्ध बनाने के बदले जैसे-तैसे ग्राहक बनाने का लक्ष्य लेकर चलती है तब उसका यही स्वरूप होता है। कोई चाहे तो इसे शास्त्रीय-संगीत पर सिनेमा-संगीत का प्रभाव भी कह सकता है।

विगत कुछ वर्षों में हमारे शास्त्रीय-संगीत में परिवर्तन भी आया है। संगीत के क्षेत्र में परिवर्तन लाने वाले संगीतज्ञों में स्व. कुमार गंधर्व व पं. रविशंकर का नाम उल्लेखनीय है।

इस सदी के सबसे विवादास्पद संगीतज्ञ थे—कुमार गंधर्व। इसमें सन्देह नहीं कि उन जैसा व्यक्तित्व इस सदी में ही नहीं बल्कि इससे पहले भी कभी शास्त्रीय-संगीत में दिखाई दिया होगा। वह विद्रोही थे, क्रान्तिकारी थे। साहसी और निर्भीक भी थे। अच्छे-अच्छे उस्तादों और पण्डितों की कूपमंडूकता को आड़े-हाथों लेते उन्हें जरा देर नहीं लगती थी। शास्त्रीय-संगीत के वे कबीर थे। यह उन्होंने के साथ रहा कि संगीत-प्रेमियों का एक बड़ा वर्ग उन्हें आला दर्जे का गायक मानता है, तो दूसरा गुट उन्हें शास्त्रीय-गायक मानने से ही इन्कार करता है। उन पर बड़े दिलचस्प आरोप लगाए गये थे। कहा गया कि वह परम्परा-विरोधी हैं, राग-विरोधी हैं। वादी-संवादी सुरों का उनके लिए कोई मतलब नहीं होता। हर सुर उनकी मर्जी का गुलाम है। वह राग नहीं सप्तक गाते हैं। हिन्दुस्तानी शैली में कर्नाटक-संगीत गाते हैं। राग को वह शास्त्रीय-लोकगीत बना डालते हैं। शास्त्र उन्होंने फेंक दिए हैं। आवाज को घटाने-बढ़ाने की सस्ती तरकीबों से श्रोता को वह भरमाते हैं। उनके बनाए हुए राग वास्तव में राग हैं ही नहीं, केवल मोहक धुन-मात्र हैं। वह ख्याल-गायक नहीं, भजन-गायक हैं, भजनीक हैं,वगैरह, वगैरह।

पर कुमार गंधर्व पर इन चौतरफा हमलों का कोई असर नहीं पड़ा। उन्होंने अपनी साधना को जारी रखा। अभिजात-गायकी के मरणासन्न तत्त्वों को उन्होंने खुलकर चुनौती दी। गायकी के पारम्परिक ढाँचे को तोड़ डाला। उनका कहना था कि जब कविता लिखते वक्त, चित्र बनाते वक्त हम पुरानी कविता या पुराने चित्र को याद रखकर सृजन नहीं करते तो फिर शास्त्रीय-संगीत में ही हमसे ऐसी उम्मीद क्यों की जाती है कि हम बने-बनाए ढाँग से ही राग का महल खड़ा करें। परम्परा को पीकर ही उन्होंने रूढ़ियों के खिलाफ बगावत का झण्डा उठाया था।

शास्त्रीय-संगीत की प्रमुख विधा ख्याल-गायकी को तो नए आयाम मिले ही, साथ ही साथ कुमार गंधर्व ने भजन-गायकी को ठोस स्वरूप देने में भी बड़ी गम्भीर भूमिका निभाई।

सूर, मीराँ, तुलसी और कबीर पर उन्होंने ऐतिहासिक काम किया। कबीर के दर्शन को संगीत द्वारा खोलने के लिए उन्होंने जिस पैटर्न का विकास किया, वह इस सदी की महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है।

कुमार गंधर्व का महत्व नएपन में नहीं है। श्रोताओं को लुभाने की उनकी कला में भी नहीं है। उनका महत्व है उस चिन्तन में, जो सामंतीय रूढ़ियों को तोड़कर संगीत को लोकतंत्रीय जरूरतों को पूरा करने योग्य बनाता है। उसे परम्परा और 'संगीत-घराने' के नाम पर बलि होने से बचाता है।

इसी प्रकार पण्डित रवि शंकर एक विख्यात सितार-वादक, महान् कंपोजर बल्कि कहें, बीसवीं सदी की एक क्रान्ति हैं। इन्होंने भारतीय संगीत की खिड़कियाँ खोलीं। दमघोंटू कोठरी से निकालकर जिसने शास्त्रीय-संगीत को बड़े समाज तक पहुँचाया। ऐसे व्यक्तियों का ध्यान उसकी तरफ खींचा, जिनके लिए पक्का गाना-बजाना हास्यास्पद था, स्वर-लय की कवायद भर था। संगीत सचमुच एक कला है, इसका एहसास कराने में उनकी कोशिशों और सफलताओं का मुकाबला इस सदी का शायद ही कोई संगीतज्ञ कर सके।

शास्त्रीय-संगीत के आम कलाकारों में लोक-संगीत, सुगम-संगीत और फिल्म-संगीत के प्रति जैसा अछूत-भाव दिखाई देता है, उनमें कतई नहीं है। बेशक वे शास्त्रीय-संगीत के परम्परावादी कलाकार हैं, पर फिल्मों में संगीत देना भी उन्हें अच्छा लगता है। "घरती के लाल" (1946), 'नीचा नगर' (1946), 'अनुराधा' (1960), 'गोदान' (1963), 'मीराँ' (1979) जैसी हिन्दी फिल्मों तथा 'काबुलीवाला' और 'पाथेर पाँचाली' जैसी बंगला फिल्मों में उन्होंने पूरी मेहनत और मन से संगीत दिया था।

पं. रविशंकर भी अपने समाज और युग की देन हैं। बीसवीं सदी के मध्य की जबरदस्त सांगीतिक जरूरतों ने उनके व्यक्तित्व को गढ़ा था।

नए समाज की नई जरूरतों को समझने वाले पं. रविशंकर ही थे। कोई चीज होती आ रही है, सिर्फ इसलिए उसे करना पं. रविशंकर के विरुद्ध था। संगीत में हमेशा उन्होंने परम्परा को सहेजा, रूढ़ियों को नहीं। जो पारम्परिक नियम या सिद्धान्त हमारे मौजूदा समाज से मेल नहीं खाते उन्हें त्यागने में पंडित जी को ज्यादा देर नहीं लगती। यही कारण है कि अपनी आर्केस्ट्रा-रचनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए आपने पाश्चात्य वाद्यों का प्रयोग किया है। उन्होंने लिखा है—“पाश्चात्य वाद्य विशेषकर वायलिन और उसके परिवार के दूसरे वाद्य, भारतीय संगीत को बहुत ही खूबसूरती से प्रस्तुत कर सकते हैं और वास्तव में इनका इस्तेमाल भारत में प्रतिभावान कलाकारों द्वारा बरसों से होता भी रहा है। ...मैंने यह भी पाया कि किसी, आर्केस्ट्रा के टुकड़े में, जहाँ एक खास तरह के मंद्रगुण (बेस) की आवश्यकता है, वहाँ अगर 'चेलो' और 'डबल बेस' जैसे वाद्यों का इस्तेमाल किया जाए तो हमारे संगीत में स्वर की सघनता व सम्पन्नता में बढ़ोतरी हो जाती है। इन सम्भावनाओं के प्रति जबसे मैं सजग हुआ हूँ, अपनी भिन्न-भिन्न आर्केस्ट्रा-रचनाओं में वायलिन-परिवार के सभी वाद्यों का खुलकर इस्तेमाल करता हूँ।”¹

ऐसी न जाने कितनी चीजे हैं जो पं. रविशंकर के प्रगतिशील नजरिए को उजागर करती हैं।

इस प्रकार पं. रविशंकर व स्व. कुमार गंधर्व दोनों ही संगीतज्ञ, एक ओर संगीत की दुनिया में क्रान्तिकारी संगीतज्ञ कहलाते हैं व यश लूटते हैं और दूसरी तरफ जनरुचि का संगीत देकर पैसा भी कमाते हैं। शुरू-शुरू में सभी संगीत विद्वानों व समीक्षकों ने इसका विरोध किया तथा यहाँ तक भी कह डाला कि, पं. रविशंकर ने शास्त्रीय-संगीत की शास्त्रीयता को समाप्त करके उसकी बहुत हानि की है। पर बाद में सब शान्त हो गये तथा आज पं. रविशंकर तथा स्व. कुमार गंधर्व एक नये क्रान्तिकारी संगीतज्ञ के रूप में आज हमारे सामने हैं।

संगीत-जगत् में शास्त्रीय-संगीत के स्वरूप को देखा जाये तो हमारे शास्त्रीय-संगीत-संसार की जटिलता व विविधता सामने आती है। संगीत के प्रचार व प्रसार की दृष्टि से विचार किया जाये तो यह समझते देर नहीं लगेगी कि शास्त्रीय-संगीत ही संगीत की दुनिया में एकमात्र वास्तविकता नहीं है, तथाकथित लोकप्रिय-संगीत—भजन, गज़ल, फिल्मी-संगीत भी एक वास्तविकता है। इस सच्चाई से भी सभी परिचित हैं कि संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक रिकॉर्डिंग व बिक्री लोकप्रिय संगीत की होती है। प्रसिद्ध शास्त्रीय-संगीतज्ञ पं. रविशंकर, पं. भीमसेन जोशी तथा किशोरी अमोनकर द्वारा गाये गये रागों के रिकॉर्डों की संख्या जगजीतसिंह-चित्रासिंह, गुलाम अली की गज़लें, अनूप जलोटा के भजन व लता मंगेशकर व आशा भोंसले आदि पार्श्वगायिकाओं के फिल्मी-संगीत के रिकॉर्डों से कम ही होगी। इसका मतलब यही है कि शास्त्रीय-संगीत के श्रोताओं की संख्या से लोकप्रिय-संगीत के श्रोताओं की संख्या बहुत अधिक है। लोकप्रिय-संगीत के श्रोता सभी वर्गों के लोग होते हैं।

समाज के प्रत्येक वर्ग का छोटे-से-छोटा बच्चा हो या बड़े-से-बड़ा व्यक्ति हो, सभी के होठों पर किसी-न-किसी फिल्म के गीत की गुनगुनाहट रहती है। यत्र-तत्र-सर्वत्र फिल्म-गीत गूँजते रहते हैं। जनमानस में इन गीतों का इतना अधिक प्रभाव इसके विकास का तो द्योतक अवश्य है, पर साथ ही शास्त्रीय-संगीत के लिए एक बहुत बड़ी रुकावट भी है। आज का शास्त्रीय-संगीत अब 'दरबारी' और 'बादशाही' दीवारों को लाँघकर लोक-जीवन के आँगन में पहुँच चुका है। आज इसे जनता का संरक्षण तो प्राप्त है लेकिन जनसाधारण में इसकी लोकप्रियता का हास हो रहा है।

एक संगीत-सेमिनार में डॉ. प्रभा अत्रे ने शास्त्रीय-संगीत की घटती लोकप्रियता की स्थिति पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—“भारतीय जीवन में संगीत की विभिन्न शैलियाँ व्याप्त हैं, जिसे हम शास्त्रीय-संगीत कहते हैं, उसका श्रोतावर्ग बहुत छोटा है। इसके विपरीत फिल्मी-संगीत आज आम आदमी का संगीत बन गया है।” यह बिल्कुल सत्य है। इतने बड़े श्रोता समुदाय की उपेक्षा करके संगीत के समाजशास्त्र पर बात करना बेमानी है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'लोकप्रिय संगीत' संगीत-संसार की समग्रता की एक ऐसी सच्चाई है जिसके अस्तित्व को अस्वीकार करना भ्रम में जीना है। वह अच्छा है या बुरा, आवश्यक है या अनावश्यक, समाज के लिए हानिकारक है या लाभकर यह सुवाल विचारणीय हैं। लेकिन इन सवालों पर विचार करने से पहले यह स्वीकार करना जरूरी है कि उसका अस्तित्व है और वह अस्तित्व

संगीत-संसार के विशिष्ट नागरिकों अर्थात् उच्च शास्त्रीय-संगीतज्ञों की आकांक्षाओं के विपरीत और अनिच्छा से बावजूद सच है।

असल में हमारे यहाँ संगीत दो विभागों में बँटा है—शास्त्रीय-संगीत व सुगम-संगीत। एक वर्ग में संगीत के विशिष्ट गायक आते हैं, जिन्हें शास्त्रीय-गायक कहा जाता है। ये लोग आज भी अपने चारों ओर शास्त्रीय-संगीत की शास्त्रीयता, पवित्रता व उच्चता बनाये रखना चाहते हैं। संगीत-संसार के दूसरे भाग में लोकप्रिय-संगीत के संगीतज्ञ हैं। यद्यपि संगीत के प्रथम वर्ग के गायक दूसरे वर्ग के गायकों को नीचा समझते हैं, परन्तु कभी-कभी उनसे प्रभावित होकर अपनी कला का रूप निखारते हैं या परिवर्तित करते हैं। संगीतज्ञों को यह सोचना व मानना अच्छा लगता है कि वह एक स्वतन्त्र संसार के नागरिक हैं, अपनी चेतना के भीतर संप्रभुतासम्पन्न हैं, लेकिन वे जिस समाज में रहते हैं, उससे न तो उनकी चेतना पूरी तरह स्वतन्त्र होती है और न उनका संगीत-संसार। समाजवादी समाजों में संगीत का ऐसा विभाजन भले ही न हो, लेकिन पूँजीवादी समाजों में हर जगह शास्त्रीय-संगीत और लोकप्रिय-संगीत का विभाजन मौजूद है। पूँजीवादी समाज में संगीत के ये दोनों रूप और उनकी दुनिया का विकास पूँजीवादी अवस्था के दबावों के प्रभावों से बनता-बिगड़ता है। जब से संगीत दरबार से निकलकर स्वतन्त्र आधार लिए हुए बाजार की वस्तु बना है तब से सम्पूर्ण संगीत-व्यापार, बाजार से संचालित होने लगा है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में संगीत का गम्भीर और सतही, कलात्मक और लोकप्रिय कोई भी रूप बाजार के दृश्य और अदृश्य प्रभावों से बच नहीं पाता। इसलिए कुछ समाजशास्त्रियों ने पूँजीवादी समाज के सम्पूर्ण सांस्कृतिक क्षेत्र को “प्रतीकात्मक वस्तुओं का बाजार” कहा है।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी समाजशास्त्री **पियरे बोर्डिए** ने लिखा है कि—पूँजीवादी समाज में संस्कृति के क्षेत्र में परस्पर जुड़ी हुई संस्थाओं और व्यक्तियों की एक पूरी व्यवस्था होती है। ये संस्थाएँ और व्यक्ति सांस्कृतिक वस्तुओं के उत्पादन, पुनरुत्पादन और वितरण में अपनी-अपनी भूमिका निभाते हैं। प्रत्येक सांस्कृतिक वस्तु एक बिकाऊ वस्तु होती है जिसका व्यावसायिक मूल्य होता है, लेकिन साथ ही वह एक प्रतीकात्मक वस्तु भी होती है जिसका विशिष्ट सांस्कृतिक मूल्य भी होता है। इस तरह सांस्कृतिक उत्पादन के दो रूप हैं—छोटे पैमाने का उत्पादन और बड़े पैमाने का उत्पादन। छोटे पैमाने के उत्पादन में आर्थिक लाभ गौण होता है और प्रतीकात्मक मूल्य मुख्य होता है। बड़े पैमाने के उत्पादन में आर्थिक लाभ मुख्य होता है और प्रतीकात्मक मूल्य गौण। बोर्डिए के अनुसार कलात्मक संगीत के क्षेत्र में छोटे पैमाने का उत्पादन चलता है और लोकप्रिय संगीत में बड़े पैमाने का। छोटे पैमाने के उत्पादन की वस्तुओं का मूल्य उनकी दुर्लभता पर निर्भर होता है, उनमें स्थायित्व होता है, जबकि बड़े पैमाने पर उत्पादित वस्तुएँ अधिक सुलभ होती हैं और अल्पजीवी भी। दोनों प्रकार के उत्पादन में श्रोता और बाजार की चिन्ता होती है, लेकिन छोटे पैमाने का उत्पादन सापेक्षतः स्वायत्त होता है जबकि बड़े पैमाने का उत्पादन पूरी तरह बाजार और श्रोताओं पर निर्भर होता है। **बोर्डिए** ने ठीक लिखा है कि “दोनों प्रकार के उत्पादन एक व्यापक व्यवस्था के भीतर साथ-साथ चलते हैं और दोनों की सार्थकता-निरर्थकता भी एक-दूसरे की सापेक्षता में घटती-बढ़ती है। शास्त्रीय-संगीत और लोकप्रिय-संगीत के समानान्तर स्वतन्त्र अस्तित्व और उनके आपसी सम्बन्ध को समझने में इस दृष्टिकोण से मदद मिल सकती है।

मध्यकालीन भक्ति-संगीत का समाजशास्त्र

मध्यकालीन भक्ति-संगीत के समाजशास्त्र की दिशा में आगे बढ़ने से पहले यह समझ लेना जरूरी है कि 'भक्ति-संगीत' क्या है ? संगीत को सभी ने भक्ति का श्रेष्ठतम उपादान माना है। विश्व की विभिन्न जातियों के विभिन्न धर्मों में संगीत को उपासना का प्रधान अंग माना गया है। गिरजाघरों में उपासना के समय जो घण्टा-नाद एक विशाल जन-समूह को एकत्रित कर लेता है, उसमें संगीत ही तो है। उच्च स्वर से होने वाली मस्जिदों की अजानों में भी यही संगीत काम कर रहा है। अपने अमर कल्याण के लिए प्रार्थना करते समय मन्दिरों में नाना प्रकार के वाद्यों के साथ सुबह से शाम तक कीर्तन-भजन आदि का जो कार्यक्रम चलता है उसमें संगीत ही एकमात्र आधार होता है। बल्कि यों कहा जाए कि हमारी आर्य संस्कृति में भक्ति और संगीत का प्रणय-बन्धन सुदृढ़ व अटूट है, तो अतिशयोक्ति न होगी। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि संगीत भक्ति के लिए ही है।

यही नहीं, समस्त देवताओं के साथ संगीत का सम्बन्ध चोली-दामन जैसा रहा है। बिना संगीत के देवताओं की कल्पना ही निराधार है। कैलाशपति भोले शंकर का डमरू के घोष के साथ तांडव नृत्य, साथ ही पार्वतीजी का लास्य तो जगत् प्रसिद्ध है ही। देवर्षि नारद के इकतारे की झंकार अभी तक झंकृत है। विद्या की अधिष्ठात्री माँ-सरस्वती की कल्पना तो उनकी वीणा के बिना अधूरी ही है। विश्व-मोहिनी वंशी के जादूगर कन्हैया की तान क्या कोई भूल पाया है। जब अपने आराध्य को ही संगीतमय देखा, तो भला भक्त कैसे इस जादू-भरे संगीत को छोड़ अपने भगवान् को रिझाने के लिए किसी अन्य वस्तु का सहारा लेता।

इस प्रकार भारतीय भक्ति-परम्परा एवं संगीत-परम्परा में एक विशेष एवं महत्वपूर्ण तथ्य परिलक्षित होता है और वह है भक्ति एवं संगीत का परस्पर अटूट रूप में सामंजस्य। वस्तुतः भारतीय इतिहास में भक्ति के साथ संगीत और संगीत के साथ भक्ति परस्पर समानान्तर एवं पूरक रूप में प्रवाहमान रही है। भक्तों ने अपने गीतिपदों को संगीत तत्त्व में निमज्जित करके रचा और गाया। बल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में आज भी भिन्न-भिन्न समयों पर प्रभु के पूजा-उपक्रमों में पद गाये जाते हैं। अष्टछाप के कवियों ने इसी परम्परा के अन्तर्गत ही अपने भक्तिपरक विविध-पद विविध-रागों में रचे हैं। सगुण-भक्ति-धारा में सूर, तुलसी, मीराँ इत्यादि भक्ति-कवियों ने प्रभु-उपासना एवं पूजा के लिए तो अपने पद रचे ही, साथ-ही-साथ निर्गुण-काव्य-धारा के सन्तों ने भी अपनी भावना को गीतात्मक पद-रचनाओं में रूपायित किया था। इस प्रकार यह एक सामान्य तथ्य है कि परम्परागत प्राचीन निर्गुण एवं सगुण भक्तों ने

अपनी जो पद-रचनायें की हैं उनमें संगीत-तत्त्व भी समाहित रहा है और उनकी रचनाओं का गीतात्मक शैली में होना ही उन्हें संगीत तत्त्व में सम्पृक्त कर देता है। इतना ही नहीं अपितु प्राचीन ध्रुपद-धमार-ख्याल-गायकी में अधिकांश संगीतकारों ने अपनी विविध राग-रागिनियों के लिए सामान्यतः उन भक्तों की भक्ति-रचनाओं को ही चुना है। यही कारण है कि भक्तों के वाणी ग्रन्थों में उनकी रचनाओं के साथ-साथ विविध रागों का उल्लेख भी लिखित रहता है किन्तु इस सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता है कि इन भक्ति-पदों के साथ लिखे गये राग-रागिनियों के नाम स्वयं रचयिता भक्तों ने ही लिखे हैं अथवा बाद में संकलनकर्त्ताओं ने इन रागों का उल्लेख विविध पदों के साथ कर दिया है, यह स्वयं में ही एक अध्ययन का एक विषय बना हुआ है।

सभी धाराओं ने, चाहे वे निर्गुण के कबीर, दादू, तुकाराम हों या सगुण के सूर, तुलसी, मीराँ, चैतन्य महाप्रभु आदि; सभी ने संगीत को किसी-न-किसी रूप में अपनाया। उनके लहराते-उमड़ते भक्ति-काव्य-सिन्धु में निमग्न होने पर जगत् अपने को विस्मृत कर बैठता है। आज भी हमारे कानों में भक्त-प्रवर सूर, तुलसी, चैतन्य, मीराँ, स्वामी हरिदास के भक्तिवर्द्धक मंजुल गान गूँज रहे हैं। इस प्रकार अन्य भक्तों ने भी अपने आराध्य पर संगीत भरी पुष्पांजलियाँ अर्पित कीं। भक्ति-संगीत से सात्विक भावनाओं को जन्म मिला।

मीराँ, सूर, तुलसी इत्यादि के मानस से प्रसूत यह वाणी शत-शत नर-नारियों को भक्ति से आप्लावित करने में पूर्णतया समर्थ है। आज भी मीराँ के भाव-प्रवण पदों में प्रेमविह्वल हो 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई' की धुन में भक्तों के पैर थिरक उठते हैं और सूरदासजी की कृष्ण-बाल-लीलाओं के रस से सराबोर हो अपूर्व आनन्द से आप्लावित हो जाते हैं।

भजन भूले-भटकों के मार्ग-दर्शक हैं। इनमें समस्त जीवन का सार रहता है और आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति रहती है। ये भजन अपने मौलिक विचार व तात्त्विक सामग्री के कारण राष्ट्र व अध्यात्म की अमर धरोहर बन जाते हैं। कबीर, सूर, तुलसी, मीराँ आदि के ऐसे सैकड़ों गीत सामाजिक कसौटी पर चढ़कर अपनी मधुर धुनों के कारण लोकप्रिय बन गये हैं। इन भजनों की मूल धुनें अत्यन्त ही प्राथमिक व एकांगी होती हैं, परन्तु जनता के कण्ठों पर पहुँचकर उनमें अपूर्व रंगों का निखार आता है। सहस्रों कण्ठों द्वारा गाये जाने वाले इन भजनों को सुनकर आशा व उत्साह का सागर लहराने लगता है।

लोक जीवन में सूर, तुलसी, मीराँ आदि भक्त-कवियों के भजन खूब प्रचलित हुए तथा वृन्दावन में भजन-गायन को 'समाज-संगीत' भी कहा गया है। चैतन्य महाप्रभु के षड्गोस्वामियों में प्रमुख आचार्य जीवगोस्वामी के अनुसार—'रस की निष्पत्ति किस व्यक्ति में होती है ? उत्तर है—'सहृदय सामाजिक में'। 'सामाजिक कौन है ?' उत्तर है—'भक्ति-काव्य को पढ़ने वाला या उसका गायन करने वाला', 'जहाँ ऐसे भक्ति-काव्य का पाठ अथवा गायन होता हो, वही समाज है।' इस कारण भजन-गायन 'समाज-संगीत' नाम से मान्य हुआ।

भक्त कवियों की रचनाओं का समाजशास्त्र—प्रश्न किया जा सकता है कि मध्यकालीन भक्ति-संगीत के समाजशास्त्र का क्या औचित्य है ? आधुनिक संगीत-जिज्ञासु जब भक्ति रचनाओं पर दृष्टि डालता है तो वह उसे अपने ढँग से देखता-समझता है। चाहता है कि भक्ति के अलावा समाजशास्त्र के सन्दर्भ में भी उसकी व्याख्या करे और विचारे कि उसके कौन-से उपादान सामाजिक हैं। उसको 'समाज-संगीत' क्यों कहा गया है ?

भक्ति-संगीत मेरी दृष्टि में, केवल भक्ति-रचना ही नहीं है, वह एक समाजशास्त्र और संस्कृति भी है; देव-चरित तो एक आधार है, जिसके माध्यम से कवि को अपना आशय व्यक्त करना है।

भक्त-कवियों की रचनाओं का प्रयोजन केवल लीला-गान, प्रार्थना भाव, निवेदन नहीं है, यद्यपि समर्पण की भूमिका महत्वपूर्ण है। इस दृष्टि से भक्ति वैयक्तिक आकांक्षा से परिचालित न होकर, सामाजिक आशय से सम्पन्न है। भक्ति को केन्द्र में रखकर चलने वाले भक्त-कवियों के लिए पूरा समाज जैसे उनके सामने ही उपस्थित है। इस प्रकार भक्ति-रचनाओं की प्रतिबद्धता है—सामाजिक हित का भाव। भक्त-कवियों की रचनाओं में भक्ति को माध्यम बनाया गया है, काव्यनायक चुने, कर्मगाथा तथा लीलागान का सहारा लिया गया है और वैयक्तिक संवेदन के माध्यम से विराट् जनसमूह की भावनाओं को अभिव्यक्ति दी गई है।

रचना की प्रक्रिया यों भी संश्लिष्ट होती है और उसकी सही पहचान के लिए उन प्रेरक उपकरणों की तलाश करनी होती है जिन्होंने उसे स्थापित किया है। रचनाकार की विचाराधारा से लेकर समय-समाज तक की प्रेरणाएँ इसमें आ जाती हैं। पर यदि रचना वैयक्तिक प्रयत्न नहीं है और किसी वैचारिक आन्दोलन के भीतर उसका व्यक्तित्व निर्मित हुआ है, तब तो यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम उसकी परीक्षा उस समय-सन्दर्भ में करें, जिस पर वह स्थित है। और फिर यह कि अपने समय से उसका संघर्ष रचना-स्तर पर क्या और कैसा है ?

भक्ति-आन्दोलन भारत का एक व्यापक वैचारिक उन्मेष है, जिसने पूरे महादेश को प्रभावित किया और सभी देशी भाषाओं में एक नयी सर्जन-सक्रियता को गति दी। इसी अर्थ में भक्ति-रचनाओं के समाजशास्त्र की बात कही जाती है। यहाँ रचना में पण्डित-पुरोहित वर्ग का परम्परागत वर्चस्व टूटता है और सामान्यजन को केन्द्रीयता मिलती है। भक्त-कवि साधारण मध्यम-निम्न वर्ग से आते हैं और बिना किसी लाग-लपेट के सहज-सरल दो-टूक भाषा में अपनी बात कहते हैं। इतना ही नहीं, उसके पास अपना सुचितन समाजशास्त्र तो है ही, जहाँ जीवन-जगत् पर नयी दृष्टि से विचार किया गया, किन्तु अपनी सर्जनशीलता में कलात्मक स्तर पर वह समृद्ध है और उसका विकसित सौंदर्यशास्त्र भी है। इन दोनों के सही संयोजन से महान् रचनाशीलता अग्रसर होती है।

भारत में स्वयं भक्ति का स्वरूप सामाजिक दबावों में बनता-बिगड़ता रहा है। सेवा और प्रेम के संयोजन से निर्मित 'भक्ति शब्द' वैदिक युग से लेकर भारतीय मध्यकाल तक अनेक सारणियों में गुजरा है। प्रकृतिदेव में आस्था रखनेवाली आर्य संस्कृति का सम्पर्क जब अन्य अनार्य अथवा आर्येतर संस्कृतियों से हुआ तब चिंतनधारा में परिवर्तन आना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। वैदिक युग के सर्वशक्तिशाली इन्द्र देवेन्द्र, देवाधिदेव आदि पदों से विभूषित हैं और जिस विष्णु को केन्द्र में रखकर आगे चलकर वैष्णव-धर्म का विकास हुआ, जिसे भागवत-धर्म, भक्ति आदि का समानार्थी माना गया है, वे इन्द्र के सखा मात्र हैं। संहिताओं में इन्द्र को सम्बोधित साढ़े तीन हजार मंत्र की तुलना में विष्णु से सम्बद्ध केवल पाँच ऋचायें हैं, दोनों की स्थिति स्वयं स्पष्ट हो जाती है। पर यह तथ्य विचारणीय है कि इतिहास के लम्बे दौर में वैदिक देवता इन्द्र का स्थान विष्णु को मिल जाता है जो वैष्णव-धर्म के केन्द्र-पुरुष बनते हैं और इन्द्र जलदेवता के रूप में जैसे नेपथ्य में चले जाते हैं। इतना ही नहीं, कृष्णकाव्य में गोवर्धन-पूजा के प्रसंग में कृष्ण

इन्द्र को चुनौती देते हैं, गोकुलवासियों से कहते हैं, “छाँड़ि, देहु सुरपति की पूजा, कान्ह कह्यो गिरि गोवर्धन तें और देव नहिं दूजा ।” केन्द्रीय-पुरुष के रूप में विष्णु की नयी व्याख्याएँ होती हैं, उन्हें अलौकिक भूमि से किंचित हटाकर जीवन-प्रवाह से जोड़ने का प्रयत्न भी किया जाता है। प्राचीन वैष्णव-मत के प्रसिद्ध विद्वान् जे. गोंडा विष्णु को वनस्पति, भोजन, अन्न, उर्वरता आदि से जोड़कर उन्हें नया सामाजिक आशय देते हैं जो भक्ति-रचना की रचनाशीलता की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। देववाद का अवतारवाद में रूपांतरण, उपनिषदों में भक्तिचिंतन का विकास, पुराणों का लीला-जगत् ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं, जिन्होंने भक्ति का निरन्तर मानुषीकरण किया। वैष्णवधर्म पर विचार करते हुए डॉ. सुवीर जायसवाल ने नर-नारायण की परिकल्पना को सभ्यता के विकास की सूचना माना है और विष्णु-नारायण के संयोग को भक्ति की नयी सक्रियता कहा है।

भक्ति का एक समाजशास्त्र है जिसके आरम्भ में बौद्धिक प्रयत्न अधिक है, अथवा दूसरा पक्ष कर्मकांडी है। भक्ति को केन्द्र में रखकर चिन्तन-मनन विकसित किया गया। महाभारत में श्वेतद्वीप की कल्पना की गयी जहाँ भक्तजन वास करते हैं और गीता में कर्मयोग के साथ भक्तियोग को स्वीकारा गया, उसे ‘राजविद्या’ कहा गया। इस प्रकार बाह्यकाल का यज्ञ-कर्मकाण्ड का पक्ष है, जिससे पुरोहितवाद को प्रश्रय मिलता है, पर उपनिषद् गीता आदि के दार्शनिक-वैचारिक प्रयत्न हैं जिनमें कई बार सामाजिक चेतना भी दिखाई देती है। गीता में भक्तियोग की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सर्वभूतों के साथ मित्रता का व्यवहार करता है, जो करुण-कृपालु है, जो ममत्वबुद्धि तथा अहंकार से रहित है, जो सुख-दुःख में समान एवं क्षमाशील है, जो संतुष्ट, संयमी, दृढ़निश्चयी है और समर्पित है, वह योगी भक्त सर्वप्रिय है। निश्चय ही यहाँ भक्ति को उच्चतर मूल्य-चिंतन से सम्बद्ध किया गया है। इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न भागवत में हुआ जहाँ भक्ति, लीला के माध्यम से प्रमाणित है। इस दृष्टि से भागवत का सामाजिक महत्त्व असंदिग्ध है, जहाँ कहा गया है कि इसके द्वार सबके लिए उन्मुक्त हैं। मध्यकाल तक आते-आते भक्ति-चिंतन की कई दिशाएँ देखी जा सकती हैं।

आलवारों का समय लगभग छठी-नवीं शती स्वीकार किया जाता है जो दक्षिण में पल्लव नरेशों का शासनकाल है जिन्होंने भक्ति को भरपूर प्रश्रय दिया। आलवारों ने शास्त्र-पांडित्य की सीमाएँ तोड़ीं, ब्राह्मण-वर्चस्व को अस्वीकार कर दिया और सामान्य-वर्ग में जन्मे इन संतों ने जनभाषा में अपनी सहज भावनामयता व्यक्त करते हुए, सामान्यजन को सीधे ही सम्बोधित किया। जैन-बौद्ध धर्म ने कर्मकाण्ड आधारित ब्राह्मण धर्म को वैचारिक स्तर पर पहली महत्त्वपूर्ण चुनौती दी थी, अनात्मवाद-अनीश्वरवाद के रूप में। आलवारों ने संहिताबद्ध-भक्ति के स्थान पर भावनामयता-सम्पन्न-भक्ति का आग्रह किया जिसकी परम्परा चैतन्य महाप्रभु तक देखी जा सकती है। भागवत् का उदार भक्ति-चिंतन और कृष्ण को केन्द्र में रखकर रचा गया लीला-संसार सम्पूर्ण भक्तिकाव्य की प्रेरणा बनते हैं और कृष्णकाव्य का तो वह मूलाधार ही है। भागवत् का भक्ति-चिंतन-पक्ष नवधा-भक्ति के रूप में विवेचित हुआ, श्रवण-कीर्तन से लेकर आत्मनिवेदन तक जहाँ भक्ति के समाजीकरण का प्रयत्न देखा जा सकता है।

एक ओर भावनामय-भक्ति है, लीला-संसार है जहाँ अवतारों का मानवीकरण होता है ताकि सामान्यजन में उसकी विश्वसनीयता बने, तो दूसरी ओर अब भी भक्तिचिंतन की दिशा में

बौद्धिक प्रयत्न हैं। इस प्रकार भक्ति-रचनाओं का जो समाजशास्त्र विकसित होता है, उसकी दो दिशाएँ हैं। एक देवत्व का मानुष रूप में अवतरण जहाँ नायक को जीवन संघर्ष से गुजारा गया है ताकि वह अधिकाधिक विश्वसनीयता पा सके। दूसरी ओर दर्शन-विचारधाराएँ हैं, जहाँ भक्ति तथा दार्शनिक प्रश्नों की, जैसे—जीव-ब्रह्म, सगुण-निर्गुण-जगत्-माया आदि की व्याख्याएँ हैं।

मध्यकालीन भक्ति-चिंतन में वैष्णवाचार्यों की भूमिका का अपना महत्व है। शंकराचार्य से असहमति व्यक्त करते हुए वे शंकर-वेदान्त को अस्वीकार कर देते हैं। भक्ति-चिंतन को नयी गति मिलती है। द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत व्याख्याएँ होती हैं और चार प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय बनते हैं। रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी को केन्द्र में रखकर मत-सम्प्रदाय, मठ-पीठ की स्थापना हुई।

भक्ति का शास्त्र बनाने के प्रयत्न में भक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना शिथिल हुई, इसे स्वीकारना होगा। पर इस भक्ति-चिंतन में कई ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें हम प्रगतिशील कह सकते हैं। इनमें सबसे प्रमुख है—भक्ति के रूप में एक ऐसा वैचारिक-भावात्मक विकल्प जहाँ जाति-वर्ण-वर्ग की सीमाएँ टूटती हैं। भक्ति के पथ में सब एक हैं—

“जाति-पाँति पूछे नहीं कोई,

हरि को भजै सौ हरि को होई।”

दार्शनिक मत-मतांतर जो आपस में वैचारिक संघर्ष करते हैं, भक्ति में विलयित होते हैं—

“कोइ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने,

तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सौ आपुन पहिचाने ॥”

भक्ति एक प्रकार से मध्यकालीन सामन्ती समाज में वैचारिक विकल्प की तलाश का प्रयत्न है। वैष्णवाचार्यों के अगले क्रम में दो और नाम महत्वपूर्ण हैं—रामानन्द और बल्लभाचार्य—जिनमें सुधारक का रोल भी है जिसे हम गुरुनानक तक में देख सकते हैं। भक्ति-चिंतन की यह समाज-सुधार की प्रवृत्ति हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है। जिससे भक्ति का सामाजिक आशय शिथिल पड़ जाता है। पर कबीर जैसे विद्रोही कवि भी हैं जो एक ओर भक्ति के समर्पण भाव को स्वीकार करते हैं, दूसरी ओर प्रखर सामाजिक चेतना से सम्पन्न हैं। जातीय-सौमनस्य का प्रयत्न सूफियों ने प्रेममार्ग के माध्यम से किया जिसमें मलिक मोहम्मद जायसी जैसी प्रतिभाएँ हैं। भक्ति-चिंतन में प्रवृत्ति, शरणागति अथवा समर्पण पर बहुत बल दिया गया है और भक्ति-रचनाओं की रचनाशीलता को सही गति देने के लिए यह एक उपयोगी तत्त्व है। अहं के विलीनीकरण से हम सात्त्विकता की ओर अग्रसर होते हैं, पर साथ ही एक सामाजिक-चेतना से भी सम्पन्न बनते हैं। स्वयं से बाहर निकलना, समाज में सम्मिलित होना है। अतः भक्त-कवियों की रचनाओं में विनय-दैन्य-भाव के मूल में जो समर्पण है उसमें उनकी सामाजिक चेतना भी सम्मिलित है।

भक्ति-रचनाओं की इस भूमिका की जानकारी इसलिए भी जरूरी है क्योंकि दो प्रमुख अवतार राम-कृष्ण की लम्बी परम्परा है और उनके लीला-संसार के कवियों ने अपने ढँग से स्वीकारा है। भक्त-कवियों की रचनायें जीवन से सीधे साक्षात्कार पर बल देती हैं, इस अर्थ में कि जो लीला-संसार अवतार को केन्द्र में रखकर रचा गया, वह अपने कतिपय अलौकिक संकेतों

के बावजूद, इस पृथ्वी पर घटित होता है। भक्ति-रचनाओं का यह लोकधर्म-समाजशास्त्र उसका सबसे सबल पक्ष है जो शताब्दियों के उतार-चढ़ाव में उसे प्रासंगिक बनाये हुए है। लोक की यह उपस्थिति बहुआयामी है और उसके कई पक्ष हैं। अवतार मानव-रूप में संचरित होते हैं, यहाँ तक कि हर्ष-विषाद से भी गुजरते हैं। कई मर्यादाओं ने राम की सीमा निश्चित कर दी पर कृष्ण की सहज भूमि में सब कुछ स्वीकृत है और वे पूरी भाव-प्रगाढ़ता से राधा-गोपियों को मानते हैं। इन देवताओं के क्रिया-कलापों की मानव-भूमि है—लगभग एक संघर्ष-गाथा। मध्यकालीन सामन्ती समाज के अधिनायक शासकों के विकल्प रूप में भक्त-कवियों ने अपने आराध्य को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने भक्ति का एक नया समाजशास्त्र रचना के माध्यम से निर्मित करने का प्रयास किया, जहाँ किसी माध्यम की ऐसी अनिवार्यता नहीं है जिसके अभाव में मनुष्य देव से सीधा साक्षात्कार न कर सके। गुरु का महत्त्व है, विवेक प्राप्त करने के लिए और इस दृष्टि से वह अप्रतिम आलोकदाता है। सत्संगति का महत्त्व है जिससे भी विवेक जागृत होता है, पर जीव अपने आराध्य को सीधे ही सम्बोधित कर सकता है, आधुनिक युग के सम्बोध-गीत की तरह। तुलसी की विनय-पत्रिका, सूर के प्रार्थना-पद, मीरा के समर्पण-पद इसके प्रमाण हैं।

लोक-उपादानों का प्रयोग करते हुए भक्ति-रचनाओं की दृष्टि यथार्थपरक है। इन भक्त-कवियों का अपने समय के जीवन से गहरा समीपी परिचय है और वे किसी सुवर्णकाल की भ्रांत धारणा में नहीं जीते। कबीर का आक्रमण हर प्रकार के मिथ्याडम्बर पर है क्योंकि वह कथनी और करनी का अन्तर स्वीकार नहीं कर सकते।

भारतीय जीवन में लोकोत्सव एक प्रकार से सामाजिक-सामूहिक-चेतना के वाहक हैं, जहाँ व्यक्तिवादी सीमाएँ टूटती हैं। फाग-होली, चाँचरि, वसंतोत्सव आदि का वर्णन यह प्रमाणित करता है। लोकोत्सव के लिए कृष्ण-काव्य को प्रमुखता दी गई है। पर जहाँ कहीं तुलसीदास को अवसर मिला है उन्होंने राम को लोकोत्सव के बीच उपस्थित किया है, जैसे—सीता-राम-विवाह का प्रसंग। वास्तव में भक्ति-रचनायें लोक-जीवन से सम्बन्धित हैं। रानी नागमती जायसी के पद्मावत में जिस बारहमासा से गुजरती है, उसमें सामान्य नारी की व्यथा-कथा है। लोक-संगीत भी भक्ति-रचनाओं की समाज-स्वीकृति में वृद्धि करता है क्योंकि वह अक्षरों से बाहर निकलकर जनता की वाणी में समा जाता है।

प्रमुख भक्त-कवि भारतीय ग्रामजन, सामान्य-वर्ग के ईमानदार प्रवक्ता हैं, इसमें संदेह नहीं। यह उनकी रचनाओं से अभिव्यंजित होता है। इसीलिए उनकी उपस्थिति बहुत व्यापक है, वे वाचिक-परम्परा के अविभाज्य अंग बन गये हैं और उन्हें सामान्यजन की असाधारण स्वीकृति मिली है।

आधुनिक सन्दर्भ में भक्त-कवियों की रचनाओं की चर्चा के केन्द्र में ईश्वर-आधारित आस्तिकता के स्थान पर अन्य मानवीय उपादान हैं जिन पर विचार होना चाहिये, क्योंकि आज भी इसकी प्रासंगिकता है। अपनी मध्यकालीन सीमाओं में भी भक्ति-रचनाओं का अपना समाजशास्त्र-सौंदर्यशास्त्र है—यह हम कबीरदास, तुलसीदास, सूरदास तथा मीराबाई आदि कुछ महान् भक्त-कवियों की रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट करेंगे।

कबीर-कृत भक्ति-रचनाओं का समाजशास्त्र—कबीरदास की रचनाओं का एक विचारणीय समाजशास्त्र है। कबीर किसी पांडित्य का दावा नहीं करते और विनय-भाव से

स्वीकारते हैं कि उनके पास शास्त्र की जानकारी नहीं है; 'मसि कागद छूओ नहीं'। कबीर के लिए शास्त्र, पांडित्य एक प्रकार के पुरोहितवादी अवयव हैं, जिनसे सामान्यजन को कोई सही दिशा नहीं मिलती। उनकी अपनी परिभाषा है, "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय; ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।" हिन्दू-मुस्लिम टकराहट के सामाजिक कारक मध्यकालीन समाज में सक्रिय रहे हैं और दोनों जातियों के पुरोहितवाद ने अपने निहित स्वार्थों के लिए संकुचित भावों को उत्तेजित किया। कबीर मुल्ला-पंडित दोनों को फटकारते हैं और जातीय सौमनस्य की बेजोड़ मिसाल के रूप में उन्हें प्रस्तुत किया जा सकता है। अपने मंतव्य का आरम्भ वे 'अहं की मुक्ति' से करते हैं, जिसकी ध्वनि सामाजिक है। कबीर अपने ढंग के समाजवादी हैं और छुआछूत पर व्यंग्य करते हैं, 'कहु पंडित सूचा कवन ठाऊँ, जहाँ बैसि हऊँ भोजन खाऊँ।' अपने समय के विकृत समाज पर तीखी टिप्पणियाँ करने में कबीर निर्भय हैं, पर सामाजिक सदाशयता से परिचालित।

अतः कबीर की भक्ति-रचनाओं का सामाजिक पक्ष है—वर्ण-जाति-वर्ग, अस्पृश्यता, कर्मकाण्ड, मिथ्याडम्बर, बाह्याचार, पुरोहिती आदि का विरोध, जो उनके मध्यकालीन समाज के प्रति विक्षोभ-आक्रोश की उपज है।

तुलसी-कृत भक्ति-रचनाओं का समाजशास्त्र—मध्यकालीन भक्त-कवि तुलसीदास की भक्ति रचनाओं का सामाजिक दृष्टि से अध्ययन करने के पश्चात् हम निःसंकोच कह सकते हैं कि तुलसी सच्चे अर्थों में 'जनकवि' कहे जा सकते हैं क्योंकि उन्होंने अत्यन्त प्रचलित रामकथा के माध्यम से सामान्य जन-जीवन का चित्रण किया है। उन्होंने देवभाषा छोड़कर उन्हीं की बोली में भक्ति-रचनायें कीं। इसके पीछे उनकी वृहत्तर सामाजिक-चेतना दिखायी देती है। तुलसी की भक्ति-रचनाओं में काफी बड़ा जीवन-विस्तार आ समाया है, जिसके कारण वह जनकवि के रूप में जाने-माने जाते हैं।

सामाजिक मूल्यों का निर्माण समय-समाज की पीठिका पर होता है और सार्थक रचना इससे पलायन नहीं कर सकती। तुलसी जिस मध्यकाल की उपज हैं, वह सामन्ती समाज है और वैभव का जो उल्लेख तत्कालीन दरबारी-इतिहास-लेखकों ने किया है वह 'विशिष्ट वर्ग' तक सीमित है जिसमें राजकुल के अतिरिक्त सूबेदार-मनसबदार, अमीर-उमरा, सभासद आदि आते हैं पर इसमें जनसामान्य की व्यथा-कथा सम्मिलित नहीं है।

तुलसी मुख्यतया भारतीय ग्राम-समाज के प्रवक्ता हैं, जो सामन्ती दबावों को सबसे अधिक झेलता आया है। यही कारण है कि तुलसी के राम समाजनायक, लोकनायक हैं जिनके माध्यम से तुलसी किन्हीं सामाजिक मूल्यों का प्रक्षेपण करना चाहते हैं। कलिकाल के माध्यम से तुलसी ने मध्ययुग के भारतीय समाज के लड़खड़ाते मूल्यों की भयावह स्थिति दिखाई है। समाज की स्थिति : अधर्म, अहंकार, धनमदमत्त, वाचाल, उग्रबुद्धि, दम्भी, मोहबद्ध, लोभी, आचारहीन व्यवस्था—हर दृष्टि से मूल्यहीनता। नैतिक मूल्य ढह गये हैं और गुरु अपने नैतिक दायित्व का पालन नहीं करते। मध्यकालीन यथार्थ का प्रमाण यह है कि यहाँ अकाल, दुर्भिक्ष का संकेत भी है—

“कलि बारहिंबार दुकाल परे,

बिनु अन्न दुःखी सब लोग मरे ॥”

इतिहास इसकी पुष्टि करता है।

तुलसी की भक्ति-रचनाओं से ज्ञात होता है कि वह अपने समय के सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्षों से परिचित हैं। परन्तु वह कबीर की तरह पंडित-मुल्ला दोनों को दो-दूक शब्दों में फटकार नहीं सकते। सम्भवतः इसी कारण तुलसी को वर्ण-आश्रम का पक्षधर घोषित किया जाता है। तुलसी कई बार ब्राह्मण को अधिक आदर देते हुए दिखाई पड़ते हैं।

“पूजिअ विप्र सील गुन हीना, शूद्र न गुन-गन-ग्यान प्रवीना। किन्तु तुलसी को स्वयं अहंसा है कि केवल जाति से ब्राह्मण होने के कारण इनमें अहंकार इस सीमा तक न आ जाये कि वे अपने नैतिक दायित्व को भूल जायें। इसलिए उन्होंने व्यवस्था दी है कि मनुष्य कर्म से ऊपर उठ सकता है। रावण पूर्व जन्म में ब्राह्मण रहा होगा, पर अपने कुकर्म से राक्षस हुआ। इसके विपरीत निषादराज तथा वानरों को राम की सेवा का अवसर मिला और वे मोक्ष के अधिकारी हुए।

इसी प्रकार तुलसी कृत रचना के आधार पर उन्हें नारी-निंदक के रूप में चित्रित किया जाता है और उन पर लांछन है कि वे पुरुष-वर्ग के पक्षधर हैं। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तुलसी ही सीता को नारी के सर्वोत्तम गुणों से विभूषित कर उन्हें ‘माँ जानकी’ कहकर सम्बोधित करते हैं। राक्षस नगरी में त्रिजटा और मंदोदरी जैसी मानवीय नारियों की कल्पना भी तुलसीदास ने की है। मंदोदरी के व्यक्तित्व का पतिव्रत-पक्ष उस समय उभरता है, जब रावण का वध होने पर वह विलाप करती है। तुलसी नारी को पतिव्रत-धर्म की शिक्षा देते हैं—

“एकइ धर्म एक व्रत नेमा, काय वचन मन पतिपद प्रेमा।”

हो सकता है कि तुलसी बहुविवाह के विरोधी हों क्योंकि उनके समय में इसका प्रचलन था। राजा दशरथ की दुर्गति का एक कारण यह भी हो सकता है। नयी पीढ़ी की आक्रोशी मुद्रा को वह लक्ष्मण के इस कथन से प्रकट करते हैं—“कंदुक इव ब्रह्माण्ड उठावें”।

दशानन से राम की वैयक्तिक शत्रुता नहीं है। ‘विश्वदुःखदाता’ कहकर तुलसी ने उसे एक सामाजिक उत्पत्ति के रूप में चित्रित किया है। तुलसी ने सीता से यह कहलवाया है—“केहि विधि मरहि विस्व दुःखदाता।”

यद्यपि राम में देवत्व की प्रधानता है पर वे मानवीय गुणों के उच्चतम शिखरों पर आसीन हैं। हमें समाजशास्त्रीय दृष्टि से उनके मानवीय पक्षों पर विशेष दृष्टि डालनी होगी जहाँ वह साधारण मानव हैं, जैसे—लक्ष्मण-मूर्छना-प्रसंग अथवा सीता के लिए राम की पीड़ा। कई बार तुलसी स्वयं कहते हैं कि देवराज मनुष्यों की तरह बिलख रहे हैं।

अतः तुलसी की सामाजिक-चेतना के बनने में मध्ययुग की सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का हिस्सा है और इस्लामी सभ्यता ने भी उस पर दबाव डाला है। ऊपर-ऊपर देखने पर तुलसी केवल भक्तिमार्गी दिखायी देते हैं पर जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति उनकी दृष्टि बौद्धिक है, जैसे—बालि जब अपने अन्तिम क्षणों में कहता है, “मैं बैरी सुग्रीव पियारा, अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।”

उसका उत्तर है—“अनुज-वधू, भगिनी, सुतनारी; सुन सठ कन्या-सम ए चारी। इन्हिं कुदृष्टि त्रिलोकहिं जोई, ताहि बधैं कछु पाप न होई॥”

इसी प्रकार की तर्कशीलता के अन्य प्रसंग हैं जो तुलसी की सामाजिक-चेतना के प्रमाण हैं।

तुलसी की भक्ति-रचनाओं के विवेचन से ज्ञात होता है कि उनकी कल्पना में मानवीय दृष्टि बराबर सक्रिय है। जिस राजा के राज्य में प्रजा दुःखी रहती है, वह नरक का अधिकारी होता है। मुखिया को मुख के समान होना चाहिए, जो खान-पान के लिए एक हो, पर विवेक के साथ सकल अंगों का पालन-पोषण करे (दोहावली : दोहा 522)। राजा जनता से कर ले, जैसे सूर्य किरणों के सहारे जल सोख लेता है पर जनकल्याण के रूप में वह राशि फिर जनता को लौटा दे, जैसे—वर्षा के मेघ (दोहावली : दोहा 508)। सामन्ती परिवेश के बावजूद राम जनमत का सम्मान जानते हैं और तुलसी उन्हें एक आदर्श शासक के रूप में चित्रित करते हैं। 'रामराज्य' एक मनोरम कल्पना है। तुलसी की सामाजिक-चेतना की सही मानवीय पहचान से ही उनका समूचा व्यक्तित्व खुलता है और आज के सन्दर्भ में उनसे नये साक्षात्कार की आवश्यकता है।

सूर-कृत भक्ति-रचनाओं का समाजशास्त्र—सूरदास जी त्यागी, विरक्त और प्रेमी भक्त थे। उन्होंने अपने उपास्य श्री राधारानी और श्रीकृष्ण का यश-वर्णन ही श्रेय-मार्ग समझा। गोपी-प्रेम की ध्वजा भारतीय काव्य-साहित्य में फहराने में वे अग्रगण्य स्वीकार किये जाते हैं।

सूर के पदों का संगीत-विधान भी बहुत आकर्षक है। उनके बहुसंख्यक पद ऐसे हैं जहाँ रस और पद-भाव के अनुकूल राग-शीर्षक के चयन में सूर ने अपने संगीत-ज्ञान का स्पष्ट परिचय दिया है। अतः “अष्टछाप” के कवियों में सर्वोत्कृष्ट गायक सूरदास ही थे। सूरदास की रचनाओं की सार्थकता उसकी मानवीय संलग्नता में निहित है और इस दृष्टि से सूर के मानवीय पक्ष पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

‘सूरसागर’ में कृष्ण-गाथा के माध्यम से सूरदास जी कृष्ण के व्यक्तित्व को एक सामाजिकता देना चाहते हैं जो मानवीय संलग्नता से ही सम्भव है। इसके लिए उन्होंने सर्वप्रथम कृष्ण का मानवीकरण किया। इतना ही नहीं, उसे सहज मानवी-भूमि पर उतारकर, कर्म भरे श्रृंगार से जोड़ा जहाँ मध्यकालीन शरीरवाद-भोगवाद को नकारते हुए, कृष्ण को रसिकता की उदात्त भूमि पर रखा गया है। कृष्ण का मानवीकरण करते हुए सूर लीलागान करते हैं और कवि संकेत करता चलता है कि कृष्ण देवपुरुष हैं, पर जीवों के आनन्द के लिए वे मानव-रूप में अवतरित होते हैं। मनुष्य-समाज से जोड़ने के लिए वे लोक-जीवन की अनदेखी नहीं करते। गोपिकाएँ यशोदा के पास उलाहना देने आती हैं, पर अनजाने ही उसके सौन्दर्य की प्रशंसा भी कर जाती हैं—“बचन विचित्र कमल दल लोचन, कहत सरस बर बानी।”

सूर कृष्ण को लोक-जीवन की खुली भूमि पर रखते हैं। वास्तव में सूर की रचनाशीलता की क्षमता इस तथ्य में निहित है कि कवि कृष्ण के प्रसंग में अनेक कथाओं-लीलाओं का उपयोग करते हुए, उन्हें निरन्तर सामाजिक बनाये रखते हैं, जन्म से लेकर द्वारिका-निवास तक।

कृष्ण के व्यक्तित्व को नन्दग्राम की सामन्ती सीमा से बाहर निकालकर, सूर कृष्ण को वृन्दावन की खुली भूमि पर ले जाते हैं जहाँ वह ग्वाल-बालों के बीच अपना जीवन बिताते हैं। वृन्दावन के प्रसंग केवल कृष्ण के बाल-चरित तक सीमित नहीं हैं, उनके जीवन के रसिक प्रसंग भी उससे गहरे रूप से जुड़े हैं। मध्यकालीन रचना-संसार के सन्दर्भ में सूर का भौतिक प्रदेय यह है कि भक्ति-चेतना के माध्यम से उन्होंने रूमानी प्रसंगों को प्रस्तुत किया है। पर सूर को इस बात का भी अहसास है कि यदि अपने नायक को पूर्ण-मनुष्य की भूमिका में उतारना है तो केवल

रसिक-रेखाओं से काम नहीं चल सकता। बिना अतिरिक्त आरोपण का सहारा लिए हुए, सूर बताते चलते हैं कि यह सब कृष्ण की लीला है—जीवों के सुख के लिए। पर हमारा ध्यान उस ओर भी जाना चाहिए जहाँ कृष्ण के व्यक्तित्व को एक नयी सामाजिक सार्थकता दी गयी है। एक ऐसा प्रसंग गोवर्धन पूजा का है जिसके माध्यम से कवि कृष्ण के नायकत्व को सामाजिक-मुक्तिदाता का रूप देना चाहता है। गोकुल-रक्षा के लिए कृष्ण उँगली पर गोवर्धन उठा लेते हैं और ब्रजमण्डल के महारक्षक बनते हैं।

हर सार्थक कवि किसी-न-किसी रूप में अपने समय-समाज के देसी सन्दर्भों से जुड़ा होता है। इस दृष्टि से सूर में मध्यकालीन ब्रजमण्डल का लोक-जीवन कई तरह से झँकता है। गोकुल, वृंदावन, यमुना, ग्वालबाल, गोधन, दधिमाखन सब उस दृश्य को प्रामाणिकता देते हैं। लगता है जैसे मध्यकालीन ब्रजमण्डल अपने ढेरों संस्कारों के साथ यहाँ उपस्थित है। उसकी मोहक प्रकृति पृष्ठभूमि का कार्य करती है और ब्रज के लोक-विश्वास, तीज-त्यौहार, टोना-टोटका सब वहाँ प्रवेश कर जाते हैं। अतः मध्यकालीन ब्रज-संस्कृति की पहचान के लिए “सूरसागर” एक सन्दर्भ-कोष जैसा दिखायी देता है। “सूरसागर” में कवि ने बराबर ऐसे प्रसंगों का उपयोग किया है जिससे ब्रज के लोक-जीवन का पता चलता है।

अतः सूर ने मध्यकालीन सामन्ती परिवेश के विलासी जीवन को लगभग नकारते हुए, भक्ति को उदात्त प्रवृत्तिमार्गी मोड़ दिया ताकि सामान्यजन उसमें सम्मिलित हो सकें और जाहिर है कि गहरी मानवीय संलग्नता से उन्होंने इस कार्य को पूरा किया। चरितनायक कृष्ण को जीवन की खुली भूमि पर लाकर, सूर ने उनके व्यक्तित्व को नये सन्दर्भ दिये, नयी अर्थदीप्ति दी, लोक-जीवन के बीच उन्हें प्रस्तुत किया। किसी रचना की इससे बड़ी सामाजिकता और क्या हो सकती है ? सूर जैसे जागरूक कवि मानवीय-सामाजिक आशय से सम्बद्ध हैं और उन्होंने ब्रज-भूमि के माध्यम से किसान-चरागाही संस्कृति को उजागर करना चाहा है। सूर की रचनाओं में जो ब्रजमण्डल उपस्थित है वह ग्रामजन, कृषक-समाज और चरवाहों की जिन्दगी का समाज है—सीधा-सादा, सरल-निश्छल।

सूर कृष्ण-जन्म के साथ ही विभिन्न संस्कारों का वर्णन करते हैं, जो कि लोक-जीवन में प्रचलित थे। नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ, कर्णछेदन, कलेवा आदि के प्रसंगों को सूर ने लिया है। ज्योतिषीजी कृष्णजन्म सुनकर उपस्थित हैं और सारी गणना के बाद कुंडली तैयार करते हैं (पद 704) जिसमें मध्यकालीन हिन्दू-संस्कारों तथा नियतिवादी आस्था का आभास मिलता है। मांगलिक अवसरों पर बन्दनवार बाँधना, चौक पूरना, प्रांगलिक कलश, वेदध्वनि, मुहूर्त, लग्न आदि की चर्चा है। ब्रज के उत्सव को सामाजिकता प्रदान करना सूर के काव्य को जनसामान्य से जोड़ता है। सौ से अधिक पदों में सूर ने झूलन, बसन्त, होली का वातावरण प्रस्तुत किया है।

अतः सूर की रचनाशीलता का मुख्य बिन्दु कृषक-चरवाहा संस्कृति से प्रेरणा पाता है और यह उनकी रचनाओं को ऐसी सामाजिकता देता है जिससे वे एक कालजयी कवि हैं।

मीराँ-कृत भक्ति-रचनाओं का समाजशास्त्र—मोर-मुकुट पीताम्बरधारी, नरनागर, गिरवरधारी, श्याम-सलौने कृष्ण के आगे मतवाली होकर नाचने वाली प्रेम-दीवानी मीराँ हिन्दी-साहित्य की एक कवयित्री के रूप में सामने आईं। लेकिन उनके पदों को देखकर प्रतीत

होता है कि 'जनम-जनम की प्यासी मीराँ' ने अपने हृदय की भावनाओं को गीतिकाव्य का आश्रय लेकर अपने भाव-सुमनों को अपने 'प्यारे हरि' के चरणों में अर्पित किया था। अतः वह दीवानी कवयित्री बाद में, पहले एक भक्त-गायिका रही, जिसने अपने सुरों की चोट से अपनी आकुलता को गीतिकाव्य के रूप में निःसृत किया था। मध्यकाल में संगीत के आध्यात्मिक स्वरूप की जो उन्नति हुई, उसमें मीराँ के पदों का बहुत बड़ा "योगदान" रहा है।

मीराँ के एक-एक पद में रस है, भाव है। और यह रस संगीत के सुरों से भरा हुआ है, क्योंकि 'स्वर' ही रस का स्रष्टा है। वस्तुतः उनके काव्य का केन्द्रीय-भाव प्रेम है। आराध्य की स्तुति, रागात्मक भाव का प्राधान्य, प्रणयानुभूति, लीलाभान, आत्मसमर्पण और कल्पना के साथ गेय-तत्त्व सर्वोपरि है जो इतना सहज है कि हम सबके कण्ठ में उतर जाता है।

जैसा कि सर्वविदित है कि रचना की सार्थकता का प्रश्न सामाजिक-चेतना से गहरे रूप में जुड़ा होता है क्योंकि कवि इससे बचकर नहीं निकलना चाहेगा। शताब्दियों बाद भी सामाजिक-चेतना से संपृक्त मीराँबाई की रचनायें बासी नहीं पड़ीं और इस अर्थ में उसे 'कालजयी' कहा जाता है।

ध्यान दें कि मध्यकाल का सामन्ती ढाँचा और राजकुल में जन्मा एक स्त्री-स्वर, जो एक साथ कई स्थितियों से टकराता है। जौधपुर के राठौड़ वंश, मेड़तिया शाखा में जन्मी मीराँ को वैष्णवभावना के संस्कार पैतृक-परम्परा के रूप में प्राप्त हुए। मीराँ के इन आरम्भिक संस्कारों का विकास सामन्ती राजपरिवेश में हमें देखने को मिलता है। मीराँ की जो जीवन-रेखाएँ उपलब्ध हैं उनसे ज्ञात होता है कि यौवनकाल तक आते-आते उन्होंने कई मृत्यु अपने परिवार-जन की देखी और अंत में उनका सुहाग भी जाता रहा।

मृत्यु एक यथार्थ है परन्तु भक्ति-चिंतन में भक्ति इससे मुक्ति का एक उपाय है। "हम न मरें, मरि है संसारा" यह कबीर की गर्वोक्ति भर नहीं है, भक्त-कवि का आत्मविश्वास भी है। मरणशील जीवन का अहसास मीराँ को अपेक्षाकृत कम आयु से हुआ और वैधव्य के साथ उनमें एक विरक्ति का भाव गहराता है। माया-मोह का यह संसार चार दिन का है, इसलिए मीराँ लोक के निषेध की बात करती हैं। पर यह कबीरी निर्गुनिया ढँग का संन्यासी स्वर नहीं है, उन्हें कृष्ण में एक विकल्प मिलता है। वह विकल्प के रूप में कृष्ण का वरण करती हैं।

मध्यकालीन सामन्ती परिवेश को देखते हुए, आध्यात्मिक पतिदेव के रूप में, मीराँ द्वारा कृष्ण का वरण, एक क्रान्तिकारी निर्णय है, विशेषतया नारी की स्थिति को ध्यान में रखते हुए। मीराँ के आराध्य कृष्ण हैं, जिन्हें प्राप्त करने के लिए वे संघर्ष के लिए तत्पर हैं। जनश्रुतियों के आधार पर कहा जाता है कि मीराँ की सामाजिक-भक्ति को राजकुल की मर्यादा का अतिक्रमण समझकर उन्हें समाप्त करने का प्रयत्न तक किया गया—विष का प्याला, साँप की पिटारी आदि।

मीराँ के पद इस विषय में उद्धृत किये जाते हैं—

“साँप पिटारा राणा भेज्यो मीरा हाथ दियो जाय।

न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम गई पाय ॥

जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय ॥”

यहाँ प्रश्न यह है कि लोक-लाज के निषेध की इतनी चर्चा मीराँ में क्यों है ? जैसे—कुल कुटुम्ब सजण सकल बार-बार हटकी; भलो कह्यौँ काँइ बुरो री, सब लिया सीस चढ़ाय; डारयाँ सब लोक-लाज सुध-बुध बिसराई, साधो संग बैठ-बैठ लोक-लाजखोई आदि ।

वैयक्तिक प्रसंगों के अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि मध्यकाल में जिस समय मीराँ थीं, उस समय वह मरुभूमि आपसी सामन्ती संघर्ष में उलझी थी ! सामन्तवाद अपने अंतर्विरोधों में फँसा था, जिसने भी मीरा के कोमल संवेदन को भक्ति की दिशा में अग्रसर किया हो, तो इसे स्वाभाविक ही कहा जायेगा । राणा को सम्बोधित पदों में मीराँ की पीड़ा व्यक्त हुई है—

“नहीं भावे थारो देसलड़ों रंगरूड़ो,
थारे देसा में राणा साध नहीं छै,
लोग बसे सब कूड़ो ॥”

अपने समय के विश्वोभ के प्रति संवेदनशील कवयित्री की पंक्तियाँ सामाजिक व्यथा का संकेत भी करती हैं ।

मीराँ में शरणागति-भाव की प्रमुखता है । जिसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । सामान्य-जन के लिए शरणागति सर्वोत्तम मार्ग है और यह है भक्ति का सामाजीकरण । यहाँ सभी दीवारें टूटती हैं, वर्ण-वर्ग-जाति-संप्रदाय की । भक्त अपनी बात सीधे ही आराध्य से कह सकता है, मध्यस्थ की कोई जरूरत नहीं ।

मीराँ भक्ति-काव्य में एक विशिष्ट आदर की अधिकारिणी हैं । उनमें व्यक्ति-समाज के द्वन्द्व की रेखाएँ देखी जा सकती हैं, विशेषतया मध्यकालीन सामन्ती परिवेश में नारी-मुक्ति की छटपटाहट । भक्ति इसी का एक संकल्प है । मीराँ की रचनाओं के माध्यम से हम समाज में नारी-सम्मान की प्रतिष्ठा का प्रयत्न देखते हैं और मध्यकालीन परिवेश को देखते हुए, यह पक्ष सराहनीय है । वे अपनी सीमाओं से परिचित थीं, इसलिए उन्होंने वाचिक-परम्परा से स्वयं को जोड़ा तथा कीर्तन-गायन-भजन माध्यम बनाये । पैतृक-परम्परा के रूप में प्राप्त संगीत-साधना ने उनकी सहायता की । पद राग-रागिनियों में बँधे और सामान्यजन की जुबान पर चढ़ गये । विद्यापति के पद गाये जाते हैं । तुलसी ने अपने समय में ही रामलीला की व्यवस्था की । सूर के पद भी लोग राग-भाव से गाते हैं । कबीर जनता की वाणी हैं ।

गायन-परम्परा की अपनी शक्ति-सामर्थ्य मध्यकालीन भक्ति-काव्य में रही है और मीराँ भी उसी क्रम में हैं । उन्होंने लोकभाषा को अपनाया है । इस लोकोन्मुखता के कारण मीराँ की पदावली पाठ्यकाव्य बनकर नहीं रह गयी और वह समाज में प्रसारित हो सकी । मीराँ के पद शास्त्रीय-गायन के साथ लोक-गायन से जुड़ गये । उनके पदों में एक सीमित संवेदना है पर वे हमारे बीच अपनी उपस्थिति का एहसास कराती हैं । मध्यकाल के परिवेश को देखते हुए वे सर्जनात्मक प्रतिभा का जो उपयोग कर सकीं; वह उनकी क्षमता का परिचायक है । वे सीमाओं का अतिक्रमण कर सकीं, इस दृष्टि से सराहनीय हैं ।

संगीत का समाजशास्त्रीय महत्त्व

संगीत के समाजशास्त्रीय विश्लेषण से सम्बन्धित विभिन्न अध्यायों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत का समाजशास्त्रीय महत्त्व है। संगीत के समाजशास्त्रीय महत्त्व को निम्नांकित क्षेत्रों में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. संगीत व्यक्तित्व के विकास का आधार—व्यक्ति समाज की सबसे छोटी एवं महत्वपूर्ण इकाई है। व्यक्ति ही सम्बन्ध स्थापित करता है। यही समूह बनाता है। अतः यह आवश्यक है कि समाज के हित में व्यक्तिगत जीवन को संगठित रखा जाय। व्यक्तिगत जीवन को संगठित रखने में भी संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति को प्रसन्न रखने और प्रत्येक स्थिति में प्रणय प्रदान करने वाला एक महत्वपूर्ण आधार है। भौतिक साधनों की सहायता से उद्देश्य को प्राप्त न कर सकने से व्यक्ति में निराशा और आत्महीनता के दोष उत्पन्न हो जाते हैं लेकिन संगीत ही एक ऐसा आधार है जो असफलता की स्थिति में भी 'ईश्वरीय इच्छा' का विश्वास दिलाकर व्यक्ति को पुनः दुःख से अपना कार्य करने की प्रेरणा देता है। संगीत व्यक्ति के जीवन के महत्त्व को स्पष्ट करके, पवित्र भावनाओं का विकास करके तथा मानसिक चिन्तन से छुटकारा दिलाकर व्यक्तित्व का विकास करने में सबसे अधिक सहायक है। यदि मनोवैज्ञानिक आधार पर संगीत के महत्त्व को समझने का प्रयत्न किया जाये तो स्पष्ट होता है कि संगीत व्यक्ति के मन को सबसे अधिक नियन्त्रित रखता है। इस तथ्य से व्यक्तित्व के समुचित विकास में संगीत का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

2. संगीत संस्कृति की रक्षा का आधार—संस्कृति किसी भी समाज की अमूल्य निधि होती है। संस्कृतिविहीन समाज का कोई अस्तित्व नहीं होता। भारतीय संस्कृति अति प्राचीन एवं गौरवमयी है। वास्तव में किसी भी समाज का स्वरूप उस समाज की संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होता है। यद्यपि सभी समाजों में संस्कृति की रक्षा करने में संगीत का योगदान महत्वपूर्ण रहता है, लेकिन हिन्दुस्तानी संगीत ने अपने व्यावहारिक और उपयोगी स्वरूप के कारण हमारी संस्कृति को हजारों वर्षों से स्थायी बनाए रखा। संसार में कितनी संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ समय-समय पर विकसित हुईं और समाप्त हो गईं, लेकिन सम्पूर्ण मानव इतिहास में वैदिक संस्कृति के समान कोई भी संस्कृति दृढ़ न रह सकी। उदाहरण के लिए सुमेर, बेबिलोनिया, मिस्र, रोम और हिब्रू सभ्यताएँ आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले ही समाप्त हो गईं।

श्री विनोदाभावे जी संस्कृति की परिभाषा करते समय कहते हैं कि संस्कृति मानव की वह प्रवृत्ति है जो उसे निजी भाव-क्षेत्र में अन्य व्यक्तियों को भी सम्मिलित करना सिखाती है। वह व्यक्ति अपनी चीजों की अनुभूतियों का आनन्द बाँटता है। संक्षेप में हम संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—संस्कृति जीवन-यापन की वह पद्धति है जो मानव को परिवेश से समझौता करने के संस्कार विकसित करके समाज में रहना सिखाती है। सामान्यतया संस्कृति शब्द का अर्थ वैज्ञानिक ढंग से जीवन-यापन है। इसे अँग्रेजी में The way of living or Pattern of living कहते हैं। प्रत्येक देश की संस्कृति के घटक होते हैं—वहाँ का प्रचलित धर्म, इतिहास, रीति-रिवाज और कलाएँ।

संस्कृति के विकास का अर्थ है व्यक्ति के आचार-विचार में विकास। मानव के विकास में नैतिक, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक, शारीरिक एवं मानसिक विकास अवश्य होते हैं। उसके साथ भावाभिव्यक्ति भी आवश्यक है, जिसके लिए संगीत उपयोगी सिद्ध होता है। मानव के आचार एवं विचारों के परिवर्तन के साथ संगीत में भी परिवर्तन होता गया। आवश्यक संस्कारों को मनाते समय संगीत में शब्द भी जुड़े। संगीत शब्दरूप हो गया। संस्कारों का परिवर्तित रूप है त्यौहार। त्यौहारों में एकत्रित होकर सामूहिक रूप में गायन करने की प्रथा समाज में प्रारम्भ हुई। मानव को अग्नि के अस्तित्व का ज्ञान हुआ। वह अग्नि, वायु, आकाश को देवता मानने लगा। उन्हें प्रसन्न करने के लिए यज्ञ प्रारम्भ हुए। यज्ञ करने के लिए वेदों का पाठ आवश्यक था। इस पाठ के लिए सामूहिक गायन एवं उसमें आरोही-अवरोही स्वर आवश्यक थे। यहीं पर सामवेद का पाठ हुआ जिससे संगीत का प्रारम्भ माना जाता है। सामवेद का गायन ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए होता था। रामायण और महाभारत काल में संगीत की स्थिति भिन्न हुई। अयोध्यानगरी नृत्य, गायन एवं वादन से गूँजती रही। भासकृत 'वासवदत्ता' नाटक से पता चलता है कि राजा उदयन, रानी को वीणा सिखाते थे। तत्पश्चात् संगीत का उपयोग युद्ध-काल में सैनिकों को प्रोत्साहित करने हेतु किया जाने लगा। उसका स्वरूप उत्तरोत्तर रंजनात्मक होने लगा। मुस्लिम राजाओं ने संगीतकला को राजाश्रय दिया। कला की जानकारी एवं प्रवीणता, सुसंस्कृत होने का लक्षण बन गया। हिन्दु राजाओं ने भी संगीत को राजाश्रय दिया। अँग्रेजी शासन-काल में कलाओं पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ा। संगीत-कला का यह सौभाग्य था कि वह इस प्रभाव से दूर रही। संगीत-कला का उद्धार करने का श्रेय रवीन्द्रनाथ ठाकुर और पंडित पलुस्कर व पंडित भातखण्डे को दिया जाना चाहिये।

भारतीय संगीत की विशेषता है कि दैनिक व्यवहार में भी प्रातःकाल से रात्रिकाल पर्यन्त समयानुरूप गीतों का उसमें प्रावधान है। इसी कारण आचार-विचार का एवं संगीत का विकास एक साथ होता गया। सभ्य समाज में प्रचलित सुसंस्कृतता की धारणा के अनुरूप संगीत में एवं गीतों में भी परिवर्तन होता गया। परिवर्तित परिवेश के कारण उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में किया गया परिवर्तन विकास का एक चरण ही है। उसी के अनुरूप नये-नये गीत-प्रकारों का निर्माण होता गया। नये गीत-प्रकारों के कारण संस्कृति का भी विकास होता गया।

प्रातःकाल में उठने पर जो हम मन्त्र पढ़ते हैं, भजन गाते हैं, वे सारे ही हमारी संस्कृति के निदर्शक हैं। प्रातःकाल से ही ईश्वर का नामस्मरण करने से दिन के सारे कार्य मंगलकारी होते हैं। यह धारणा हमारे संस्कारों को दर्शाती है। उक्त गीत-प्रकारों में अनेक रागों की धुनें प्राप्त होती हैं। समाज में प्रचलित संस्कृत श्लोक, ईश्वर की पूजा में गाई जाने वाली आरती, मजदूरी करते समय गाये जाने वाले गीत, किसानों द्वारा गाये जाने वाले गीत, विवाहादि संस्कारों पर रचे गीत, ये सारे गीत-प्रकार समाज में परम्परागत चले आ रहे हैं।

कालान्तर में नित्य व्यवहार में परिवर्तन आया। अर्थोपार्जन के लिए पुरुषों के साथ महिलाओं ने भी घर के बाहर कदम रखा। महिलाओं का कार्यक्षेत्र बदलने के कारण संगीत भी प्रभावित हुआ। धार्मिक संस्कारों के गीतों एवं लोकगीतों के प्रचार में कमी आई। जीवन में अत्यधिक व्यस्तता आई। अतएव लोगों को नयी रुचि के अनुसार सिने-संगीत, भाव-गीत, नाट्य-संगीत भाने लगा। संगीत-श्रवण की इच्छा पूर्ण करने के लिए समाज ने रेडियो, ग्रामोफोन, टेपरिकॉर्डर आदि आधुनिक साधनों को स्वीकृत किया।

सामाजिक विकास के साथ संगीत में सूक्ष्मता आई। समाज के प्रत्येक प्राणी की आकलन शक्ति समान नहीं होती। अपने-अपने भावात्मक एवं चिन्तनात्मक विकास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को विशिष्ट संगीत अच्छा लगता है।

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो गया है कि वेदकाल से अब तक हमारे जीवन के साथ संगीत किस प्रकार जुड़ा रहा। संगीत के साथ-साथ संस्कृति का भी विकास होता गया, यह भी सिद्ध ही है। प्लेटो (Plato) ने भी कहा है—“किसी भी देश की संस्कृति और सभ्यता का अनुमान उस देश की संगीत-कला की अवस्था से लगाया जाता है।”

3. संगीत देश की एकता में सहायक—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए संगीत भी मनुष्य से जुड़ा होने के कारण समाज में अपना विशेष स्थान रखता है। समाज के निर्देशक वेद ने भी संगीत के महत्त्व को स्वीकारा और एकता में सहायक माना है। इसलिए तो ‘ऋग्वेद’ की ऋचाओं को स्वरात्मक करके एक वेद का निर्माण कर उसे ‘सामवेद’ नाम दे दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि अलग-अलग ऋचाओं को संगीत के एक सूत्र में बाँधकर मनुष्यों की अलग-अलग इकाई होते हुए भी उन्हें एक सूत्र में रहने का संकेत दिया है। अनेक समाज-सुधारक व मनीषियों ने संगीत को समाज में एकता लाने के लिए प्रयोग किया है। समय-समय व स्थान-स्थान पर सस्वर कीर्तन व ग्रन्थ-पाठ करके वे समाज में एकता लाने का प्रयास करते थे। देश की राजकीय परिस्थिति को भाँपकर संगीत के माध्यम से देश-प्रेम की भावना को जागृत करते थे और आज भी संगीत इस भूमिका को भली-भाँति निभा रहा है। कारण, यह धर्म-जाति-सम्प्रदाय-प्रान्त के बन्धन से परे है। संगीत-जगत सापेक्ष होते हुए भी निरपेक्ष है। यह किसी से बाधित नहीं होता, यह समस्त जगत को एकसूत्र में पिरोए हुए है। प्रख्यात कलाकार-गायक पंडित भीमसेन जोशी की बुलन्द आवाज में गाये गये भैरवी राग के इस गीत “मिले सुर मेरा तुम्हारा तो सुर बने हमारा” की अलग छवि है। सुर-लय-ताल-राग और

फोटोग्राफिक खूबसूरत दृश्यों और जाने-माने सिने कलाकारों के संयोग से इस गीत की अवतारणा में जिन दृश्य और श्रव्य विद्याओं को सम्मिलित करके दूर-दर्शन के छोटे-से पर्दे पर साकार करने का जो प्रयास किया गया है, यह अपने में एक सफल और अनुपम प्रयोग है। इस गीत के दौरान दूरदर्शन के दर्शकों में कम-से-कम उस समय तो अवश्य ही देश-प्रेम और एकात्मकता की सिहरन अवश्य उठती होगी। एकता को लेकर चलने वाले इस गीत का मुख्य उद्देश्य यही है कि “हम सब एक होंगे।” “मेरा-तेरा” को लेकर हर जगह आज लड़ाई-झगड़े के आसार नजर आ रहे हैं। भिन्नता के इसी वातावरण में अभिन्नता का सुर भरने के लिए ही हमारी सरकार ने ‘संगीत’ जैसी विश्वजनीन भाषा के माध्यम से इस गीत के प्रसारण का कार्यक्रम बनाया है। क्योंकि ‘संगीत’ ही एक ऐसा माध्यम है जो अपने सुर और ताल के जरिए लोगों को एकसूत्र में पिरो सके। यही नहीं देश की एकता को अखण्ड बनाने के लिए ही दूरदर्शन पर प्रेरणात्मक गीतों का प्रसारण होता ही रहता है। प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता सुनीलदत्त जी कृत “आओ मिलकर चलें, हिन्द के वासियों”, “आए हैं हम दूर-दूर से सबको यह बतलाने”, “आवाज दो हम एक हैं” आदि सभी प्रेरणास्पद गीत हैं। जिनके सुर और शब्द पुकार-पुकार कर देश की एकता बनाये रखने का सन्देश दे रहे हैं। जिससे इनका प्रभाव जन-मानस पर पड़ता रहे। विगत वर्षों से साम्प्रदायिकता और स्वार्थ को लेकर हमारे देश में जो खून-खराबा, अशान्ति और उत्पात का दौर चल रहा है, उसको दूर करने के लिए ही सरकारी तन्त्र ने संगीत जैसी सार्वभौमिक भाषा का सहारा लिया है।

4. संगीत सामाजिक संगठन में सहायक—समाजशास्त्र में सामाजिक संगठन की धारणा ‘स्थिति और भूमिका के सन्तुलन’ तथा सामाजिक सम्बन्धों के समुचित विकास से सम्बन्धित है। भारतीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण करके उसे एक विशेष सामाजिक स्थिति प्रदान की गई है। सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने-अपने अधिकारों का दावा करने से समाज का संगठन नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। भारतीय संगीत में संगठित करने की अद्भुत शक्ति है। संगीत के एकछत्र राज्य में आकर जाति-पाँति, ऊँच-नीच का भेद समाप्त हो जाता है। तेरहवीं शताब्दी से लेकर आज तक भारतीय संगीत में अनेकों देशी-विदेशी गायक हो गए हैं, जिनमें अधिकांशतः मुस्लिम गायक ही हुए हैं। अपने व्यावहारिक और धार्मिक जीवन में चाहे अनेक मत-मतान्तर रहे हों, पर संगीत के क्षेत्र में वे भारतीय संगीत के सच्चे उपासक रहे हैं और अपने को भरत-परम्परा का अनुयायी मानने में गर्व का अनुभव करते हैं।

संगीत के कला-प्रवाह में धर्म तथा जाति के अवरोध भी बह जाते हैं। यह हम मुगलकाल और विशेष रूप से अकबर के शासन-काल की सांगीतिक स्थिति से भली-भाँति जान सकते हैं कि उस काल में भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के हिन्दू, ईरानी, तूरानी, कश्मीरी स्त्री और पुरुष संगीतकार विद्यमान थे, परन्तु यह भिन्नता कभी भी संगीत के विकास में रुकावट नहीं बनी। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि संगीत स्वयं एक संस्कृति है, जिसमें सामाजिक समन्वय के तत्त्व अन्य कलाओं से बहुत अधिक हैं। ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म तथा जाति का विरोध भुलाकर विजातीय गुरु अथवा उस्ताद से लोग संगीत की शिक्षा ग्रहण करते हैं। इतना ही नहीं परस्पर विवाह आदि भी हुए हैं और

होते रहे हैं। यहाँ डॉ. नजमा की पुस्तक का एक उद्धरण प्रस्तुत करने का हम लोभ संवरण न कर सकेंगे, क्योंकि उसमें संगीत एक जातीय एवं कलात्मक सरसता का प्रमुख तत्त्व प्रदर्शित किया गया है, यथा—

“Jahangir, though his love for music was not as pronounced as that of his father, continued the tradition. His memoirs and the Iqbalnama-e-Janangiri mention the names of some prominent musicians. In the eleventh year of his reign he gave the title “Anand Khan” to one Shauqi who sang Hindi and Persian songs in a manner that clears the rust from the heart.”

उक्त कथन से यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि बादशाह जहाँगीर ने गायक शौकी को “आनन्द खाँ” की उपाधि दी थी। आनन्द + खाँ, हिन्दू तथा मुस्लिम हृदय की समरसता का प्रतीक है। संगीत में एक प्रकार की सार्वभौमिकता रहती है।

हम देखते हैं कि जब कोई फनकार, कलाकार विशेषतः संगीतकार साधारण गायक या कला-साधक से ऊपर उठकर अपनी सच्ची साधना द्वारा ऊँचे धरातल पर पहुँचता है, तब-तब उसके सामने से धर्म-विभेद और साम्प्रदायिक वैमनस्य की लकीरें शनैःशनैः क्षीण होती हुई अदृश्य हो गयी हैं। अकबर काल में ही संगीत एवं कलाप्रियता के कारण ही उस समय समाज में हिन्दू-मुस्लिम कलाकारों का भेद करना कठिन था। अकबर के दरबार में दोनों सम्प्रदाय के कलाकार थे। (मियाँ) तानसेन एक मिश्र घराने के ब्राह्मण थे, जिनकी पुत्री का विवाह राजकुमार मिश्रीसिंह वीणा-वादक के साथ हुआ जो आगे चलकर नबात खाँ के नाम से प्रसिद्ध हुए। यह धार्मिक एकता का ज्वलंत प्रमाण है, जो संगीत जैसी कला द्वारा ही सम्भव हुआ।

मैहर के उस्ताद अलाउद्दीन खाँ की सुपुत्री का हिन्दू घराने के कलाकार पं. रविशंकर के साथ प्रणय-सूत्र में बँधना उच्चाशयता का एक उत्तम उदाहरण है। हमारे देश में संगीत-साधकों ने सदा से ही समाज में मानव-ऐक्य का आदर किया है। उन्होंने अपने क्रिया-कलापों द्वारा प्रमाणित कर दिखाया है कि संगीत ही मात्र ऐसी साधना है, जो समाज के मानव को मानव के समीप लाने में सक्षम हो सकती है। इस प्रसंग में आज से कई वर्षों पूर्व स्व. संगीत-सम्राट मास्टर मनहर बर्वे ने लिखा है कि—

“Music is the only art and greatest power which makes the unity of all human castes.”

यही नहीं, डागर बन्धुओं के भक्तिपरक ध्रुपद-गायन में, नोम-तोम के पूर्व संस्कृत में स्तुतिपरक श्लोकों के शुद्ध उच्चारण की अनिवार्यता क्या उन साधकों की समदृष्टि की द्योतक होती हुई आज के धर्म के नाम पर खून बहाने वालों के ज्ञान-चक्षु खोलने के लिए पर्याप्त नहीं ? ऐसे ही महान् व्यक्तियों में वर्तमान वयोवृद्ध कला-साधक, विख्यात शहनाई-वादक उस्ताद बिस्मिल्लाह खाँ का जीवन एक आदर्श है। जिनको खाँ साहब के जीवन सम्बन्धी कुछ जानकारी है, उन्हें यह स्मरण कर गर्व होगा कि कट्टर शिया-परिवार में जन्मे इस कलाकार की रग-रग में

जहाँ अपने धर्म का रक्त प्रवाहित हो रहा है, वहाँ कला-साधना का प्रारम्भ करने समय माँ-मरम्बती का आशीर्वाद अपनी साधना के लिए अनिवार्य समझकर देवी के चरणों में नत-मग्न हो, तन-मन से लीन होकर आत्मविभोर हो जाना, उनके निर्मल व्यक्तित्व का परिचायक है। अतः हम देखते हैं कि संगीत धर्म-विभेद तथा साम्प्रदायिक वैमनस्य कम करने में सहायक है।

क्योंकि भारतीय संगीत की पृष्ठभूमि में 'ओंकारतत्त्व' है। एक सच्चा गायक इसी तत्त्व को ढूँढ़ना चाहता है। वह किसी भी सभ्यता व संस्कृति में पला हो। उसे तो बस एक ही 'ब्रह्म' की धुन लगी रहती है, वह है 'नाद ब्रह्म'। 'नाद ब्रह्म' की उपासना केवल भारतीय संस्कृति में प्राप्त है। इसका उपासक केवल गायक है, न वह हिन्दू है, न मुसलमान और न ईसाई। उसका धर्म केवल गायन है। स्वरो की गहराई में डूबकर उसे भेद-अभेद का ज्ञान ही नहीं रहता। अतः संगीत सामाजिक संगठन में सहायक है।

5. संगीत राष्ट्रीय एकता में सहायक—समाजशास्त्र ने हमारे ज्ञान का विकास किया है। मानव का सम्बन्ध एक समूह तक ही सीमित न रहकर राष्ट्रीय स्तर तक होता जा रहा है। समाजशास्त्र ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी मनुष्यों की उत्पत्ति एक ही 'आदि मानव' (Homo-sapiens) द्वारा हुई है तथा इस आधार पर विभिन्न भेदभावों को छोड़कर सभी समाजों में सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार किया जाना चाहिये। यह जाति, धर्म व राष्ट्रीयता आदि के बन्धनों को छोड़कर विभिन्न मानव समूहों को एक-दूसरे के निकट लाकर मानवीय एकता को बढ़ाने हेतु आधार प्रदान करता है। यह संकीर्णता के घेरे को तोड़कर 'एक विश्व' (One World) की कल्पना का चित्र प्रस्तुत करता है।

प्राचीन काल से विभिन्नताओं को मिटाकर समाज में एकीकरण लाने के लिए संगीत को एक माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है। भिन्न भाषाओं के लोकगीत और उनको घूम-घूमकर गानेवाले साधु-सन्तों और फकीरों में पारस्परिक कोई भेदभाव नहीं था। वे अपनी माटी से जुड़े हुए और उससे जुड़ने के गीत गाते थे। बंगाल के बाउल सन्यासी, सूफी मतावलम्बी और स्थान-स्थान पर लोकगीत-गायकी के गायक इसका प्रतीक हैं जो अपने गीतों के माध्यम से न केवल इस धरती के मूल्य-मान्यताओं, संस्कृति और इतिहास की धरोहर को सँजोए रहे, अपितु व्यक्ति को व्यक्ति के सन्निकट लाए।

युद्ध क्षेत्र में संगीत शक्ति बनकर सैनिकों में ओज भरता है और वही विघटनकारी शक्तियों को चुनौती देता है तथा क्षेत्र, जाति, धर्म के आधार पर अलग पहचान बनाए रखने के कुछ लोगों के प्रयास के विपरीत व्यक्ति को राष्ट्रीय धारा में समाविष्ट करता है।

राष्ट्रीय एकता की दिशा में संगीत की भूमिका का बहुत स्पष्ट बिम्ब राष्ट्र के लिए लड़े जा रहे स्वतन्त्रता संग्राम और उसके कालान्तर देखा जा सकता है, प्रसिद्ध शायर इकबाल की यह उक्ति—

“मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना,

हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा।”

एकीकरण की भावना की परिपुष्टि करती प्रतीत होती है। गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर, सुब्रमण्य भारती, बंकिम चन्द्र चटर्जी के गान आज भी हताश मन को राष्ट्रीय समझता की ओर खींचते हैं।

इस दिशा में भारतीय फिल्मों के गीतकार एवं संगीतकार स्तुत्य हैं, जिन्होंने ऐसे गीतों की रचना की जो काल-चक्र की गति के पार मानव-मन में राष्ट्र-प्रेम का भाव संचारित करने में सक्षम हैं। 'ए मेरे वतन के लोगो' इस गीत को कौन भुला सकता है।

संगीत राष्ट्रीय एकता का कितना प्रभावी संवाहक है इस तथ्य की पुष्टि विभिन्न जाति और धर्म के उन गीतकारों एवं संगीतकारों के जीवन परिचयांकन से होती है जो धर्म और जाति की सीमा को संगीत की आराधना के आड़े कभी नहीं आने देते और तादात्म्य रखते हुए उसकी सतत् एवं अक्षुण्ण सेवा में युगों-युगों से रत हैं।

आज सम्पूर्ण देश में भाषा, क्षेत्र, वर्ग, सम्प्रदाय, जाति, धर्म आदि को लेकर अलगाव की विभीषिका धधक रही है। ऐसे में भारत-सरकार द्वारा आकाशवाणी तथा दूरदर्शन केन्द्रों से राष्ट्रीय एकता एवं देश-प्रेम के गीतों का प्रसारण, एन. सी. ई. आर. टी. द्वारा देश-भक्ति के गीतों का प्रशिक्षण, संगीत-नाटक अकादमियों द्वारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के नाम पर संगीत-नृत्य-नाटकों का आयोजन, मानव-संसाधन मन्त्रालय द्वारा सांस्कृतिक केन्द्रों की स्थापना कर भारतीय संस्कृति एवं कलाओं को संरक्षण प्रदान करने का प्रयत्न करना, विदेशों में लोकोत्सव आयोजित कर भारतीय कला-कौशल का गौरव स्थापित करना राष्ट्रीय एकता के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों के सूत्रधार कहे जा सकते हैं। इन प्रयत्नों में संगीत का योगदान सर्वोपरि माना गया है।